कालिदास
प्रणीत

रघुवंश महाकाव्य

भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़

D-197

THE NORTH INDIAN HINDU ASSOCIATION BHARATIYA BHAWAN
भारतीय भवन
TEL No. 29
47, CUFF ROAD, SINGAPORE 0820

INFORMATION SERVICE OF INDIA
421
SINGAPORE

© : प्रकाशाकाधीन १९७३

प्रकाशक : भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ २००२०१

प्रथमावृत्ति : संवत् २०३० वि० (१९७३ ई०)

मूल्य : रु० २८-००

मुद्रक : आदर्श प्रेस, अलीगढ़।

D-197
No. 421

अनुक्रमणिका

THE NORTH INDIAN HINDU ASSOCIATION BHARATIYA BHAWAN
47, CUFF ROAD, SINGAPORE 0820
TEL No. 2935683
सर भारतीय हिन्दू सभा
भारतीय-भवन
हिन्दी-पुस्तकालय

विषय	पृष्ठ संख्या
१—वन्दना	
२—समर्पण	
३—भूमिका पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी	१
४— ,, राजा लक्ष्मणसिंह	११
५—श्री हरदयालुसिंह का परिचय	१३
६—आत्म-निवेदन	१५
७—ब्रजभाषा अखरौटी के अन्तर्गत संशोधन कार्य-विवरण-सार	१६
८—ब्रजभाषा अखरौटी माला	१८

प्रथम सर्ग १—१९

१—कवि-आत्मनिवेदन एवं रघुवंश-महिमा-वर्णन। २—सूर्य वंश के मनु प्रसंग के संदर्भ में महाराजा दिलीप-यशोगान। ३—महारानी सुदक्षिणा सहित महाराजा दिलीप का पुत्र-कामनार्थ महर्षि कुलगुरु वशिष्ठ के आश्रम में जाने का वर्णन। ४—महर्षि वशिष्ठाश्रम का दिग्दर्शन। ५—समहिषी दिलीप का कुलगुरु वशिष्ठ से मिलना, पुत्र-कामनार्थ प्रार्थना करना, महर्षि वशिष्ठ का कामधेनु नंदिनी की सेवा करने की विधि बतलाते हुए सन्तान प्राप्ति का आश्वासन एवं आशिष देना।

द्वितीय सर्ग २०—४४

१—वशिष्ठाश्रम में रहते हुए महाराजा दिलीप का कामधेनु-नंदिनी-चारण एवं सुदक्षिणा का उसकी सेवा करना। २—सिंह-दिलीप संवाद, नंदिनी-दिलीप संवाद और दिलीप को वरदान। ३—महर्षि वशिष्ठ के आदेश पर दिलीप का नंदिनी-दुग्धपान करना, व्रत-पारणोपरान्त हवन-अग्नि, गुरु वशिष्ठ-गुरुपत्नी अरुंधती एवं सवत्स कामधेनु नंदिनी की प्रदक्षिणा करके आशीर्वाद प्राप्त करते अयोध्या नगरी में प्रवेश एवं सुदक्षिणा-गर्भ-धारण वर्णन।

तृतीय सर्ग ४५—६८

१—रघु-जन्म एवं शिक्षणादि वर्णन। २—यज्ञाश्वहरण एवं रघु-इन्द्र युद्धादि वर्णन।

चतुर्थ सर्ग ६९—९१

१—महाराजा रघु-गुण-गरिमा वर्णन। २—महाराजा रघु-दिग्विजय वर्णन। ३—'विश्वजित' यज्ञ-वर्णन।

पंचम सर्ग ९२—११७

१—रघु का कौत्स को धनदान-वर्णन। २—प्रियंवद-मोक्ष-वर्णन। ३—कुमार अज का विदर्भ-गमन-वर्णन।

षष्ठ सर्ग ११८—१४६

१—इन्दुमती स्वयंवर

विषय पृष्ठ-संख्या

सप्तम सर्ग १४७—१६४

१—अजेन्दुमती-परिणय। २—युद्ध।

अष्टम सर्ग १६५—१८६

१—अज-विलाप

नवम सर्ग १८७—२०३

१—महाराजा दशरथ राज एवं वसंतागम वर्णन। २—वसंत वर्णन एवं मृगया-हित चक्रवर्ती दशरथ-इच्छा वर्णन। ३—मृगया करते हुए महाराजा दशरथ का तमसा नदी के तट के तपोवन प्रवेश का वर्णन। ४—श्रवणकुमार बध एवं अंधकमुनि द्वारा चक्रवर्ती दशरथ को शाप देने का वर्णन।

दशम सर्ग २०४—२२१

१—निःसंतान महाराजा दशरथ के दीर्घकालिक राज्य-शासन का वर्णन। २—महाराजा दशरथ द्वारा पुत्रेष्ठि यज्ञारंभ एवं रावण-त्रस्त देवताओं का भगवान् विष्णु के पास क्षीरसागर जाने का वर्णन। ३—देवताओं द्वारा भगवान् विष्णु-स्तुति और रावण अत्याचार वर्णन, भगवान् विष्णु द्वारा देवताओं को आश्वस्त करते हुए महाराजा दशरथ गृह-अंशों समेत जन्म लेकर रावण-वध करने का वर्णन, देवताओं का निजलोक जाना, महाराजा दशरथ की यज्ञ का समापन होने पर दिव्य पुरुष द्वारा हवि-युक्त स्वर्ण-थाल लिये प्रकट होने का वर्णन। ४—महाराजा दशरथ द्वारा हवि का पटरानियों को देना, पुत्र-जन्म, नामकरणादि संस्कारों का वर्णन एवं बाल-लीलादि का वर्णन। ५—राजकुमार रामादि के गुण-शील एवं महाराजा दशरथ सौभाग्य-वर्णन।

एकादश सर्ग २२२—२४५

१—महर्षि विश्वामित्र-यज्ञ-रक्षण-हित राम-लक्ष्मण का पिता-आज्ञा से आश्रम-गमन एवं मार्ग में ताड़का-वध-वर्णन एवं विश्वामित्र-द्वारा राम को नैऋतघ्न अस्त्र देने का वर्णन। २—वामनाश्रम में होते हुए महर्षि विश्वामित्र के आश्रम में पहुँचने पर राम द्वारा यज्ञ-विघ्नकारी मारीच के पतन एवं सुबाहु-वध, यज्ञ-समापन-वर्णन। ३—जनकपुर से राजर्षि जनक के निमंत्रण पर राम-लक्ष्मण का धनुर्यज्ञ, अवलोकनार्थ महर्षि विश्वामित्र के साथ जाते हुए मार्ग में गौतम-ऋषि-पत्नी-अहिल्योद्धार-वर्णन। ४—जनकपुर के समीप पहुँचने पर राजर्षि जनक-द्वारा स-सम्मान महर्षि विश्वामित्र एवं कुमार राम-लक्ष्मण को यज्ञ-स्थल में लाने, धनुर्भंग, राम-विवाह, परशुराम-राम संवाद, कुमार-बधुओं सहित महाराजा दशरथ का अवध-प्रवेश-वर्णन।

द्वादश सर्ग २४६—२६७

१—राम-वनवास, दशरथ स्वर्गवास। २—राम-भरत-चित्रकूट मिलन, रामचरण पादुका को सिंहासनासीन कर भरत का नन्दिग्राम में तप-लीन होने का वर्णन। ३—जयंत-प्रसंग, चित्रकूट से दक्षिण-पयान-पथ में राम-द्वारा विराध-वध एवं पंचवटी-निवास वर्णन। ४—शूर्पणखा-प्रसंग, राम द्वारा खर, दूषण, त्रिशरादि-वध वर्णन। ५—राम द्वारा कवंध-वध, राम-सुग्रीव-मैत्री, बालि-वध, हनुमान-लंका प्रवेश, अक्षय-वध, लंका-दहन, राम को सीता-संदेश मिलना, लंका-पयान वर्णन।

D-197

विषय पृष्ठ-संख्या

६—राम-विभीषण-मिलन, सेतु-बंध, लंका-चढ़ाई, राम-नागपाश-बंधन, लक्ष्मण-शक्ति-मोहन, मेघनाद-कुंभकर्ण, रावण-वध, रामविजय पर देवों द्वारा पुष्प वृष्टि आदि वर्णन। ७—सीता-अग्नि परीक्षा, विभीषण को लंकेश पद प्राप्ति, सुग्रीव-विभीषण को साथ लेते हुए पुष्पक यान द्वारा लक्ष्मण, सीता, राम का अवध को प्रस्थान वर्णन।

त्रयोदश सर्ग २६८—२८८

१—लंका-विजयोपरान्त पुष्पकयान द्वारा अयोध्या प्रत्यागमन पर, राम का सीता से, सेतुबंध सागर, सागर तटीय दृश्यों का वर्णन। २—पुष्पकयान से यात्रा करते हुए राम का सीता से आकाशीय-दृश्य वर्णन। ३—पुष्पकयान यात्रा में राम का सीता से दण्डकारण्य, पंचाप्सरादि दृश्यों का वर्णन करते हुए, भरत का ससैन्य और पौर-जनों समेत स्वागतार्थ आनेवालों की चर्चा करते हुए तत्कालीन दृश्य का वर्णन। ४—अयोध्या के निकट पुष्पकयान के उतरते ही राम-भरतादि मिलन दृश्य वर्णन। ५—सब का परस्पर मिलनोपरान्त अयोध्या-समीपस्थ सुसज्जित उपवन शिविर में सब का विश्राम वर्णन।

चतुर्दश सर्ग २८९—३११

१—राम-परिवार-मिलन एवं राज्याभिषेकादि-वर्णन। २—राम-सीता-प्रेमालाप। ३—राम का अनिच्छापूर्वक लक्ष्मण द्वारा सीता को परित्याग-रूप में महर्षि बाल्मीकि आश्रम के निकट भेज आने की आज्ञा देने का वर्णन। ४—लक्ष्मण का महर्षि बाल्मीकि आश्रम निकट छोड़ते समय का सीता-लक्ष्मण संवाद वर्णन। ५—लक्ष्मणगमनोपरान्त सीता-विलाप सुन महर्षि बाल्मीकि का उन्हें सान्त्वना देते हुए आश्रम में लाना और सीता के तप-लीन होने का वर्णन। ६—लक्ष्मण द्वारा सीता संदेश सुनकर राम का विरह जन्य शोक दबाकर पूर्ववत् राज काज चलाते रहने का वर्णन।

पंचदश सर्ग ३१२—३३३

१—राम राज्य प्रसंग, शत्रुघ्न द्वारा लवण-वधादि, लव-कुश-जन्म-संस्कार शिक्षणादि वर्णन। २—राम द्वारा शंबूक-वध, रामाश्वमेधारंभ वर्णन। ३—यज्ञान्तर्गत महर्षि वाल्मीकि द्वारा राम को लव-कुश-परिचय देना, सीता का यज्ञ स्थल में आना और अपने निर्मल-चरित्र की परीक्षा स्वरूप पाताल-लोकान्तर्धान होना, यज्ञ-समापन। ४—राम द्वारा सारा राज्य अपने अनुज पुत्रों एवं अपने पुत्रों में विभाजित करना और अंशों सहित स्वर्गारोहण।

षोडश सर्ग ३३४—३५२

१—राम-अनुज-पुत्रों के पारस्परिक व्यवहार का वर्णन। २—अयोध्या अधिष्ठात्री देवी के आह्वान पर महाराजा कुश का सूनी अयोध्या का पुनरोद्धार करने और निवास करने का निर्णय। ३—महाराजा कुश का कुशावती को ब्राह्मणों को सौंप कर स-सैन्य एवं परिवार अयोध्या आना। ४—महाराजा कुश द्वारा अयोध्या का जीर्णोद्धार, पूजन, प्रवेश और निवास। ५—ग्रीष्म ऋतु वर्णन। ६—जल-विहार और महाराजा कुश के "जैत्राभरण" का जल में गिरने का वर्णन। ७—महाराजा कुश-कुमुद्वती-परिणय।

विषय पृष्ठ-संख्या

सप्तदश सर्ग ३५३—३६८

१—कुश को पुत्र 'अतिथि' की प्राप्ति एवं उसकी शिक्षा-दीक्षादि संस्कारों का वर्णन। २—महाराजा कुश का इन्द्रदेव की सहायतार्थ जाना, 'दुर्जय' राक्षस का संहारना और स्वतः उसके द्वारा स्वर्गगामी होना, महारानी कुमुद्वती का सहचरी रूप में सहगामिनी हो स्वर्गीय पति को प्राप्त करना, युद्ध में जाते समय मंत्रियों को दिये गये आदेशानुसार 'अतिथि' को उनके द्वारा विधिवत् अभिषेक संस्कारों के साथ राजगद्दी पर बैठाने आदि का वर्णन। ३—सिंहासनासीन महाराजा 'अतिथि' के व्यक्तित्व, शौर्य, शील, राजनीतिक कौशल, राज्य-वैभव, अश्वमेध यज्ञादि का विशद वर्णन।

अष्टादश सर्ग ३६९—३८२

वंशानुक्रमान्तर्गत

१—अतिथि-पुत्र तथा कुश पौत्र १. महाराजा 'निषध' से लेकर, २. महाराजा नल, ३. नभ, ४. पुण्डरीक, ५. क्षेमधन्वा, ६. देवानीक, ७. अहीनगु, ८. पारियात्र, ९. शिल, १०. उन्नाभ, ११. वज्रणाभ, १२. शंखण, १३. व्युषिताश्व, १४. विश्वसह, १५. हिरण्यनाभ, १६. कोसल्य, १७. ब्रह्मिष्ठ, १८. पुत्र, १९. पुष्य और २०. ध्रुवसन्धि के शासनकाल एवं इनको प्रियदर्शन 'सुदर्शन' पुत्र-प्राप्ति पर्यन्त वर्णन।

२—वंशानुक्रमान्तर्गत २०वीं पीढ़ी के पश्चात् २१वीं पीढ़ी में महाराजा प्रियदर्शन 'सुदर्शन' के छः वर्षीय बाल्यकाल में ही पिता 'ध्रुवसंधि' के स्वर्गारोहण होने के कारण अमात्यों के सर्वसम्मत से सिंहासनारूढ़ होने से लेकर उनके पाणिग्रहण-संस्कार पर्यन्त सविस्तार वर्णन।

ऊनविंशति सर्ग ३८३—३९८

शृंगाररसान्तर्गत

महाराजा 'अग्निवर्ण'-जीवन-प्रवाह वर्णन

१—महाराजा 'सुदर्शन' द्वारा अपने पुत्र 'अग्निवर्ण' के राज्याभिषेक के पश्चात् नैमिषारण्य में तपलीन होने का वर्णन। २—प्रतापी पिता सुदर्शन द्वारा निष्कंटक राज्याधिकार पाने के फल-स्वरूप महाराजा 'अग्निवर्ण' का विलासिता की ओर पदार्पण-वर्णन। ३—प्रजा-पालन की उपेक्षा करते हुए 'अग्निवर्ण' का उत्तरोत्तर विलासिता-मग्न होते जाने का वर्णन। ४—शृंगाररसान्तर्गत—महाराजा 'अग्निवर्ण' की 'संगीत-कला-कुशलता', नायक-नायिका-भेद के अन्तर्गत महाराजा 'अग्निवर्ण' के विविध क्रिया-कलापों और षड्ऋतु-विलास-वर्णन। ५—अहर्निश अत्यधिक विलास-वासनामय रतिराग-लीनता के कारण महाराजा 'अग्निवर्ण' का राजयक्ष्मा-रोग का शिकार होकर स्वर्गवासी होने तथा राजमंत्रियों द्वारा प्रधान नागरिकों की सभा-सम्मति से महाराजा 'अग्निवर्ण' की गर्भवती पटरानी (धर्मपत्नी) में शुभ गर्भ (सुपुत्र) के लक्षण लखकर उन्हें राजलक्ष्मी का अधिकारी बनाने और उनके द्वारा व्यवस्थित राज-काज-संचालन का वर्णन।

* * * *

D-197

THE NORTH INDIAN HINDU ASSOCIATION BHARATIYA BHAWAN
उत्तर भारतीय हिन्दू सभा
भारतीय-भवन
हिन्दी-पुस्तकालय
TEL No. 293[illegible]683
47, CUFF ROAD, SINGAPORE 0820

वन्दना

जो अभिषेक की बात सुनी,
तौ प्रसन्नता नेकु परी न दिखाई।
औ' बनवास की आयसु पै,
नहिं रेख कछू दुख की तहँ आई।
जो दुख मैं न मलीन भई,
सुख मैं नहिं जो कछु हू हरषाई।
सो मुख - श्री रघुनन्दन की,
सुभ होउ हमैं नित मंगलदाई॥

—'श्रीवर'

काव्य-महत्व

रहत न घर - बर, धाम - धन, तरु - बर, सर - बर - कूप।
जस - सरीर जग मैं अमर, भव्य - काव्य रस - रूप॥

—महाकवि देव

समर्पण-पत्र

श्रद्धेय श्रीमान् पं० श्रीनारायण जी चतुर्वेदी 'श्रीवर' के कर-कमलों में

सादर समर्पित

आदरत ज्ञानिन औ' मान देत पंडितन,
राजै राजहंस ब्रजभाषा - मानसर मैं।
काव्य-कुंज - कलित - कलीनि - रस चाखिबे मैं,
देखी चतुराई या सुघर मधुकर मैं।
कोबिद - कवीन के कलप - तरु "श्रीवर" कौं,
हेरि भोज - विक्रम की होति हिय-भरमैं।
राखियै कृपा की कोर कीजियै सनाथ हमैं,
सौंपौ "रघुबंसहिं" तिहारे कंज - कर मैं ॥

—"श्री हरिनाथ"

D-197

भूमिका

स्वर्गीय श्री हरदयालुसिंह, सीतापुर जिले के महमूदाबाद नामक कस्बे के निवासी थे। वे नाम से ठाकुर, जन्म से वैश्य, और कर्म से ब्राह्मण थे। वैश्य होते हुए भी उनसे व्यापार नहीं हुआ और पूर्व जन्म के किन्हीं संस्कारों के कारण वे हिन्दी और संस्कृत साहित्य में रुचि लेने लगे। उन्होंने विधिवत संस्कृत का अध्ययन किया। ब्रजभाषा काव्य में उन्हें विशेष रुचि थी। उन्होंने उसका गहन अध्ययन किया। उससे वे इतने प्रभावित थे कि वर्षों वे मथुरा और आगरा में रहे। सन् १९३६-३७ के लगभग वे मेरे सम्पर्क में आये। उस समय वे बेकार थे।

उस समय उन्होंने मुझे अपने 'दैत्य वंश' काव्य के कुछ अंश सुनाये। मैं उनसे इतना प्रभावित हुआ कि मैंने इंडियन प्रेस के स्वामी श्री हरिकेशव घोष से कहकर उसे प्रकाशित करवा दिया। वह काव्य इतना उत्कृष्ट है कि उसे 'देव पुरस्कार' मिला। बाद में मैंने उन्हें इण्डियन प्रेस में साहित्य सहायक के पद पर नियुक्त करा दिया। इस पद पर वे पाँच वर्ष रहे। वहाँ उन्होंने मतिराम, भूषण आदि कई ब्रजभाषा के कवियों पर कई महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं जो इण्डियन प्रेस से प्रकाशित हुईं।

वे बहुत दिनों से रघुवंश का अनुवाद करना चाहते थे। उन्होंने दस-बीस श्लोकों का अनुवाद किया भी था। उन्हें सुनकर मैंने उनसे पूरे रघुवंश का अनुवाद करने का आग्रह किया। किन्तु इण्डियन प्रेस में रहकर उनके लिए उसका अनुवाद करना संभव न था, क्योंकि वहाँ उन्हें काफी काम करना पड़ता था। मैंने सन् १९३० में झूँसी (इलाहाबाद) में प्राइमरी और वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूलों के अध्यापकों को प्रशिक्षित करने के लिए एक ट्रेनिंग स्कूल स्थापित किया था। मैंने उन्हें उसमें हिन्दी-अध्यापक नियुक्त कर दिया। वहाँ अपेक्षाकृत कम काम था। केवल एक कक्षा के विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ानी पड़ती थी। मैंने उनसे कहा कि वहाँ रह कर के रघुवंश का अनुवाद कर डालें। वे तो ऐसा ही अवसर चाहते थे। अतएव उन्होंने बड़ी लगन से अनुवाद का कार्य आरम्भ किया और सं० २००१ के होली के दिन उसे समाप्त करके एक बड़ी मोटी कापी में उसे लिखकर उस अनुवाद को मुझे समर्पित करते हुए सौंप दिया।

मैं तबसे उसके प्रकाशन का प्रयत्न करता रहा। मुझे सेवा के सिलसिले में आगरा, मेरठ लखनऊ, दिल्ली और बाद में चार वर्ष के लिए मध्य भारत जाना पड़ा। इसी बीच इण्डियन प्रेस के स्वामी मेरे मित्र श्री हरिकेशव घोष का स्वर्गवास हो गया था। जब मैं लौटकर उत्तर प्रदेश में सेवामुक्त होकर आया तब अनेक व्यक्तिगत समस्याओं में उलझा रहा। प्रकाशकों से मेरा सम्पर्क भी नहीं था। मैं इस अनुवाद के प्रकाशन की चेष्टा करता रहा किन्तु सफलता नहीं मिली। इस बीच प्रकाशन केन्द्र उत्तर प्रदेश से हटकर दिल्ली पहुँच गया। दिल्ली के प्रकाशक अधिकतर पंजाबी हैं। वे आधुनिक पुस्तकें छापना पसन्द करते हैं। वहाँ के एक प्रकाशक ने उसे छापना स्वीकार करके पांडुलिपि को दो वर्ष अपने पास रखा और फिर उसे वापस कर दिया। एक दूसरे प्रकाशक ने मुझसे स्पष्ट रूप से कह दिया कि हम ब्रजभाषा की पुस्तकें प्रकाशित नहीं करते।

पंजाबी प्रकाशकों की ब्रजभाषा से विरक्ति का ज्ञान मुझे तभी हुआ। तब मैंने विचार किया कि शायद कोई साहित्यिक संस्था इसे प्रकाशित करदे। मैंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन से उसे प्रकाशित करने के लिए कहा। तत्कालीन अधिकारियों ने इसे प्रकाशित करना स्वीकार भी कर लिया और पाण्डुलिपि भी ले ली। किन्तु इसी बीच सम्मेलन पर एक दल विशेष का आधिपत्य हो गया। दुर्भाग्य से उस दल से मेरे सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। उस दल ने एक प्रकाशन परामर्शदात्री समिति बनायी जिसने उस पर विचार किया। उसने विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के किसी प्राध्यापक से अनुवाद के बारे में सम्मति माँगी। प्राध्यापक महोदय ने कहा कि अनुवाद ठीक नहीं है। समिति में जब मामला आया तो उसके हिन्दी के एक डाक्टर-प्रौफेसर सदस्य ने अनुवाद को त्रुटिपूर्ण बताया। अतएव सम्मेलन ने भी उसे प्रकाशित करना अस्वीकार कर दिया। उसकी निगाह में हरदयालुसिंह का अनुवाद इतना असन्तोषजनक है और राजा लक्ष्मण सिंह का गद्यानुवाद इतना महत्वपूर्ण नहीं है कि सम्मेलन उनको प्रकाशित करे। शायद हरदयालु सिंह जी ने इसका आरम्भ किसी अशुभ महूर्त में किया था। इसी कारण इसके प्रकाशन में इतनी बाधाएँ आती रहीं। मेरे लिए यह बड़ी प्रसन्नता का अवसर है कि अलीगढ़ के भारत प्रकाशन मन्दिर ने इसे प्रकाशित करना स्वीकार कर लिया है। यह उचित ही हुआ कि रघुवंश का यह ब्रजभाषा का अनुवाद ब्रजभाषी क्षेत्र के एक प्रतिष्ठित प्रकाशक द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। मुझे यह देखकर प्रसन्नता है कि आगरा, मथुरा, मेरठ, अलीगढ़ में कुछ अच्छे और कल्पनाशील प्रकाशक उत्पन्न हो गए हैं। प्रयाग और काशी के प्रकाशक या तो पंजाबी हैं या उनसे प्रभावित हैं। अतएव उनसे ब्रजभाषा की पुस्तकों के प्रकाशन की कम ही आशा है। रघुवंश के इस अनुवाद की साहित्य जगत में काफी चर्चा है क्योंकि मैंने उसे अनेक मनीषियों को दिखाया और सुनाया। स्व० जस्टिस ब्रजकिशोर चतुर्वेदी, (म० प्र०), पं० सूर्यनारायण व्यास, श्री कालिका प्रसाद कुसुमाकर, पं० बनारसी दास चतुर्वेदी आदि ने उसके बहुत से अंश सुनकर उनकी बड़ी प्रसंसा की। कई ने श्री हरदयालु सिंह पर लेख भी लिखे। मुझसे बीसों साहित्य प्रेमी मित्रों ने बार-बार इसे शीघ्र छपवाने का आग्रह किया। किन्तु मेरी विवशता के कारण यह अब तक प्रकाशित न हो सका।

राजा लक्ष्मणसिंह जी ने रघुवंश का गद्यानुवाद किया था। वह सन् १८७८ में छपा था, किन्तु अब अप्राप्य है। बहुत लोगों को यह बात मालूम भी नहीं है कि राजा साहब ने रघुवंश का गद्यानुवाद किया था। उस अनुवाद का ऐतिहासिक महत्व है। मैं चाहता था कि हरदयालु सिंह जी के इस पद्यानुवाद के साथ उनका वह दुर्लभ गद्यानुवाद भी छप जाय। मुझे प्रसन्नता है कि भारत प्रकाशन मन्दिर ने मेरा यह सुझाव मान लिया। संयोग से वह दुर्लभ पुस्तक मेरे संग्रह में थी और इसलिए उसे छापने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

अनुवादक हरदयालु सिंह

हरदयालुसिंहजी में अनुवाद की जैसी प्रतिभा थी वैसी मैंने और किसी व्यक्ति में नहीं देखी। अनुवाद के सम्बन्ध में एक अँग्रेजी विद्वान ने कहा है, we translate ideas not words अर्थात् अनुवाद में हम भावों को उतारते हैं, शब्दों का अनुवाद नहीं करते। अनुवाद ऐसा होना चाहिए कि वह

D-197

जिस भाषा में किया गया है, उसमें 'मूल' मालूम पड़े—अर्थात् वह उस भाषा की प्रकृति के अनुसार हो, उसमें मूल भाषा की गंध न मालूम पड़े। हरदयालुसिंह जी के अनुवादों में यही विशेषता है कि उन्हें पढ़ते समय यह आभास नहीं होता कि हम अनुवाद पढ़ रहे हैं। उनके अनुवाद मूल का आनन्द देते हैं। उनकी दूसरी विशेषता यह थी कि उन्हें अनुवाद करने में प्रयास नहीं करना पड़ता था। आशु कवि की तरह वे बहुत शीघ्र अनुवाद कर देते थे। मैंने एक बार महरौली (दिल्ली) के लौह स्तम्भ पर एक लेख लिखा था। उस पर संस्कृत में तीन श्लोक खुदे हैं। मैंने उनको उस लेख में उद्धृत किया और उसका गद्यानुवाद दे दिया। जब मैं लेख प्रायः समाप्त कर रहा था, हरदयालु सिंह जी आ गये, उन्हें देख कर मैंने सोचा कि यदि इन श्लोकों का पद्यानुवाद भी दे दिया जाय तो बड़ा अच्छा हो। मैंने उन उनसे तीन श्लोकों का अनुवाद करने को कहा, उन्होंने वहीं बैठकर प्रायः २५-३० मिनट में उनका अनुवाद करके मुझे दे दिया। वे श्लोक और उनका अनुवाद देखिए—

यस्योद्वर्तयतः प्रतीप मुरसा शत्रून् समेत्यागतान्
वंगेष्वाहववर्तिनोभिलिखिता खंगेन कीर्तिर्भुजे।
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिता वाल्हिका,
यस्यायाप्यधिवास्यते जलनिधिः वीर्यानिलैर्दक्षिणः॥
खिन्नस्येव विसृज्प गां नरपतेर्गामाश्रिततस्ये तरां
मूर्त्या कर्म्म जितावनी गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ।
शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्ना-
द्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोः यत्नस्य शेषः क्षितिम्॥
प्राप्तेन स्वभुजर्जितं च सुचिरं चैकाध्यराज्यं क्षितौ,
चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशीम् वक्तृश्रियं प्रियं विभ्रता।
ते नायं प्रणिधाय भूमि पतिना भावेन विष्णौभतिम्,
प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः॥

इन श्लोकों का हरदयालसिंह जी का अनुवाद—

घेरन को सहसा समुहाये, अरातिन वृन्दन दीन्ह्यौं पछारी,
बंग के संगर में जेहिकी भुज पै कल कीर्ति लिखी तरवारी।
सिन्धु की सातहू धारन पारिकै दीन्ह्यौं बल्हीकन कौ मद झारी,
आज लौं जासु बलानिल सों है सुवासित दच्छिन सिन्धु कौ बारी।

या महिमंडल कौं तजिकैं सुरधाम में बास कियौ नर राई,
बैरिन वृन्दन कीन्ह्यौं बिनास, रह्यौ जगतीतल में जस छाई।
जासु प्रताप महावन सान्त-हुतासन सौं बढ़ि कैं चहुँधाई,
आज लौं छापि रह्यौ छिति कौं, कतहू नहिं जात है ताहि बिहाई।

भूमि पैं बाहुन के बल सौं चिरकाल लौ राज अखंडित पायौ,
चन्द्र महीप कौ आनन चन्द्र सौ मंजु मयंक-प्रभा कौं लजायौ।
विष्णु के यौं पद-पंकज में निज भाव भरौ अनुराग दृढ़ायौ,
विष्णुपदारव्य महीधर मैं, तिन विष्णु कौ तुंग धुजा रुपवायौ।

वेणीसंहार नाटक के आरम्भ में एक श्लोक है—

कालिन्द्याः पुलिनेषु केलि कुपितामुत्सृज्य रासेरसं।
गच्छन्ती मनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम्॥
तत्पाद प्रतिमानिवेशितिपदस्योद्भूतरोमोद्गते—
रक्ष्मुण्णोऽनुनयः प्रसन्नदयिता दृष्टेस्य पुष्णातु वः।

हरदयालसिंह जी ने उसका अनुवाद किया—

कूल-कलिन्दजा सों रस रास में, रूसि कैं राधा चलीं अनखाइ कैं॥
वारि विमोचत लोचन सों, तजि रास कों, पाछे चले हरि धाय कैं॥
दीन्हें प्रियापद-अंक पै पाँय, चढ़ी तन मैं पुलकावलि छायकैं।
हेरनि तीकी, बिनै पिय की, सो सजैं नित रावरे मंगल आयकैं॥

अनुवाद की भाषा तो टकसाली है ही, साथ में यह छन्द इतना सुन्दर बना है कि अनुवाद मालूम ही नहीं होता। इसमें मूल का आनन्द आता है। यदि यह न बताया जाय कि यह अनुवाद है तो भी रसज्ञ पाठक इसे स्वतंत्र छन्द समझ कर उससे आनन्द लेंगे।

मेरी भाँजी का विवाह था। हम लोगों में विवाह के बाद दोनों पक्षों के पंडित अपने यजमानों की ओर से दूसरे पक्ष की 'विनती' करते हैं, 'विनती' के श्लोक रूढ़ हो गये हैं, उनमें एक श्लोक है :—

मणिना वलयं वलयेन मणिर्मणिना वलयेन विभाति करः
शशिना च निशा निशयाच शशी शशिया निशयाच विभाति नभः
पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः
कविना च विभुर्विभुता च कविः कविना विभुना च विभाति सभा।

अब दुर्भाग्य से संस्कृत का पठन-पाठन ब्राह्मणों में प्रायः समाप्त हो गया है और यद्यपि पुरोहित इसका पंडिताऊ अर्थ समझाने का प्रयत्न करते हैं तथापि उपस्थित बाबू क्लास में ब्राह्मण बराती या घराती इस समय पढ़े जाने वाले श्लोकों का अर्थ ठीक तरह से समझ नहीं पाते और उनका आनन्द नहीं ले सकते। संस्कृत श्लोकों का पाठ मैं बन्द नहीं करना चाहता था, क्योंकि कम से कम ब्राह्मणों के संस्कारों के अवसरों पर देववाणी कान में पड़नी ही चाहिए, किन्तु साथ ही यह भी चाहता था कि उपस्थित लोगों को इस श्लोक के अर्थ भी ठीक-ठीक समझ में आ जाये। मैंने हरदयालसिंह जी से अपनी इच्छा कही, उन्होंने इस श्लोक के भाव को लेकर अवसर के उपयुक्त एक छन्द बना दिया जो मैंने उन्हीं से पढ़वाया—

विधु सों ज्यों विभाति विभावरी आपु, मृनाल सों ज्यों छबि कंज की होत है।
अलिवृन्दन सों अरविन्दन की, मकरन्द-सुवासित नीर ज्यौं होत है ।।
कमलाकर सोहत पंकज सों, सर सोभा मरालन सों जिमि होत है।
तिमि आपके आज पधारें इहाँ, विभुता या हमारे समाज की होत है ।।

यह अनुवाद नहीं है, किन्तु उन्होंने मूल के भाव कौ लेकर उस श्लोक को अवसरोचित बना दिया। अन्तिम पंक्ति इस बात की साक्षी है।

हरदयालुसिंह जी ने संस्कृत काव्यों और नाटकों का गहरा अध्ययन किया था। उन्हें सैकड़ों श्लोक कंठस्थ थे। उनके मौलिक काव्यों में जैसे 'दैत्य वंश' में संस्कृत के श्लोकों के भाव, उपमायें आदि अनायास और अनजाने ही आ जाती थीं।

उन्होंने संस्कृत के अनेक नाटकों के अनुवाद किये थे। उन्होंने नैषध का भी अनुवाद आरम्भ किया था और कई सर्गों का अनुवाद मुझे सुनाया था। वह अनुवाद भी बहुत उच्चकोटि का था।

रघुवंश

ब्रजभाषा में अनुवाद के रूप में राजा लक्ष्मणसिंह सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अभिज्ञान शाकुन्तल और मेघदूत के जो अनुवाद किये हैं उन्होंने कई पीढ़ियों के काव्य प्रेमियों को तृप्त किया और आज भी उनका महत्व और उपयोगिता कम नहीं हुई। उनके बाद राय देवीप्रसाद पूर्ण का मेघदूत का अनुवाद 'धाराधर धावन' उल्लेखनीय है जो बड़ा उत्कृष्ट अनुवाद है। तीसरे उल्लेखनीय अनुवादक सत्यनारायण कविरत्न थे। अनुवादक के रूप में हरदयालुसिंह इनके समकक्ष रखे जा सकते हैं। गुण में वे इन महानुभावों से कम नहीं और उनके अनुवादों का परिमाण इन सबसे अधिक है। यहाँ हम उनके अन्य अनुवादों की चर्चा न करके केवल रघुवंश के अनुवाद का परिचय देंगे। उनके अनुवाद में जिन दो बातों ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया वह है उनकी टकसाली ब्रजभाषा और मूल के भावों की आत्मा को अनुवाद में उतारने की क्षमता। अनुवाद में कहीं-कहीं भाव के साथ भाषा का सौन्दर्य अद्भुत रूप से निखर आता है। उदाहरण के लिए उस श्लोक का अनुवाद लीजिये, जो माया के सिंह ने दिलीप से उस समय कहा था जब उन्होंने सिंह से प्रार्थना की थी कि मेरी रक्षिता नन्दिनी गऊ को छोड़ दो और अपनी भूख बुझाने के लिये मुझे खा जाओ। सिंह ने उत्तर में कहा—

एकातपत्रं जगत प्रभुत्वं नवंवयः कान्तिमिदं वपुश्च
अल्पस्यहेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचारमूढ प्रतिभासिमेत्वम्।

इसका कितना सुन्दर अनुवाद उन्होंने किया—

एक ही छत्र अखंड-धरा-प्रभुता लही औ जनता अनुरागत।
कान्त कलेवर पायौ भलौ जेहि में नव जोबन जोति हू आगत ।।
तुच्छ गऊ कें लएँ नरपाल! इते बड़े वैभव कों तुम त्यागत।
साँची कहों यहितें तुम मोहि विचार सों मूढ़ कछू-कछू लागत ।।

अनुवाद में मूल के भाव को कुछ विस्तार दे दिया गया है जो श्लोक के भाव को बिल्कुल स्पष्ट कर देता है। साथ ही 'कान्तकलेवर' 'नव जोवन जोतिहू जागत' में अनायास स्वाभाविक अनुप्रास के आ जाने से कविता का सौन्दर्य बढ़ गया है। 'तुच्छ गऊ के लएँ नरपाल ! इते बड़े वैभव को तुम त्यागत।' में अल्पस्यहेतोर्वहुहातिमिच्छन् का भाव खोलकर पाठक के लिए बड़ी सरस भाषा में स्पष्ट रख दिया गया है।

आरम्भ ही के श्लोक लीजिए। इनमें भी अनुवादक ने मूल भावों की रक्षा करते हुए अपने छन्दों में ब्रजभाषा की प्रकृति की रक्षा करते हुए सरस शब्दावली में उन्हें स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥
क्व सूर्यप्रभवो वंश क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥
मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥

वानी औ अरथ की सुसिद्धि पाइबे के हेतु, बानी औ अरथ सौं मिलेई सब लायकैं।
जग के जनक जननी के पद कंजन कौं, बन्दत सकल अभिमत फलदायकैं॥
कहँ कवि-मारग अगम ! गति मतिरंक, कहँ रघुबंसिन चरित, जेहिं गाइ कैं।
चाहत तरन अम्बुरासि महामोहबस, फूस तृन पातन की तरनी बनाइ कैं॥
ह्वै कैं मतिमन्द महा, चाहत सुकवियश, याही लागि निज उपासहि कराइ है।
लाग्यौ फल ऊँचे जाहि पाय सके लांब्यौजन, बामन ज्यौं करन उठाइ रहि जाइ है॥
अथवा रचित वाक्-द्वार वह वंशवर, पूरब कवीन कौ प्रयास दरसाइ है।
हीरा मन वेधी मणि-छेद माँहि मेरी गति, निपटहि सूत के तगा सी दरसाइ है॥

इसमें रसिक पाठक देखेंगे कि अनुवाद होते हुए भी अनुवाद के छन्दों में मौलिकता का आभास होता है। 'फूस तृन पातन की तरनी' 'हीरामन वेधी मणि छेद माँहि मेरी गति निपटहिं सूत के तजा सी', आदि वाक्य खण्डों ने मूल के भावों की स्पष्ट तो कर ही दिया है, साथ ही ब्रजभाषा के ठेठ शब्दों का प्रयोग कर उसे टकसाली भाषा बना दिया है।

एक और उदाहरण लीजिये। कुशावर्ती में एक रात अयोध्या नगरी (जो भगवान राम के प्रजा समेत स्वर्गारोहण से वीरान हो गई थी) स्त्री के वेश में कुशके शयन कक्ष में, जहाँ बिना आज्ञा कोई प्रवेश नहीं कर सकता था, पहुँच गई क्योंकि उसका शरीर पार्थिव नहीं था। उसे उस-

समय वहाँ देखकर कुश को आश्चर्य हुआ। कालिदास का यह वर्णन बड़ा हृदयग्राही है। अनुवादक ने अपनी प्रतिभा के कारण उसके साथ पूरा न्याय किया है। उसकी कुछ बानगी लीजिए—

अथार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः।
कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषामदृष्टपूर्वां वनितामपश्यत्॥
सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुहूतभासः।
जैतुः परेषां जयलब्धपूर्वं तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध॥
अथान पोढार्गलमप्यगारं छायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम्।
सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतल्पः॥

हरदयालसिंह जी ने इसके भावों को इन दो छन्दों में व्यक्त किया है—

आधिक-राति व्यतीत भई, अरु दीप-प्रकास लह्यौ मलिनाई।
सोवत हैं सिगरे, कुस के, निदिया नहिं नैननि में नियराई॥
ता खन सैन निकेतन में इक प्रोषिता-सी बनिता चलि आई।
जा कुल-अंगना की अबलौं, अबलोकी नहीं कोऊ रूप लुनाई॥

राजत राजश्री-सोभा अपार, सुरेस लौं तेज प्रताप के धारी।
सत्रु जयी ग्रही के समुहैं, कर जोरि कैं 'जैति' कह्यौ सुकुमारी॥
अर्गला-वारे अगारिनि मैं, तेहि दर्पन-छाया समान निहारी।
अगिलौ गात उठाय कैं सेज सौं, तासौं कह्यौ कुस बैन उचारी॥

लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते।
बिभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम्॥
का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किंवा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति॥

"गुप्त अगार मैं आयी जऊ, तऊ जोग-प्रभाव लखात न तेरौ।
त्यौं दुखिया लौं किये निज वेष, सरोरुह जैसौ तुषार कौ पेरौ॥
कौन हौ, काकी तिया तुम सुन्दरी, आइबें में इतै क्यों न निबेरौ?
जानत हौ रघुबंसिन नैं सपनेहु न आन तियान कौं हेरौ?

अयोध्या ने उत्तर दिया—

तमब्रवीत्सा गुरुणानवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन।
तस्याः पुरः संप्रति वीतनाथां जानीहि राजन्नधिदेवतां माम्॥
वस्वौकसारामभिभूय साहं सौराज्यवद्धोत्सवया विभूत्या।
समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम्॥

जाइबे काज जबै निज धाम, तुम्हारे पिता तजि जाहि सिधारे।
लै गये साथ प्रजा कौं सबै, अधिदेवता हौं सुनौ वाकी पियारे॥
त्योहीं सुराज की सम्पदा सौं, अलकापुरिहू कौं सदा धिरकारे।
आप सरीखे समर्थ महीप के देखत यों भये हाल हमारे॥

इसके बाद अयोध्या ने अपनी दुर्दशा का वर्णन किया है—

विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे।
विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्यं दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम्॥

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम्।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः॥

औध की सो नगरी अवतौ, किती टूटी अटारी अटा धरती है।
औ'गिरिगौ परकोटो सबै, अरु राम-वियोगन में बरती हैं॥
अस्त भये तें दिवाकर के, घन मंडली ज्यों नभ मों घिरती है।
पौन-प्रचंड सौं प्रेरित ह्वै तेहि साँझ सौं होड़ मनै करती है॥

जा नृप-मारग में निसि में, पिय सौं मिलिबे अभिसारिका आवतीं।
नूपुर-पैंजिनि-पायल की, झनकार महामुददैनी सुनावतीं॥
वा मग में किती स्यारिनियाँ, अब आमिष-खंडन ढूँढ़ती धावतीं।
ओ रव घोर करें अतिसै, मुख सौं चिनगारिनि कौं बरसावतीं॥

आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत्।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम्॥
वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषवर्हाः क्रीडामयूरा वनर्हिणत्वम्॥

प्रमदानि की मंजु गदेरनि चोटनि, वापिका कौ जल पायौ करैं,
अरु आछी गँभीर मृदंगन की धुनि सौं हठि होड़ लगायौ करैं।
अब तो बन-भैंसनि के बड़े शृंग प्रहार झकोरन खायौ करैं,
यहि भाँति सौं स्राँन-कठोर महा भयकारी रवै उपजायौ करैं॥

छतुरीन के टूटिबे तें अवतौ पुर-केकी तरून पै बैठन लागे,
धुनि पुष्कर की न सुनाई परै कहूँ या लगि मंजुल नाचिबौ त्यागे।
निज पूँछ समेटि दवारि की झार सौं भाग ही से हुते बचि भागे,
अब पालतू मोर महीप ! सुनौ बन-मोरन से सबै दीसन लागे॥

सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान् सरागान्।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे॥

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥

जावक सौं रँगे पंकज-पायन सीढ़िन पै धरती जहाँ नारी,
धारति केहरि सोनित सौं सने पंजन केते कुरंगन मारी ।
चित्र लिखे करि कौल-कलाप में लेत प्रियासौं मृनालिका प्यारी,
क्रोध सौं कुंभन पै तिनके नख-अंकुस नाहर देत प्रहारी ॥

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूरसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥
कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु ।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्र पादाः ॥

तियानि की मूरति खंभनि में, रँग के बिगरे मटमैली लखाति,
भुजंगन की किंचुली तिनकौं ढकिबे हित जाली मनौं बनि जात ।
भयौ सित सौंध कौ स्यामल हाय ! जमी कुस-पाँति कहूँ दरसाति,
मयंक-मयूख की मोतिन-माल विभावरी मैं भई व्यर्थ लखाति !

सारा प्रकरण मूल की आत्मा को व्रजभाषा रूपान्तर में उतारने में असाधारण रूप से सफल हुआ है । पढ़ने में मूल काव्य पढ़ने का सा आनन्द आता है । हमारी दृष्टि में अच्छे अनुवाद की यही कसौटी है ।

इतने उदाहरणों से पाठक आश्वस्त हो गये होंगे कि यह अनुवाद कितनी उच्च कोटि का है । मेरी सम्मति में यह अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह या राय देवीप्रसाद पूर्ण के उत्कृष्टतम अनुवादों के समकक्ष है । मेघदूत अपेक्षा कृत छोटा काव्य है । रघुवंश ऐसे बड़े काव्य का अनुवाद करना और उसके स्तर को ऊँचा बनाये रखना बड़ी प्रतिभा, लगन, योग्यता और परिश्रम का काम है । मुझे विश्वास है कि हिन्दी प्रेमी-विशेष कर जो व्रजभाषा से विरक्त नहीं हैं—इस अनुवाद का स्वागत करेंगे, और यह अनुवाद हिन्दी साहित्य संसार में एक स्थायी निधि की तरह समादृत होगा ।

श्रीनारायण चतुर्वेदी

राजा लक्ष्मणसिंह की भूमिका

हरदयालसिंह जी ने रघुवंश के अनुवाद करते समय उसके भाव और उसकी आत्मा को ब्रजभाषा में उतारने का प्रयत्न किया, शाब्दिक अनुवाद पर बल नहीं दिया, किन्तु राजा लक्ष्मण सिंह जी ने गद्यानुवाद करते समय मूल के शब्दों में हेर-फेर न करने का बड़ा ध्यान रखा। शायद उनका उद्देश्य उस उन बिद्यार्थियों और कम संस्कृत जानने वालों के सुभीते का ध्यान था जो मूल को भाषानुवाद के द्वारा समझना चाहते थे। अपनी भूमिका में उन्होंने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह ध्यान देने योग्य है।

यह अनुवाद १८७८ में प्रकाशित हुआ था, किन्तु हमारी सूचना के अनुसार उन्होंने इसे १८६५ के लगभग कर लिया था। अतएव इस अनुवाद का एक महत्व यह भी है कि यह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के आरम्भिक काल की खड़ीबोली गज का प्रामाणिक उदाहरण है। परिनिष्ठित हिन्दी के रूप के सम्बन्ध में राजा साहब के जो विचार थे वे इस भूमिका में स्पष्ट कर दिये गये हैं। वे खड़ीबोली में अरबी-फारसी (जिसे वे 'पारसी' कहते हैं) शब्दों के उपयोग के पक्ष में नहीं थे। यह रघुवंश का हिन्दी में पहला अनुवाद है। यह भी इसका एक बड़ा महत्व है। यह अब अनुपलब्ध था पर इसका बड़ा ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्व है। हम यहाँ उनकी भूमिका दे रहे हैं।

श्रीनारायण चतुर्वेदी

रघुवंश का विज्ञापन

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

अर्थ—कालिदास की उपमा भारवि की अर्थ गौरवता दण्डिन का पदलालित्य तीनों गुण माघ काव्य में हैं।

यह किसी ने सच कहा है—उपमा अलंकार में कालिदास को कोई कवि नहीं पहुँचता। इसके काव्य में पद-पद पर अनौखी उपमा मिलती हैं और उपमा उपमेय का निर्वाह अच्छा होता है। कालिदास के बनाये हुए ग्रन्थों में रघुवंश बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित है, इसीलिये कलकत्ता यूनीवर-सिटी के अधिकारियों ने भी इसको परीक्षा की पुस्तकों में रखा है।

इस ग्रंथ में गुण तौ बहुत ही हैं परन्तु एक अवगुण भी है अर्थात् इसकी समाप्ति बेढंग है। अग्नि वर्ण राजा का वृत्तान्त लिखकर कवि ने यह न खोला कि फिर इस वंश में राजा हुये कि न हुए। जो हुए तौ उनकी कथा क्यों न चली और जो न हुए तौ स्पष्ट ऐसा क्यों न लिख दिया गया।

हमारे विचार में आता है कि कै तौ कालिदास को ग्रन्थ पूरा करने का अवसर न रहा कै इस ग्रन्थ का कुछ पिछला भाग लोप हो गया है नहीं तो ऐसा चतुर कवि इस भाँति अधूरी कथा न छोड़ता।

कालिदास नाम के कई कवि हुए हैं उनमें दो मुख्य गिने जाते हैं—एक वह जो राजा बीर विक्रमादित्य की सभा के नौरत्नों में था, दूसरा जो राजा भोज के समय में हुआ। इनमें भी पंडित लोग पहले को दूसरे से श्रेष्ठ मानते हैं और उसी के रचे हुए रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत, ऋतु संहार इत्यादि काव्य और शाकुन्तल नाटक विक्रमोर्वसी नाटक और और अच्छे ग्रन्थ समझे गये हैं।

रघुवंश को साधारण हिन्दी बोली में उल्था करने से हमारा मुख्य प्रयोजन यह है कि इस ग्रन्थ के पढ़ने पढ़ाने वालों को उल्था से सहायता मिले इसीलिये हमने नियम रक्खा है कि मूल का कोई अक्षर उल्था होने से न रह जाय, न कोई अधिक अक्षर उल्था में बाहर से लाया जाय और विभक्त्यर्थ भी जहाँ तक हो सका उलट-पलट नहीं होने दिया है क्योंकि विभक्तियों का अर्थ पलटने से श्लोक का आशय समझने में विद्यार्थी बहक जाता है।

इस मुख्य प्रयोजन से पीछे दूसरा प्रयोजन यह भी है कि जो लोग संस्कृत नहीं जानते हैं वे भी इस उत्तम काव्य का आनन्द लें और रघुकुल के महाप्रतापी धर्मशील सूरवीर राजाओं का वृत्तान्त जानें।

हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोल-चाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी पारसी के परन्तु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी पारसी के शब्दों बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी पारसी के शब्द भरे हों। इस उल्था में यह भी एक नियम रक्खा गया है कि कोई पद अरबी पारसी का न आवे।

हम भली-भाँति जानते हैं कि उल्था में कहीं-कहीं भावार्थ ऐसा सरल न मिलेगा जैसा कि चाहिए। इसके दो हेतु हैं एक ऊपर कहे हुए नियमों का निबारना दूसरे मूल की लाघहता। संस्कृत में यह विशेष गुण है कि बड़े-बड़े विशेषन थोड़े अक्षरों में आ जाते हैं। उदाहरन श्लोक ५८ सर्ग १। तमातिथ्य क्रियाशान्त रथक्षोभ परिश्रमम्॥ दूसरा उदाहरन श्लोक ५९ सर्ग ४। मत्ते भरदनोत्कीर्ण व्यक्त विक्रमलक्षणम्॥ हिन्दी में ऐसा नहीं हो सकता और इसीलिये उल्था में बार-बार "वाला" शब्द लाना पड़ा।

फिर भी जहाँ तक हो सके उल्था को सुगम करने के लिये कई उपाय किये गये हैं एक यह है कि कठिन श्लोकों का भावार्थ टिप्पनी में लिख दिया गया है। दूसरे जो कोई शब्द मूल से अधिक लाना पड़ा इस प्रकार ( ) के कोठे में लिखा है। पढ़ने वालों को स्मरण रहे कि कोठे के भीतर का लेख मूल के किसी पद का उल्था नहीं है अर्थ की सुगमता के लिये बाहर का सहारा है। तीसरे जहाँ किसी पद के दो अथवा अधिक विशेषन हैं वहाँ एक-एक विशेषन के पीछे इस प्रकार का चिन्ह लिख दिया है जिससे उनकी भिन्नता जान पड़े और यही चिन्ह कहीं-कहीं इसलिए भी रक्खा है कि अगला लेख पिछले से कुछ अलग समझा जाय। पढ़ने वालों को चाहिए कि इस चिन्ह पर कुछ ठैर कर आगे बढ़ें। जहाँ अधिक भिन्नता दिखानी है वहाँ ऐसा; चिन्ह लिखा है। चौथे जहाँ कवि ने दूसरे का बचन कहा है वहाँ वह वचन इस " " प्रकार के संकेत में लिखा है और जो वाक्य के भीतर वाक्य है वह '' ऐसे संकेत में रक्खा है। पाँचवें कथा का अनुबन्ध दिखाने के लिए प्रत्येक सर्ग का संक्षेप कर दिया है।

हमको निश्चय है कि पाठक जन हमारे नियमों को बिचार कर और काव्य की कठिनाई देखकर इस उल्था के अवगुण क्षमा करेंगे। हमारा निवेदन है कि जो उनको कोई बात अशुद्ध जान पड़े चाहे शब्दार्थ में हो चाहे भावार्थ में और अशुद्धता दूर कराने का उनको उत्साह हो तो दया करके अशुद्ध लेख का पता हमको लिख भेजें दूसरी बार के छापे में शुद्ध कर दिया जायगा।

रघुवंश पर टीका बहुत हैं परन्तु हमने बहुधा मल्लिनाथी से काम लिया है और उल्था करने में हमको सदर सराय निवासी पंडित रामलाल जी से बहुत सहायता मिली है, उनको धन्यवाद देते हैं।

लक्ष्मणसिंह

बुलन्दशहर
१६ अप्रेल सन् १८७८ ई०

श्री हरदयालुसिंह का परिचय

कविवर श्री हरदयालुसिंह का जन्म संवत् १९५० में महमूदाबाद (जिला सीतापुर) में हुआ था। वे वैश्यवंश की विभूति थे। उनके पिता श्री मातादीन शाह परम धार्मिक एवं सात्विक विचारों के व्यक्ति थे। उनकी माता श्रीमती महादेवी पढ़ी लिखी महिला थीं। उन्हें संगीत तथा काव्य से विशेष प्रेम था। उन्होंने श्री हरदयालुसिंह को बाल्यकाल में ही रामायण और महाभारत पढ़ाया था। फलतः तभी से कवि के मन पर इनके अनेक मार्मिक कथानक और प्रसंग अंकित होगये। कालान्तर में उनको 'नवीन-संग्रह' 'हफीजुल्ला खाँ का हजारा' आदि के पढ़ने का अवसर मिला। उनके बहुत से सरस और हृदयग्राही छन्द बालक हरदयालुसिंह ने कंठाग्र कर लिये। इस प्रकार बाल्यावस्था में ही उनको प्राचीन आख्यानों और कविता से प्रेम हो गया। वह आगे चलकर साहित्य के अध्ययन का प्रेरक हुआ।

उनकी आरम्भिक शिक्षा महमूदाबाद में ही हुई। संवत् १९६७ में पिता श्री मातादीन शाह का निधन हो गया। इससे उनको अपनी सूत की दूकान का भी काम सँभालना पड़ा। दो वर्ष यों ही बीते। संवत् १९६९ में वे दूकान की देख-रेख करते हुए महमूदाबाद कालविन हाई स्कूल से मैट्रिक परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। तदनन्तर वे कानपुर गए। वहाँ क्राइस्टचर्च कालेज में दो वर्ष पढ़कर इंटरमीडिएट परीक्षा में सफल हुए। वे आगे पढ़ने की इच्छा पूरी न कर सके। गृहस्थी की झंझटों ने उन्हें बी० ए० न होने दिया। परन्तु उन्हें विद्या-व्यसन था। इससे सब प्रकार की अड़चनों के होते हुए भी वे स्वाध्याय में बराबर लगे रहे और ज्ञानोपार्जन बराबर करते रहे। इस बीच उन्होंने पहले विश्व युद्ध के समय रंग के सट्टे में अच्छी रकम पैदा की; परन्तु दराने के व्यवसाय में सब स्वाहा कर दी।

यों व्यवसाय में असफल होने पर, लक्ष्मी के हाथ छोड़ देने पर श्री हरदयालुसिंह सरस्वती की शरण गए। उन्होंने उन पर अपना वरद हाथ रक्खा। पहले वे शिक्षक बनकर सरस्वती की आराधना में प्रवृत्त हुए। उन्होंने कानपुर की म्युनिसिपेलिटी में कुछ दिन काम करने के बाद उसी नगर के कई स्कूलों में शिक्षण कार्य किया। फिर उन्होंने लखनऊ के कान्यकुब्ज कालेज तथा शाहाबाद के म्युनिसिपल स्कूल में अध्यापन किया। तत्पश्चात् वे मथुरा चले गये। वहाँ किशोरी रमण स्कूल में उनकी नियुक्ति हो गयी। बहुत दिन पीछे वे सेंट्रल ट्रेनिंग स्कूल, झूसी (इलाहाबाद) में अध्यापक हुए। कुछ समय के पश्चात् गोरखपुर के डी० ए० वी० हाई स्कूल में हिन्दी शिक्षक हुए।

यों अध्यापन करते हुए वे साहित्य सर्जन भी करते रहे। मथुरा में रहते समय वे प्रायः तीन वर्ष वहीं के श्याम काशी प्रेस के लिए पुस्तकें लिखते रहे। मथुरा के बम्बई-भूषण प्रेस से भी उनकी कई रचनाएँ प्रकाशित हुईं। तदनन्तर आगरा जाकर उन्होंने गयाप्रसाद एण्ड सन्स एवं लक्ष्मीनारायण एण्ड सन्स के लिए अनेक छात्रोपयोगी पुस्तकें लिखीं। इसके बाद वे प्रयाग के इण्डियन प्रेस में पाँच वर्ष तक साहित्य सहायक के पद पर काम करते रहे। इण्डियन प्रेस से उनकी बहुत-सी पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं। प्रयाग के रामनारायण लाल तथा कानपुर के मित्रा-बुकडिपो के लिए भी श्री हरदयालुसिंह ने कई पुस्तकें लिखीं।

इस प्रकार छत्तीस वर्षों तक महमूदाबाद से बाहर साहित्य-सेवा तथा जीविकोपार्जन करने के अनन्तर श्री हरदयालुसिंह अपने मूल निवास-स्थान लौट आये। वहीं कालविन हाई स्कूल में हिन्दी के अध्यापक नियुक्त हो गये। वहीं उन्होंने शेष जीवन व्यतीत किया।

श्री हरदयालुसिंह ने विद्यार्थियों के उपयोग के लिए अनेक विषयों की पुस्तकें लिखी हैं। उन्होंने संस्कृत के अनेक काव्यों और नाटकों के अनुवाद किये हैं और उनमें कुछ के कथानक गद्य में लिखे हैं। जैसे, नैषध और रघुवंश काव्यों के पद्यबद्ध अनुवाद तथा वेणीसंहार, नागानन्द, स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, मध्यम व्यायोग एवं कर्णभार नाटकों के रूपान्तर। नाटक-निचय, नाटक-नवरत्न तथा नाटकनिरूपण में संस्कृत के विविध नाटकों की कथा संगृहीत है एवं भास-ग्रन्थावली में भास-रचित नाटकों की कथावस्तु का संक्षेप में समावेश है।

श्री हरदयालुसिंह ने छात्रों के लिए निबन्ध-शिक्षा के लिए भी पुस्तकें लिखी थीं। वे हैं—निबन्ध निरूपण, निबन्ध परिचय और निबन्ध दिग्दर्शन।

उनकी कई अलंकार-विषयक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—रीति-रहस्य, रीति-रत्न और रीति-रत्नाकर।

श्री हरदयालुसिंह ने संस्कृत और हिन्दी की कुछ रचनाओं की टीका भी की थी। रघुवंश के त्रयोदश और चतुर्दश सर्गों की टीका के अतिरिक्त कुमारसम्भव और दूतवाक्यम् की भी टीका छप चुकी है। सूर के बालकृष्ण तथा तुलसीकृत कवितावली और (रामचरित मानस के) सुन्दर-काण्ड की उनकी टीकाएँ प्राप्त हैं।

श्री हरदयालुसिंह ने हिन्दी के कई कवियों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक ग्रन्थ भी लिखे हैं। उनमें कवियों की चुनी हुई रचनाएँ भी संकलित हैं। ये हैं—देव-दर्शन, मतिराम-मकरन्द, भूषण-भारती, बिहारी विभव, पूर्ण पद्माकर और सीताराम संग्रह।

परन्तु श्रीहरदयालुसिंह की कीर्त्ति उनके मौलिक काव्यों से स्थायी रहेगी। ऊपर कहा जा चुका है कि वे बाल्यकाल से ही कविता से अनुराग करने लगे थे। इसी से वे स्वयं भी अल्पायु से कविता करने लगे थे। उन्हें ब्रजभाषा पर असाधारण अधिकार था। उनके रचे 'दैत्यवंश' महाकाव्य का यथेष्ट सम्मान भी हुआ है। उस पर उन्हें दो सहस्र रुपयों का 'देव पुरस्कार' मिला था और काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने इस वर्ष का सर्वोत्तम ब्रजभाषा काव्य स्वीकार कर रत्नाकर पुरस्कार से सम्मानित किया था। 'रावण' महाकाव्य के लिए उनको उत्तर प्रदेश शासन से आठसौ रुपये पुरस्कार में मिले थे। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'कुरुबंश' महाकाव्य की भी रचना की थी जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ।

इस प्रकार बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न श्रीहरदयालुसिंह ने अनेक क्षेत्रों में जीवन निर्वाह करते हुए साहित्य का सर्जन किया था। अन्तिम दिनों में स्वास्थ्य बिगड़ जाने से उनको शारीरिक कष्ट रहता था। वे महमूदाबाद में अध्यापन करते हुए भी काव्य रचना में प्रवृत्त रहे। उनकी साहित्य-सेवा से प्रभावित हो प्रदेश के शासन ने उन्हें निर्वाह-वृत्ति भी दी थी। प्रकाशकों से उनको यथेष्ट धन की प्राप्ति नहीं हुई। इससे वे आर्थिक सुविधाओं से प्रायः वंचित रहे। फलतः उनको सदैव कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। फिर भी वे बड़े मनस्वी थे। सन्तोषी भी कम न थे। आर्थिक कष्ट पड़ने पर प्रायः कहा करते कि हम तो सरस्वती के उपासक हैं। हमारा लक्ष्मी से क्या नाता ?

श्रीहरिः

आत्म निवेदन

इंडियन प्रेस की छत्र-छाया में रहकर जब मैंने श्री पं० सत्यनारायण जी 'कविरत्न' की रचनाओं पर आलोचना लिखी, तब मुझे उनका 'हृदय-तरंग' श्री पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी की कृपा से प्राप्त हुआ। इसमें 'रघुवंश' महाकाव्य के कई सर्गों का अपूर्ण अनुवाद देखने में आया। उसे देखते ही श्री पं० अयोध्या प्रसाद जी पाठक के उस अनुरोध का भी स्मरण हो आया, जो उन्होंने श्री पं० सत्यनारायण जी 'कविरत्न' की 'रघुवंश' महाकाव्य की अपूर्ण रचनाओं को पूर्ण करने के लिए सालों पहिले कर रखा था। परन्तु फिर भी अभी इस महत्कार्य को हाथ में लेने का साहस नहीं होता था।

इसी समय मेरे अहेतुक मित्र एवं आश्रयदाता श्रीयुत पं० श्रीनारायण जी चतुर्वेदी 'श्रीवर' ने मुझ से यह अनुवाद करने को कहा। उनका आदेश एवं आर्शीवाद लेकर मैंने इसमें हाथ लगाया और उन्हीं के कर-कमलों में इसे समर्पित किया। सब से पहिले पं० सरयूप्रसाद जी ने इसका अनुवाद किया। फिर ला० सीताराम जी ने चौपाई छन्दों द्वारा इसके अनुवाद में हाथ लगाया। राजा लक्ष्मणसिंह जी ने इसे गद्य में अनूदित किया, और श्री पं० सत्यनारायण जी 'कविरत्न' ने पद्य में। परन्तु यह पूर्ण नहीं होने पाया कि उनका शरीरान्त हो गया। फिर आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने इसका गद्यात्मक अनुवाद किया। इसके अनन्तर पं० रामप्रसाद जी एम० ए०, एल० टी० ने इसका एक और पद्य-बद्ध अनुवाद किया।

इतने अनुवादों के रहते हुए प्रस्तुत अनुवाद की आवश्यकता पर प्रश्न उपस्थित किया जा सकता था ? उत्तर में इतना ही सविनय निवेदन है कि अपनी अनुवाद-प्रिय प्रवृत्ति की प्रेरणा तथा मित्रों के प्रोत्साहन एवं अनुरोध की अवहेलना कर सकना मेरे लिए असम्भव हो गया और अंत में मैं इस महदुष्ठान के लिए बद्ध परिकर हुआ।

'रघुवंश' महाकाव्य को मैंने बाल्यावस्था में गुरु-मुख से पढ़ा था। अतः इसके अनुवाद करने में वस्तुतः मुझे कोई कठिनाई तो नहीं हुई; परन्तु आलस्य-प्रिय होने के कारण इस में विलम्ब अधिक लगा। सं० १९९६ वि० में 'दैत्य-वंश' काव्य समाप्त करके आगे पाँच वर्षों में इसे ही पूरा किया।

'यह अनुवाद कैसा है ?' इस की विवेचना का भार मैं अपने आलोचकों पर ही छोड़ता हूँ। पर यदि पाठकों ने इसे पसन्द किया तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा, और आगे चलकर 'रावण' महाकाव्य एवं 'नैषध-चरित' का पद्य-वलित अनुवाद मैं उनकी सेवा में प्रस्तुत करूँगा।

फाल्गुन-पूर्णिमा, सोमवार,
सं०२००१ वि० होलिकोत्सव
प्रयाग

विनयावनत
श्री हरदयालुसिंह 'श्रीहरिनाथ'
अनुवादक

ब्रजभाषा अखरौटी के अन्तर्गत संशोधन-कार्य-विवरण-सार

(१) ब्रजभाषा व्याकरण की दृष्टि से—

(क) संज्ञा शब्दान्तर्गत मुख्यतया प्रसंगानुसार 'व्यक्तिवाचक' तथा उसके 'सर्वनाम' (पुरुषवाची) शब्दों का यथास्थान संशोधन।

(ख) लिंग, वचन, कारक, विभक्तियों पर दृष्टि रखते हुए यथास्थान संशोधन।

(ग) प्रत्यय और उपसर्गों में यथास्थान संशोधन।

(घ) सन्धि, समास, चिन्ह-विचार को ध्यान में रखते हुए यथास्थान संशोधनादि।

(ङ) दूरान्वयी शब्दों में विशेषणादि को उनके निकट लाते हुए रखने के यथास्थान संशोधन।

(२) काव्यांग की दृष्टि से—

१. छन्द, २. शब्द-शक्ति, ३. रस, ४. अलंकार, ५. गुण, ६. दोष आदि पर दृष्टि रखते हुए यथास्थान संशोधन—

(१) छन्द—छन्दों के नाम, इत-वृत्त दोष होने पर उनका यथास्थान निवारण करते हुए शुद्ध रूप में रखना।

(२) शब्द-शक्ति के अभिधा, लक्षण, व्यंजना के साथ ही उसकी 'तात्पर्यशक्ति' का सर्वथा ध्यान रखते हुए 'पद्य-वाक्य-विन्यास' को पूर्णरूपेण ध्यान में रखते हुए यथास्थान संशोधन किये गये हैं। जिस 'शब्द-शक्ति' के द्वारा वाक्य में पूर्ववर्ती शब्द अपने आगे के शब्द के साथ अर्थ-सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, उसे तात्पर्य शक्ति कहते हैं।

(३) रसानुकूल कहीं-कहीं शब्दों में परिवर्तन, ग्रामीण-दोषादि को ध्यान में रखते हुए यथास्थान संशोधन।

(४) अलंकारों के अन्तर्गत 'उपमा कालिदासस्य' को विशेष दृष्टि में रखते हुए मुख्यतया 'पूर्णोपमालंकार के अंगों—उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म' को ध्यान में रखते हुए संशोधन यथास्थान अधिकांश में किए गए हैं। इसके साथ ही लुप्तोपमादि और रूपकों में सांग और निरंग रूपकों को ध्यान में रखते हुए यथास्थान संशोधन, इनके अतिरिक्त अन्योक्ति, वक्रोक्ति, श्लेषादि अलंकारों पर भी पूरी दृष्टि रखते हुए यथास्थान संशोधन।

(५) काव्य के गुणों के लक्षणों को ध्यान में रखते हुए पद्य-वाक्य को उत्कर्ष देते हुए यथास्थान संशोधन किये गये हैं।

(६) दोषों के अन्तर्गत—१. शब्द-दोष, २. अर्थ दोष एवं ३. रस दोषों में—१. शब्द दोष के अन्तर्गत (अ) पद-दोष में अप्रयुक्तत्व क्लिष्टत्व, ग्राम्य दोषादि तथा (आ) वाक्य दोष के

अन्तर्गत—अक्रमत्व, हतवृत्त [यतिभंग, गतिभंग,—वर्णमाला की न्यूनाधिकता, रस प्रतिकूल आदि] को ध्यान में रखते हुए यथास्थान संशोधन। इसी प्रकार २. अर्थ-दोष में—दुष्क्रमत्व, साकांक्षा, संदिग्ध आदि दोषों पर पूर्ण ध्यान रखते हुए संशोधन और ३. रस दोषों में भावों की कष्ट-कल्पनादि पर विशेष ध्यान रखा गया है।

(३) विशेष—

कहीं-कहीं मूल प्रति में लिपिकार-दोषों को यथास्थान शोध कर रखा गया है। इसी प्रकार मूल पांडुलिपि और टाइप पांडुलिपि में यथास्थान छूटों को संशोधित रूप में रखा गया है। कहीं-कहीं छन्द के मूल रूप में कुछ का कुछ अनुवाद होने पर उसे मूल प्रति भाषा टीका 'रघुवंश महाकाव्य' को दृष्टि में रख कर संशोधन किया गया है।

मूल ग्रंथ में अधिकांश में शब्दानुवाद ही बड़े ही सुन्दर रूप में रखा गया है, पर कहीं-कहीं यथास्थान भावानुवाद भी बहुत कुछ है, उसमें भी यथास्थान संशोधन करके यथास्थान रखा गया है, आदि-आदि।

———

ब्रजभाषा अखरौटी माला

अखरौटी	उदाहरण
स्वर	
अ आ इ ई उ ऊ ऋ [रि] ए ऐ ओ औ	**रिषि** [ऋषि]
अं अः	: ह—**छिहि-छिहि** [छिः-छिः]
व्यञ्जन	
क ख ग घ ङ [अं] , च छ ज झ ञ [अं]	**लंका** [लङ्का] , **संजय** [सञ्जय]
ट ठ ड ढ ण [न] , त थ द ध न	**प्रन** [प्रण] **पन** , **बानी** [वाणी]
प फ ब भ म , य र ल व ष स ह	
य , ज	
र , ड़ [लड़का] लरिका	
ल , र	
व , ब	
ष , ख	श्री [ज्यों का त्यों तत्सम रूप]
श , स	
क्ष , छ, च्छ, ख	
त्र , तर	
ज्ञ , ग्य, ज्ञ	
शब्द	
क्रिया मूलक—कियो [किया], लियो, लये, लयें	
अव्यय मूलक—लए [लिए] लएँ, के लएँ, कों, कौं	

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

—रघुवंशम्—

॥ प्रथमः सर्गः ॥

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥१॥
क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥२॥
मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुब्दाहुरिव वामनः ॥३॥

पहला सर्ग

सन्तान के निमित राजा दिलीप का वसिष्ठ के आश्रम को जाना

१—वाणी और अर्थ की सिद्धि के निमित मैं बन्दना करता हूँ, वाणी और अर्थ की नाईं मिले हुए जगत के माता-पिता शिव पार्वती को—

२—कहाँ सूर्य से उत्पन्न होने वाला वंश और कहाँ थोड़े व्यवहार वाली बुद्धि, मैं अज्ञानता से कठिन समुद्र को फूस की नाव के द्वारा उतरना चाहता हूँ—

३—कवियों के यश का चाहने वाला मैं मन्द बुद्धि हँसी को पहुँचूँगा, जैसे लम्बे के हाथ लगने योग्य फल की ओर लोभ से ऊँची बाँह वाला बौना—

पहिला सर्ग

घनाक्षरी

(१)

बानी औ' अरथ की सुसिद्धि पाइबे के हेतु, बानी औ' अरथ लौं मिलेई सब लायकै ।
जगके जनक-जननी के पद-कंजनि कौ, बन्दत सकल अभिमत-फल-दायकै ।
कह कबि-मारग अगम, गति-मति-रंक, कहँ रवि-बंसिन-चरित, जेहि गायकै ।
चाहत तरन अम्बुरासि महा-मोह-बस, फूस-तृन-पातन की तरनी बनायकै ॥१-२

(२)

ह्वैकै मति-मंद महा, चाहत सुकबि-जस, याही लागि निज उपहासहि कराइहै ।
लाग्यो फल ऊँचे जाहि पाइ सकै लाँबो जन, बामन ज्यों करन उठाय रहि जाइहै ।३

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥४॥
सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥५॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥६॥
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥७॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥८॥

४—अथवा अगले पंडितों के वागद्वार किये हुए इस वंश में मेरी गति हीरे की छेदी मणि में डोरे की सी है—

५—सो मैं जन्म ही से शुद्धों का, फल के उदय तक कर्म करने वालों का, समुद्र तक पृथ्वी के स्वामियों का स्वर्ग तक रथ के मार्ग वालों का,

६—विधिपूर्वक अग्नि में आहुति देने वालों का, कामना पूर्वक याचकों का सन्मान करने वालों का, अपराध अनुसार दण्ड देने वालों का, उचित समय जगने वालों का,

७—दान निमित धन इकट्ठा करने वालों का, सत्य निमित थोड़ा बोलने वालों का, यश-निमित विजय चाहने वालों का, सन्तान निमित गृहस्थ करने वालों का,

८—बालपन में विद्या सीखने वालों का, युवा अवस्था में भोग के अभिलाषियों का, बुढ़ापे में मुनिवृत्ति होने वालों का, अन्त में योग करने तन त्यागने वालों का,

अथवा रचित-वागद्वार यह बस बर, पूरब कबिन कौ प्रयास दरसाइहै ।
हीरा सन वेधी मनि-छेद-माहिं मेरी गति; निपटहिं सूत के तगा-सी दरसाइहै ॥४

(३)

जन्मसौं पुनीत कर्म्मकरत फलोदयलौं, अम्बुधि अगाध लौं धराके बने स्वामी जे ।
बिधिवत आहुति जे देत हैं हुतासन मैं, सुर-पुर-मगलौं रहत रथगामी जे ।
मंगन-मनोरथ के अभिमत दैनवारे, अरु अपराध-अनुकूल-दंड, नामी जे ।
उठत बिहाय परपंक कौ सुखद-सैन, नित ब्रह्मबेला माहिं जागिकै, अकामी जे ॥ ५-६

(४)

संतति के काज गृह माहिं जे करत बास, धन-संची दान-हेतु सत्य-संध साखी जे ।
जस के निमित्त दिग-बिजय करत सदा, सत्य-हेतु भूपति बनत मित-भाखी जे ।
बालपन ही में तरि विद्या कौ अगाध-सिंधु, जौबन में भोग के रहत अभिलाखी जे ।
धारत मुनीनबृत्ति ढरकति आयु, जोग साधि अन्त में करत तनु राखी जे ॥ ७-८

४—वागद्वार=वाणी का द्वार अर्थात् वर्णन ।

५—पाँचवें से आठवें श्लोक तक रघुवंशियों के गुण कहे हैं ।

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥९॥
तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥१०॥
वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥११॥
तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः ।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥१२॥
व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥१३॥

९—(ऐसे) राघवों के वंश को मैं वाणी का वैभव थोड़ा होते हुए भी कान में आए हुए उनके गुणों का चपलता की ओर प्रेरणा किया हुआ बखान्ता हूँ ।

१०—उसको सुन्ने को सत्य असत्य की विवेचना करने वाले सन्त लोग योग्य हैं, सोने की शुद्धता और श्यामता अग्निही में देखी जाती है ।

११—वैवस्वत नाम मनु पंडितों का पूज्य राजाओं में प्रथम हुआ, जैसे छन्दों में ओंकार ।

१२—तिसके शुद्ध वंश में दिलीप नाम अति शुद्धिमान राजेन्द्र जन्मा, यानी दूध के समुद्र में चन्द्रमा ।

१३—चौड़ी छातीवाला, बैल के से कन्धों वाला, साल सरीखा लम्बा, बड़ी भुजाओं वाला अपने काम में समर्थ देह को धारण किए हुए, मानो क्षत्रियों का धर्म ।

(५)

या बिधि बिपुल रविबंस अवतंसिन कौ, गावत सुजस वाग-बैभव न पायकै ।
तिनके अमित-गुन स्रौननि प्रवेस करि, राखी मम मति अति चपल बनायकै ।
ताहि सत-असत-बिवेक के करनवारे, सन्त जन सुनिहैं अवसि मन लायकै ।
कीन्हीं जात जातरूप-सुद्धि-स्यामिका की जाँच, अनुदिन अनल-समूह मैं तपायकै ॥ ९-१०

(६)

बैबस्वतनाम कौ मनीषी माननीय मनु, वाही बरबंस माँहि जन्म पहिले लयो ।
राजत भयौ सो राज-राज-मंडली में इमि, छन्दनि में प्रानव बखान्यौं जिमि है गयो ।
सुद्धमति वाही कुल आकर में अवतार, परम पवित्र सुदिलीप रत्न कौ भयो ।
जैसे छीर-सागर सौं जन-मन-रंजन कौं, प्रगटित होत निसा-नायक नितै नयो ॥ ११-१२

(७)

सोहत सबल बच्छ, बृषलौं प्रथुल कंध, साल लौं बिसाल दुऔ बाहु बर जाके हैं ।
धारत स्वकारज-सँवारन-सुघर-वपु, मानौं मूर्तिमान छात्र-धर्म समताके हैं ।१३

१३—१३ वें से १५ वें श्लोक तक दिलीप के गुण कहे हैं ।

सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना ।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥१४॥
आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥१५॥
भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् ।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः ॥१६॥
रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥१७॥
प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥१८॥

१४—सबसे अधिक बलवान, सबसे अधिक तेजवान, सबसे ऊँचे, देह से पृथ्वी को सुमेरु की नाईं दबा कर बैठा,

१५—आकार सदृश बुद्धिवाला, बुद्धि सदृश शास्त्र अभ्यास वाला, शास्त्र अभ्यास सदृश उद्योग वाला, उद्योग सदृश उदय वाला—

१६—भयानक और मृदुल राज गुणों से वह उपजीवियों को दूर रखने वाला और निकट बुलाने वाला भी हुआ, जैसे जंतुओं और रत्नों से समुद्र ।

१७—रथ के पहिये की भाँति चलने वाली उस शिक्षक (अथवा रथ हाँकने वाले) की प्रजा मनु तक के खूँदे मार्ग से लकीर भर भी बाहर न गई ।

१८—प्रजाओं के भले के निमित ही उसने उनसे कर लिया, जैसे सहस्र गुना बरसाने ही को सूर्य जल लेता है ।

त्यौंही लोक-उत्तर-पराक्रम-स्वतेज सन, औरनि निदरि छापिलेत चहुँनाके हैं ।
और निज उन्नत-सरीर सौं महिप-मनि, मेरुसम सोहत सिंगार बसुधाके हैं ॥ १४

(८)

राजत अकार-अनुसार ही बिपुल बुद्धि, मति-अनुरूप त्यौंही सास्त्र मैं प्रयास है ।
ठानत उद्योगहि प्रयास-अनुकूल अरु, विसद-उद्योग के समान ही प्रकास है ।
कोमल-कठिन-नर-नाहनि-गुननि सन, प्रजनि हटावत बुलावत स्वपास हैं ।
सोहत दिलीप-महिपाल अम्बुरासि सम, जामैं मुतियानि मकरावलि कौ बास है ॥ १५-१६

(९)

रथ-चक्र-लीक-सी दिलीप की सबैही प्रजा, मनु-पथ त्यागि कहूँ अनत नहीं गई ।
तिनकी बिभूति हेतु रविसम रस-कर, लीन्ह्यों औ' सहस गुनी कीन्हीं बरसा नई ।१७-१८

१६—मगर इत्यादि के डर से कोई समुद्र में नहीं जाता परन्तु मोती मिलने के लालच में जाते भी हैं ।

सेना परिच्छदस्तस्यद्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता ॥१९॥
तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च ।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥२०॥
जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत् ॥२१॥
ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः ।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥२२॥
अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः ।
तस्य धर्मरतेरासीद्वृद्धत्वं जरसा विना ॥२३॥

१९—उस सेना से घिरे हुए के अर्थ साधन दो ही थे, शास्त्र में पैनी बुद्धि और धनुष में चढ़ी हुई प्रतिचा ।

२०—उस भेद गुप्त रखने वाले और बाहर भीतर के भावों के चिन्ह (हर्ष शोकादि) छुपाने वाले के काम फलों से अनुमान होते थे, जैसे पूर्वले संस्कार ।

२१—बिना डरे हुए ने अपने को रक्षा किया, बिना रोगी हुए ने धर्म को भजा, बिना लोभी ने धन को लिया, बिना आसक्त हुए ने सुख को भोगा ।

२२—ज्ञान में मौन, सामर्थ में क्षमा, दान में बड़ाई की अनपेक्षा, उसके गुण गुणों के सम्बन्ध में सहोदर से थे ।

२३—उस विषयों के न खेंचे हुए को, विद्याओं के पार देखने वाले को, धर्म में रुचि रखने वाले को, बुढ़ापा बिना बुढ़ापे के हुआ ।

सेना-परिछद वाके दोई अर्थ-साधन हे, सास्त्र में सुबुद्धि चाप सिंचिनी चढ़ी थई ।
गूढ़-मंत्र-इंगित-महीप-पूर्व-संस्कार-फल-अनुमेय-कार्य-सिद्धि सिगरी भई ॥ १९-२०

(१०)

रच्छ्यौ निज बपुहि निसंक ह्वै महिप-मनि, कीन्ह्यौं धर्म-आचरन रोगनि निवारि कै ।
संग्रह्यौ सुसम्पति न रंचक हू लोभ कीन्ह्यौं, भोग्यौ सुख अमित आसक्ति सबै टारिकै ।
मौन रहे ज्ञान धरि, सक्ति लहि कीन्ह्यौं क्षमा, दानी अदुतीय जस चारुकौ बिसारि कै ।
या बिधि दिलीप के सकल गुन-गन सोहे, सोदर लौं बिपुल-बिरोध दूरि डारिकै ॥ २१-२२

(११)

खेंचि सकीं उन्हैं बिषै-बासनाएँ नाहिं, बिद्या-पारगामी तौ सदा ही वे बने रहे ।
धर्म्म में अपार रुचि, भूपति की याही लगि, परिनत-बैसबिन बृद्ध-से गुने रहे ।२३

१९—उसकी सेना केवल शोभा की सामग्री थी काम तो बुद्धि और धनुष ही से सिद्ध होते थे ।

२०—तात्पर्य यह कि मते की बातों को गुप्त रखता था ।

२२—परस्पर विरुद्ध ज्ञान मौनादि गुण उसमें मिले थे ।

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥२४॥
स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये ।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ॥२५॥
दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम् ।
संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥२६॥
न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः ।
व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता ॥२७॥
द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम् ।
त्याज्यो दुष्टःप्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ॥२८॥

२४—नीति सिखाने से, रक्षा करने से और पालने से वह प्रजाओं का पिता था, उनके माँ-बाप केवल जन्म का हेतु हुए ।

२५—उस अपराधियों को मर्यादा निमित दण्ड देने वाले के, सन्तान निमित ब्याह करने वाले बुद्धिवान के, अर्थ और काम भी धर्म्म ही थे ।

२६—उसने यज्ञ निमित पृथ्वी को दुहा, इन्द्र ने धान्य निमित आकाश को, भलाई की उल्टा पल्टी करके दोनों ने दोनों लोकों को पाला ।

२७—उस रक्षा करने वाले के यश को और राजा न पहुँचे क्योंकि चोरी पराए धन से निकली हुई नाम में (अथवा कान में) रही ।

२८—सज्जन बैरी भी उसको प्यारा था, जैसे रोगों को औषधि और दुष्ट प्यारा भी त्याज्य था, जैसे साँप की काटी अँगुली ।

कीन्ह्यौं प्रजा-पालन-भरन-परिपोषन हूँ, पूत सम बिनय सिखावत घने रहे ।
या बिधि जथारथ दिलीप हे प्रजा के पिता, जनक निपट-जन्म-कारन बने रहे ॥२४

(१२)

दंड अपराधिन कौं दीन्ह्यौं मरजाद-हित, और एक पूत कामनासों कीन्हौं ब्याह कौं ।
ऐसे आचरन सौं जथारथ धरम सोह्यौ, अर्थ अरु काम सौं दिलीप नरनाह कौं ।
सस्य-हेतु मघवा दुह्यौ ज्यौं ब्योम मंडल कौं, जज्ञ-हेतु दुहि नृप लीन्ह्यौं महि थाह कौं ।
जुगुल-भुवन कौ भरन-काज दोऊ मिलि, बिनिमय कीन्ह्यौं धरि अमित उछाह कौं ॥
२५-२६

(१३)

या बिधि दिलीप-प्रजा-पालन-सुजस माहिं, कोऊ अन्य-भूपति न कौहूँ समता लही ।
सबन बिहाय नाम लेन ही के हेतु अब, दुरि स्रौन-कोषनि मैं तसकरता रही ।
आरत की औषधि समान ही सुजन जाकै, बनिकै अराति हित ही तौ प्रियता गही ।
त्यौंही दुराचारी-प्रियहू के त्यागिबै में सदा, साँप-डसी-आँगुरी सी नीति नृप नै चही ॥२७-२८

२६—यज्ञों से वरषा होती है और वरषा से नाज फिर नाज से यज्ञ किया जाता है यही उल्टा पल्टी है ।

२८—त्याज्य=छोड़ने योग्य ।

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ।
तथाहि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः ॥२९॥
स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वी शशासैकपुरीमिव ॥३०॥
तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा ।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा ॥३१॥
कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि ।
तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः ॥३२॥
तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः ।
विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः ॥३३॥
संतानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता ।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे ॥३४॥

२९—उसको मानो विधाता ने महाभूतों (पंचतत्व के मूलों) की समाधि से बनाया था सोई उसके सब गुण केवलपराय अर्थ का फल देने वाले हुए ।

३०—उसने समुद्र तट के परकेटि वाली, सागरों को खाई वाली, बिना दूसरे राज्य वालों, पृथ्वी को मर्याद में रक्खा, मानो एक नगरी को ।

३१—चतुराई की प्रसिद्धता से सुदक्षिना नाम मगध वंश की बेटी उसकी पत्नी थी, जैसे यज्ञ की दक्षिना ।

३२—उस पृथ्वी पति ने बड़े रनवास में भी अपने को उसी मनस्विनी से और लक्ष्मी से स्त्रीवन्त माना ।

३३—अपनी उस मन भावती में पुत्र जन्म के अभिलाषी ने विलम्बित फलों वाले मनोरथों सहित कुछ काल बिताया ।

३४—सन्तान की विधि के निमित उसने अपनी भुजा से उतारा हुआ पृथ्वी का भारी बोझ मंत्रियों पर डाला ।

(१४)

मानौं पंच-तत्वनि सौं बिधि निरमायौ ताहि, याते सबै वाके गुन परहित ही भये ।
कीन्ह्यौं राज एक ही पुरी-लौं एक छत्र माँहि, परिखा प्रचीरता कौ जाकी सिन्धु ही हये ।
जग्य-दच्छिना-सी वा सुदच्छिना मगधराज—दारिका के आपु पुनि नायक चुने गये ।
रानिन अछत अपने कौ त्यौं कलत्रवान, मान्यो नृप वासौं कमला सौ मोद कौं लये ॥
२९-३०-३१-३२

(१५)

होय सुत याही बनिता सौं हिय साध धारि, दिननि बितावै अभिलाखनि सौं वे लगे ।
और राज-सासन की गरुई धुरी कौ सौंपि, मंत्रिन कौ, कारज-बिराम गहिवै लगे ।३३-३४

३३—विलम्बितफल=जिन फलों के आने में बेर लगी ।

३४—सन्तान की विधि से तात्पर्य सन्तान प्राप्त होने के उपाय से है ।

अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया ।
तौ दम्पतो वशिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥३५॥
स्निग्धगम्भीर निर्घोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ ।
प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥३६॥
मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरै ।
अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृत्ताविव ॥३७॥
सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः ।
पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः ॥३८॥
मनोभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः ।
षड्जसंवादिनीःकेका द्विधा भिन्नाः शिखंडिभिः ॥३९॥

३५—फिर विधाता को पूजकर वे दोनों पवित्र स्त्री पुरुष पुत्र की कामना सहित गुरु वसिष्ठ के आश्रम को चले ।

३६—अच्छे गम्भीर शब्द वाले एक रथ पर बैठे हुए, जैसे वर्षा के बादल पर बिजली और ऐरावत ।

३७—"आश्रम को पीड़ा नहीं" इसलिये थोड़े सेवक साथ लिये हुए, प्रताप की विशेषता ही से मानो सेना से घिरे हुए ।

३८—स्पर्श से सुख देने वाली, शाल के गोंद की सुगंधि वाली, फूलों का पराग उड़ाने वाली, वन के वृक्षों की पंक्तियों को कुछ हिलाने वाली पवनी से सेवा होते हुए ।

३९—रथ के पहिये की ध्वनि से मुख उठाये हुए मोरों से दो प्रकार के मन भावते षड शब्द सुनते हुए ।

पूजि-प्रजापति, सुत-कामना सौं धारि ब्रत, आस्रम कौ दोऊ चलै गुरु के जबै लगे ।
परम मनोहर-गंभीर-रव-रथ बैठे, गज-दामिनी-से घन-पावस पै वै लगे ॥ ३५-३६

(१६)

बाधा जनि होय क्यौंहूँ आश्रम-निवासिन कौ, याही लगि संग कछू सेवकनि कौं लिये ।
तौहूँ निज प्रबल-प्रताप के प्रभावनि सौं, सेना-परिवृत से दिलीप निरखे गये ।
परस-सुखद सोई सेवत सुसाल-गोद—गंधिहि प्रकम्पित बिटप जेहि सौं भये ।
लाग्यौ त्यौं उड़ावन प्रसूननि परागबेस, ऐसौ गन्ध-वाह नृप लेत ही बनैं गये ॥ ३७-३८

(१७)

मन-अभिराम-रथ-चक्र-रव कान करि, इत-उत भागन मयूर सिगरे लगे ।
आनन उठाय ऊँचे गाइ कैं षरजसुर, मानौं मन-मुदित सुनावै नृप कौं लगे । ३९

३६—ऐरावत उस बादल को कहते हैं जो दूसरे बादल के ऊपर हो और उसकी स्त्री बिजली कहलाती है ॥ ३६ से ४६ तक के श्लोकों में राजा रानी की शोभा कही है ।

३९—नाक कंठ हृदय तालू जीभ दाँत इनसे निकलने वाले शब्द ष ड् ज कहलाते हैं ।

परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु ।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥४०॥
श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम् ।
सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥४१॥
पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः ।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥४२॥
सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् ।
आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वासानुकारिणम् ॥४३॥
ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥४४॥

४०—समीप मार्ग छोड़ने वाले, रथ में दृष्टि बाँधने वाले, मृगों के जोड़ों में एक दूसरे की आँख की सादृश्यता देखते हुए ।

४१—पंक्ति बाँध कर चलने के कारण बिना स्तम्भ के बन्धन्वारों की माला बने हुए, अच्छा शब्द करने वाले, सारसों के कभी-कभी मुख उठवाए हुए ।

४२—मनोरथ की सफलता जताने वाली पवन की अनुकूलता के कारन घोड़ों की उठाई धूल से पगड़ी और केश न छुए हुए ।

४३—कमलों की सुगन्धि को, सरोवरों में लहर के झकोरों से सिराई हुई की, अपनी स्वास की होड़ करने वाली को, सूँघते हुए ।

४४—यज्ञ खम्ब के चिन्हों वाले अपने दिये हुए गाँवों में ब्राह्मणों के सफल आशीर्वाद अर्घ से पोंछ लेते हुए ।

आयो रथ-निकट निहारि तजि दीन्ह्यौ मग, दीठि-बाँधि तदपि बिलोकै तेहि कौ लगे ।
ऐसे मृग-दुन्दन के लोचन लखत दोऊ, निज दृग-समता बिचारत चलै लगे ॥ ४०

(१८)

खम्मनि-बिना ही माल दीन्हीं बाँधि तोरन की, कलरव-सारस उठाएँ मुँह देखतैं ।
सानुकूल-पवन बतायौ अभिलाष-पूर, बाजि-रज-केस-सिर-पेंच पै न लेखतैं ।
बीचि सौं बिछोभित-सरोवर-कमल-गंधि, सूँघत स्व-साँस सम जानत बिसेषतैं ।
दान-दीन्हैं-जज्ञ-जय-चिन्हित स्वगाँवन मैं, दुजनि असीस अर्घ देत अवरेषते ॥
४१-४२-४३-४४

४१—सारस पंक्ति बाँध कर उड़ते हैं इससे बिना खम्ब के बन्धन्वार से दीखते हैं ।

४२—पाठ पीछे की पवन चले तो अच्छा सगुन माना जाता है और रथ में बैठे हुओं पर पहियों की धूल भी नहीं पड़ती है ।

हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् ।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् ॥४५॥
काप्यभिख्या तयोरासीद्व्रजतोः शुद्धवेषयोः ।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥४६॥
तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन्प्रियदर्शनः ।
अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः ॥४७॥
स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः ।
सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ॥४८॥
वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः ।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥४९॥

४५—गाय का सद मक्खन लेकर सामने आए हुए बूढ़े घोसों से मार्ग के वन वृक्षों के नाम पूछते हुए ॥

४६—क्या शोभा उन दोनों सुघड़ भेस चलते हुओं की थी मानों योग पाकर शीत से छूटे हुए चित्रा और चन्द्रमा की ।

४७—बुध की उपमा वाले सुघड़ राजा ने रानी को वह (वस्तु) दिखाये हुए गए मार्ग को भी न जाना ।

४८—उस दुर्लभ यश वाले ने, थके वाहनों वाले ने, रानी के साथी ने, साँझ समय उस संयमी महर्षि का आश्रम पाया ।

४९—बनों से लौटते हुए, समिध और कुश और फल लाते हुए, अदृश्य अग्नि के आदर किए, तपस्वियों से भरा हुआ ।

(१९)

लीन्हे नवनीत ठाढ़े बयोबृद्ध गोपनि सौं, बन-मग-बृच्छन के नाम पूछतै गये ।
सुद्ध-बपु-दोहुन की सुषमा बखानै कैसें, हिम-निरमुक्त चित्रा-चन्द्रमा मनौं नये ।
इमि प्रिय-दर्सन दिखावत प्रिया कौं दृश्य, जान्यौं नाहि केती दूरि मग मैं चले गये ।
दुर्लभ सुजस थके-बाहन प्रिया के साथ, आये मुनि आश्रम दिवस-मनि आथये ॥
४५-४६-४७-४८

(२०)

आवत तपोधन पलटि बन घूमनतैं, लीन्हैं निजपानि फल-कुस-समिधा-समेत ।
त्यौंही उठै लागी अग्निहोत्र से अदृश्य अग्नि, तिन मुनि-बृन्दन कौ स्वागत करन-हेत । ४९

४६—हेमन्त ऋतु बीतने पर चैत के महीने में चन्द्रमा की चाँदनी बहुत निर्मल होती है।

४९—अग्नि होत्र की अग्नि छुपाकर रक्खी जाती है इसी से अदृश्य कहलाती है । दूसरा अर्थ यह है कि बन से लौटते हुए तपस्वियों को आदर के लिए पूजा की अग्नि अदृश्य रूप से लेने जाती है । ४९ से ५३ श्लोक तक आश्रम की शोभा का वर्णन ही है ।

आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥५०॥
सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहंगानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥५१॥
आतपात्ययमंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु ॥५२॥
अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥५३॥
अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः ।
तामवारोहयत्पत्नीं रथादवततार च ॥५४॥

५०—पत्तों की कुटी का द्वार रोकने वाले, ऋषि पत्नियों की सन्तान की भाँति धान्य में भाग पाने वाले, मृगों से पूरा हुआ ।

५१—थाँवलों का जल पीने वाले पक्षियों के विश्वास निमित उसी छन मुनि कन्याओं के सींच कर छोड़े हुए पौधों वाला ।

५२—पत्र कुटियों के आंगन की भूमि में, घाम मिटने के दिनों न्यार रक्खी हुईयों में, बैठे हुए हरिणों के डाले जुगालों वाला ।

५३—प्रज्वलित अग्नि के बताने वाले, पवन के उठाए हुए, आहुति की गन्ध मिले हुए, धुओं से आश्रम की ओर आते हुए अतिथों को पवित्र करने वाला ।

५४—"घोड़ों को विश्राम दो" यह आज्ञा सारथी को देकर उसने रथ से उस रानी को उतारा और आप उतरा ।

आश्रम कौ द्वार रूँधि बैठी मृगमंडली है, सुत-सम जामैं ऋधि-तीय रखती हैं हेत ।
और सम-भागनिमैं बाँटिकै निवारनि कौं, जथा समैं तिनकौं अमित मुदमानि देत ॥ ५०

(२१)

सींचि मुनि-कन्यका तरुन-कुम्भ-नीर-भरि, वाही-खन देतीं तिन्हैं छांड़ि हरषाय कैं ।
त्यौंही बिहगावलि निसंक विसवास मानि, पीबैं आलबालनि सौं सलिल अघाय कैं ।
आश्रम के आँगन-अवनि में तपनि-बीते, धरती निवार-रासि अनतैं उठायकैं ।
जहँ मृगमंडली बिहाय भय-भायनि कौं, पागुर करति चाव चौगुनो चढ़ायकैं ॥ ५१-५२

(२२)

प्रेरित पवन सौं लैं आहुति-वलित-गंधि, उठत हुतासन सौं धूमहूँ अमित है ।
आवत जे आश्रम की ओर हैं अतिथिगन, करत पुनीत जात तिनकौ समित है ।
रथ सौं उतरिकैं निदेस दीन्ह्यौं सारथिहि, खोलहु तुरंगम जो अति ही सुमित हैं ।
कर गहि पंकज सौं पानि महिषी कौ नृप, स्यन्दन सौं महि पै उतार्‌यो अति हित है ।५३-५४

तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः ।
अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥५५॥
विधेः सायंतनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् ।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ॥५६॥
तयोर्जगृहतुः पादान्राजा राज्ञी च मागधी ।
तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥५७॥
तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम् ।
पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः ॥५८॥
अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः ।
अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥५९॥

५५—उस नीति की आँखों वाले को, स्त्री सहित को, पूज्य मान रक्षक का, सभा में बैठने वाले जितेन्द्री मुनियों ने सत्कार किया ।

५६—सन्ध्या विधि के अन्त में उसने तप के धनी को पीछे बैठी हुई अरुन्धती सहित देखा, मानों स्वाहा सहित अग्नि ।

५७—उन दोनों के चरण राजा और मगध देश वाली रानी ने छुए और गुरु और गुरानी ने उनको प्रसन्नता से आशीर्वाद देकर सत्कार किया ।

५८—अतिथि सत्कार से रथ के हिलने की थकावट मिटे हुए उस राज्य आश्रम के मुनी को (अर्थात् राजा को) ऋषी ने राज्य की कुशल पूछीं ।

५९—तब उस अथर्व (वेद) के निधि ने सामने बोलने वालों से श्रेष्ठ वैरियों के पुर जीतने वाला राजा, प्रयोजन की बात कहने लगा ।

(२३)

तिय संग नीति-नैस बंद्य-प्रतिपालककौ, सकल-जितेन्द्रिय-मुनिन कीन्ह्यौं सनमान ।
ऋषिहिं बिलोक्यौं संध्या-बिधिहि समापि भूप,साथ ही अरुन्धती के स्वाहा-अग्नि केसमान ।
परसे सदार-गुरु-चरन नृपति-रानि, दम्पति-असीस दैकैं कीन्हौं राज-सनमान ।
पथ-श्रम दूरिकै अतिथि-सतकार ही सौं, पूछ्यौ राज कुसल दिलीप सौं तपो-निधान ॥
५५-५६-५७-५८

(२४)

तबहीं अथर्व-निधि-सामुहें 'बिजित अरि-नगर महीप-बागमी' यों बर बोल्यौ बैन ।
"जासु मानुषी औ' दैवी आपद निवारैं आपु, कैसें तासु सप्त-अंग-राज को कुसल है न ?
५९

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे ।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥६०॥
तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः ।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥६१॥
हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥६२॥
पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः ।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मबर्चसम् ॥६३॥
त्वयैवं चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना ।
सानुबन्धाः कथं न स्युः संपदो मे निरापदः ॥६४॥

६०—मेरे राज्य के सातों अंगों में कुशल क्यों न हो जिसकी दैवी और मानुषी आपदाओं के तुम हरने वाले हो ।

६१—तुम मंत्रकार के मंत्रों से, बैरों को दूर पर मारने वालों से, दीखते हुए बेझे के छेदने वाले मेरे वाण व्यर्थ से हैं ।

६२—ये यज्ञ करने वाले अग्नि में तुम्हारी विधि पूर्वक दी हुई आहुति अकाल से सूखने वाले धानों को बरसा ही तो है ।

६३—पुरुष की आयु तक जीने वाली, निर्भय, ईतियों से बची हुई, जो मेरी प्रजा है सो इसका हेतु तुम्हारा ब्रह्म तेज है ।

६४—तुम ब्रह्म पुत्र गुरु के इस प्रकार सुध लिए हुए मुझ निरापदा की सम्पदा सदा एक सी (अर्थात् अटूट) क्यों न होगी ।

मंत्रवित रावरे सुमंत्रनि प्रभावन सौं, दूरि ही सौं आप होत निधन अराति-सैन ।
याही लागि दृश्य-लच्छ-बेधन हमारे बान, ब्यर्थ ही रहत काम इन सौं कबौं परै न"
६०-६१

(२५)

विधिवत आहुति हुतासन मैं देत यातें, सालि-खेत-बरसा अकालहू मैं होति है ।
पूरन-बयस-जीवी ईति-भीति-हीन प्रजा, रहति निसंक जगे ब्रह्म-तेज-जोति है ।
सोचत रहत ऐसौ जाकौ ब्रह्म-सूनु-गुरु, सम्पति-निरापदेन वाकी क्यौं उदोति है ।
६२-६३-६४

६०—राज्य के सात अंग ये गिने जाते है—राजा, मंत्री, शुभचिन्तक, भंडार, गढ़, देश, सेना ।

६१—तात्पर्य यह है कि मेरे वाण तो दीखते बेझे ही को मारते है, तुम्हारे मंत्र बिना दीखते को भी मार सकते हैं इसलिए मेरे वाण व्यर्थ से हैं ।

६३—सात प्रकार की आपत्यईति कहलाती है अर्थात् अति वर्षा, सूखा, चूहा, टीडी, तोता, मैना का बिगाड़, बैरी की चढ़ाई ।

किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम् ।
न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी ॥६५॥
नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः ।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥६६॥
मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया ।
पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते ॥६७॥
सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः ।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः ॥६८॥
लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।
संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥६९॥

६५—परन्तु तुम्हारी इस वधू से अपनी अनुहार की सन्तान न देखे हुए मुझको रत्न उपजाने वाली पृथ्वी द्वीपों समेत भी नहीं भाती है।

६६—सत्य है मेरे पीछे पिंड का लोप देख कर मेरे पुरखे, स्वधा इकट्ठी करने में लगे हुए, आदु में इच्छा पूर्वक भोजन नहीं करते हैं।

६७—सत्य है मेरे पीछे जल मिलना दुर्लभ मान कर मेरे पुरखे मेरे दिए (जल) को अपनी ही श्वासों से कुछ तत्ता कर के पीते हैं।

६८—मैं यज्ञ करके शुद्ध अन्तःकरण, सन्तान के होने से अन्धा प्रकाशवान और अप्रकाशवान हूँ, जैसे लोका लोक पर्वत।

६९—तप और दान से उत्पन्न होने वाला पुत्र परलोक में सुखकारी होता है, शुद्ध वंश की सन्तान तो इस लोक और परलोक में कल्याण देती है।

तौहू अपने सौं बिन देखे तो बधू कौं पूत, दीपवती बसुधा लगत मोहि पोति है ? ६५

(२६)

मेरे गत-होत पिंड-छय के बिसंकी स्वधा—संग्रही-पितर श्राद्ध खात न अघाय कैं।
दुरलभ जानि, मेरी दीन्हीं-जल-अंजलि कौं, पियत सखेद दीह-साँस नित ल्यायकैं।
जज्ञ-सुद्ध-मानस-निबृत-रहिवेतैं भयो, जोति-तम लोकालोक-गिरिसम आयकैं।
होत परलोक-सुखकारी तप-दान-पुन्य, सन्तति पुनीत दुहूँ-लोक सुख-दायकैं॥
६६-६७-६८-६९

६६—जैसे अकाल के लच्छन देखकर मनुष्य आगे के लिए खाने पीने की वस्तु इकट्ठी करता है।

६७—सोच के मारे बड़ी स्वास लेने से मुँह के सामने जल कुछ तत्ता हो जाता है।

६८—लोका लोक पर्वत के भीतर चन्द्र सूर्य इत्यादि सब यह चलते रहते हैं इससे प्रकाश रहता है और बाहर निरा अन्धेरा है।

तया हीनं विधातर्मां कथं पश्यन्न दूयसे ।
सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद्वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् ॥७०॥
असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे ।
अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः ॥७१॥
तस्मान्मुच्ये यथा तात संविधातुं तथार्हसि ।
इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ॥७२॥
इति विज्ञापितो राजा ध्यानस्तिमितलोचनः ।
क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव ह्रदः ॥७३॥
सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम् ।
भावितात्मा भुवो भर्तुरथैनं प्रत्यबोधयत् ॥७४॥

७०—तिस करके मुझ हीन को (अर्थात् बिना सन्तान वाले को) देखकर हे विधाता क्यों तुम दुखी न होगे, जैसे प्यार से अपने सींचे हुए आश्रम के निष्फल पौधे को ।

७१—हे भगवान मेरी पितृ ऋण पीड़ा को असह्य जानो, जैसे बँधे हुए (अथवा बिना न्हाए हुए) हाथी के मर्म छेदने वाले खम्ब को ।

७२—उससे जिस भाँति मैं छूटूँ सो हे तात तुम करने को योग्य हो । कठिन बातों में इक्ष्वाकुवंशियों की सिद्धि तुम्हारे ही आधीन है ।

३३—इस प्रकार राजा का निवेदन किया हुआ ध्यान में आँख मूँदने वाला ऋषि छन मात्र चुपचाप हुआ, मानो सोई हुई मछलियों का ताल ।

७४—उस शुद्धात्मा ने पृथ्वी पति की सन्तान रुकने का कारण ध्यान करके देखा फिर उसको जताने लगा ।

(२७)

निज कर-सीच्यौं अति-नेह सौं उटज-तरु, जैसे फल-हीन कबहूँ जो रहि जात है ।
ताहि सम मोहि विन-सन्तति निहारि कहौ, मुनिराज क्यौं न हियो रावरो पिरात है ?
अब यह दीरघ-दुसह पितरान-रिन, दुरद अलान सौ दुखद दरसात है ।
जासौं होंहुँ उरिन, जतन सोइ कीजै बेगि, रघुकुल-सिद्धि तौ तुम्हारे हाँथ तात है ।
७०-७१-७२

(२८)

या बिधि सुनत महिपाल के बिनीत-बैन,मूँदे मुनिराज नैन ध्यानहिं लगायकैं ।
लीन्ह्यौं गहि मौन, थोरी देर लौं तबैही मीन, संकुल-सरोवर की सुखमा लजायकैं ।
भूपति-दिलीपजू कौ सन्तति-बिरोध-हेतु, इमि गुरु-देव निज-मन-ठहराय कैं ।
नृप-तन हेरि करि कलित-कृपा की कोर, लागे कहै बचन नरेसहिं सुनायकैं ॥
७३-७४

७१—असह्य=जो सहा न जाय ।

पुराशक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः ।
आसीत्कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥७५॥
धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन् ।
प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः ॥७६॥
अवजानामि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति ।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥७७॥
स शापो न त्वयाराजन्न च सारथिना श्रुतः ।
नदत्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे ॥७८॥
ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः ।
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥७९॥

७५—आगे इन्द्र की सेवा करके पृथ्वी की ओर लौटते हुए तुम्हारे मार्ग में सुरभी कल्पवृक्ष की छाया में बैठी थी ।

७६—धर्म लोप के डर से ऋतु खान की हुई इस रानी को मुग्ध करते हुए तुमने उस प्रदक्षिना योग्य का सन्मान न किया ।

७७—मेरी तू अवज्ञा करता है इसलिए मेरी सन्तान के आराधन किए बिना तेरी सन्तति न होगी, इस प्रकार उसने तुम को शाप दिया ।

७८—हे राजा उस शाप को आकाश गंगा के प्रवाह से खुले दिग्गजों का शब्द होते हुए न तुमने सुना और न सारथी ने ।

७९—अपने मनोरथ को तुम उसकी अवज्ञा से रुका हुआ जानों । पूज्य की पूजा का ऊल्लंघन कल्यानों को रोकता ही है ।

(२९)

आवत सुरेसैं मिलि, मग मैं धरा की ओर, कल्प-तरु-छायासीन-सुरभिहिं देखिकैं ।
आपु रितु-न्हानी-महारानी कौं सुमिरि, धर्म्म-लोप-भय-मानि सनमान्यौं नाहिं पेखि कैं ।
"ह्वै है मम सन्तति न सेये बिन तेरे सुत", दीन्ह्यौ स्राप आपनैं अनादर कौं लेखिकैं ।
व्योम-गंग-दिग्गज-चिकार-रव-पूरि रह्यो, यातैं तुम-सारथि सुन्यौं न सो बिसेखि कैं ।
७५-७६-७७-७८

(३०)

सोई सुर-धेनु कौ निरादर महिप-मनि, तुव अभिलाष कौ निरोधन करत है ।
पूजनीय पूजा कौ उलंघन जगत माहिं, सकल-सुमंगल की मूलनि-दरत है । ७९

हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः ।
भुजंगपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥८०॥
सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः ।
आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुधा हि सा ॥८१॥
इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम् ।
अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुरावव्रृते वनात् ॥८२॥
ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला ।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं संध्येव शशिनं नवम् ॥८३॥
भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि ।
प्रस्नवेनाभिवर्षन्ती बत्सालोकप्रवर्तिना ॥८४॥
रजःकणैः खुरोद्धूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात् ।
तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः ॥८५॥

८०—सो (सुरभी) तो आज कल बहुत काल के यज्ञ करने वाले बरुण को हविष देने के निमित साँपों से रुके हुए द्वारा वाले पाताल में गई है ।

८१—उस गऊ की बेटी को उसके ठौर मानकर तुम शुद्ध मन से रानी समेत आराधन करो, प्रसन्न होने पर वह कामना देने वाली है ।

८२—उस होता के इतने कहते ही उसकी आहुति साधने वाली नन्दिनी नाम अनिन्दित गऊ वन से लौट कर आई ।

८३—कोंपल समान कोमल और लाल रंग वाली माथे पर श्वेत वालों का कुछ बाँका टीका धारण किए हुए, जैसे नये चन्द्रमा की सन्ध्या,

८४—कुंड समान ऐन वाली यज्ञ के जल से भी पवित्र दूध से, बछड़े के देखने पर, उतरे हुए से, कुछ एक तत्ते से धरती को भिगोती हुई,

८५—खुरों से उठे हुए, समीपता के कारण शरीर को छूते हुए, रज के कणों से राजा को तीर्थ स्नान की शुद्धि देती हुई ।

बसत पताल सो भुजंगन-पिहितद्वार, हव्यहेतु, दीर्घसत्र बरुन करत है ।
भूपति स-दार पूजौ प्रतिनिधि वाकी सुता, तोषित भये तैं काज पूरन करति है । ८०-८१

(३१)

मुनि-मख-साधना-अनिंद्य-नंदिनी वा धेनु, आइ गई एतोई कहत उतै बन तैं ।
धारे ही ललाट पै सगुच्छ सध्या-ससि-सम, किसलय-कोमल औ' पाटल स्वतनु तैं ।
बच्छहि बिलोकि जज्ञ-पथ सौं पुनीत पथ, महि पै बहावत स्वकुंड-सौं थनन तैं ।
करत पुनीत नृप-गातनि परसि बेस, तीरथ सलिल-खुर-रेनु के कनन तैं ॥ ८२-८३-८४-८५

८०—घी, दूध, दही इत्यादि यज्ञ की सामग्री को हविष कहते हैं ।

८२—होता=यज्ञ करने वाला ।

तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः ।
याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत् ॥८६॥
अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन्विगणयात्मनः ।
उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् ॥८७॥
वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम् ।
विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि ॥८८॥
प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाःस्थितायां स्थितिमाचरेः ।
निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिबेरपः ॥८९॥
वधूर्भक्तिमती चैनामर्चितामातपोवनात् ।
प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्व्रजेदपि ॥९०॥
इत्याप्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव ।
अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम् ॥९१॥

८६—उस पवित्र दर्शनी को देखकर शकुन जानने वाला, तप का धनी, सफल मनोरथ के प्रार्थी यजमान से फिर बोला—

८७—हे राजा अपनी सिद्धि निकट आई गिनो क्योंकि नाम लेते ही यह कल्यानी सामने आई है।

८८—तुम बन के कन्द मूलादि खाते हुए इस गाय को निरन्तर इसके पीछे चलने वाले बन कर प्रसन्न करने के योग्य हो, जैसे अभ्यास से विद्या को ।

८९—इसके चलने में तुम चलो, ठैरने में ठैरो, बैठने में बैठो, पानी पीने में पानी पीयो ।

९०—और भक्ति सती वधू भी इस पूजी हुई के पीछे शुद्ध मन होकर तपोबन के अन्त तक प्रातः काल जाय और साँझ को सन्मुख मिले ।

९१—इस प्रकार इसकी प्रसन्नता तक तुम शुश्रूषा करते रहो, तुम्हारा कल्याण हो, पिता सरीखे पुत्रवालों में तुम मुख्य ठैरो ।

(३२)

देखि पुन्य-दर्सना गऊ कौ सगुनौती गुनि, पूर्न-अभिलाष-प्रारथी सौं मुनि बोल्यो बैन ।
"नाम ही के लेत यह सनमुख आई भूप, सफल मनोरथ मैं रंचक हू संक हैन ।
कंद-मूल-असन करौ औ' रहौ याके साथ, बिद्या ज्यौं अभ्यास सौं बनत सबै सुख दैन ।
चलत चलौ, औ' ठाढ़े होहु जबै ठाढ़ी होय, बैठी जबै बैठे, पय पीवौ जबै पीवै धेनु ॥
८६, ८७, ८८, ८९

(३३)

सुद्धमना-भक्ति मती ! महिषी प्रभात तपौ, बन लौं पठाय याहि साँझ कौं बुलावै जाय ।
जौ लौं नहिं तोषै, तौ लौं सेवहु बिघन टारि, निज पितु ही लौं भूरिभागी होहु सुत पाय ।"
९०-९१

९१—जिनके बेटे बाप सरीखे हैं उनमें तुम मुख्य हो ।

तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः ।
आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः ॥९२॥
अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशांपतिम् ।
सूनुः सूनृतवाक्स्रष्टुर्विससर्जोर्जितश्रियम् ॥९३॥
सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः ।
कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम् ॥९४॥
निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥

९२—"ऐसा ही हो" (यह कहकर) उस प्रीति मान सपत्नी के सुशील देश काल जानने वाले शिष्य ने गुरु की आज्ञा ग्रहण की ।

९३—फिर रात में ब्रह्मा के उस सत्यवादी विवेकी बेटे ने श्रीमान पृथ्वीपति को सोने की आज्ञा दी ।

९४—नियम के कारण वृत्त व्यवहार जानने वाले मुनि ने तप की सिद्धि में भी उसको बनवास ही की सामग्री बतलाई ।

९५—कुलपति की दिखलाई हुई पत्त कुटी में जाकर उस पतिव्रता के साथी ने, कुशासन पर सोते हुए ने, उसके चेलों के पढ़ने से जाने हुए भोर वाली रात्री बिताई ।

मान्यौं मुनिराज कौ निदेसहि स-दार भूप, देस-काल-वित प्रेम-युत निज सीस नाथ ।
ज्ञानी-सत्यवादी-ब्रह्म-सुत कह्यो राति भई, भाग्य-साली भूमिपति अब तुम सोवौ जाय ॥
९२-९३

(३४)

उपजाति कुंडलियाँ

नियम-हेतु तप-सिद्धमहँ जानत ब्रत-ब्यवहार ।
नृपहि बतायो सम्बिधहि, बन-निवास-अनुसार ॥
बन-निवास-अनुसार पर्नसाला दिखराई ।
बनिता-सहित निवास कियौ तामैं नृप जाई ॥
दीन्ह्यौं बटु-अध्ययन निसा-अवसान बताई ।
करि कुस-आसन-सैन भूप सब रैनि बिताई ॥ ९४-९५

———

९४—मुनी को अपने तप की शक्ति से सामर्थ थी कि राजा के ठैरने को राजाओं का सा स्थान देता परन्तु तपस्या के नियमों को विचार कर उसने पत्तों की झोंपड़ी में राजा को ठैराया ।

९५—वेद का पढ़ना पिछली रात का है । कुल पति=मुनियों के कुल का नायक जिसने ग्यारह सहास्र विद्यार्थियों को भोजन देकर वेद पढ़ाया हो ।

॥ द्वितीयः सर्गः ॥

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥१॥
तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥२॥
निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।
पयोधरीभूतचतुः समुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥३॥

दूसरा सर्ग

नन्दिनी का दिलीप को वरदान देना

१—रात्रि व्यतीत होने पर प्रजाओं के स्वामी यश के धनी ने रानी की दी हुई गंध और माला धारन करने वाली, दूध पीकर बाँधे हुए बछड़े वाली, मुनि की गाय बन के लिये खोली ।

२—राजा की धर्म पत्नी, पतिव्रताओं के आगे कीर्तन योग्य, उसके खुर पड़ने से पवित्र धूल वाले मार्ग में पीछे-पीछे चली जैसे श्रुति के अर्थ के (पीछे) स्मृति ।

३—रानी को लौटा कर दयावान राजा ने, यशों से सुशोभित ने, उस चार समुद्र रूपी थनों वाली सुरभी की बेटी की रक्षा की, मानो गऊ रूप में पृथ्वी की ।

दूसरा सर्ग

सवैया

(१)

कूजन लागे बिहँगन के गन, लालिमा अम्बर मैं कछु छाई ।
पूज्यौं नरेस-तिया रिषि-धेनुकौं, अच्छत-गंध औ' माल चढ़ाई ।
बाँध्यौ दिलीप-महीप बछाहिं, पियौ जेहिनैं हुतौ छीर अघाई ।
कानन माँहि चराइबें काज, जसो-धन खोल्यौ मुनीस की गाई ॥

(२)

पग धारिकैं जा मग-रेनु कौं धेनु, पुनीत हुती किती बार बनाई ।
पति-देव-तियानि मैं जा की सुरेख, बिरंचि महा मुद मानि सँचाई ।
तन-छाँह-सौं रानि चली नृप के सँग, या बिधि सौं सुखमा बगराई ।
स्रुतिअर्थन के ज्यौं चलै अनुकूल, सबै बिधि सौं स्मृति आपु सुहाई ॥

(३)

सिन्धु अगाध दया के महीप, रहे अपने जससौं छबि छाई ।
जाय कैं थोरिहि दूरि, दियौ, नरनायक नैं बनिताहिं फिराई ।
चारिहुँ-सिन्धु-पयोधरसौं, बसुधा जो रही सुरभी लौं सुहाई ।
पालन वाकौ कियौ नरपाल, हियैं निज चौगुनौं चाव चढ़ाई ॥

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोप्यऽनुयायिवर्गः ।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥४॥
आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥५॥
स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥६॥

४—उस व्रत निमित गऊ के पीछे चलने वाले ने सेवकों की रही सही भीड़ भी छोड़ी । उसके शरीर की रखवाली और किसी से न थी, मनु की सन्तान अपने पराक्रम ही से रक्षित है ।

५—घास के स्वादीले ग्रासों करके, खुजलाने करके, मक्खी मच्छड़ हाँकने करके, बिना रोक-टोक मन मानी फिरने देने करके, वह राज राजेश्वर उसकी सेवा में तत्पर हुआ ।

६—ठैरी को ठैरे ने, चलती को चलते ने, बैठों को आसन बाँधे धीर ने, पानी पीती को पानी पीते ने, राजा ने उसको सेवन किया, मानो परछाईं ने ।

(४)

या बिधि धेनु को सेवत आपु, महीप सप्रेम महा-ब्रत-धारी ।
फेरि दियौ उन सेवक-बृन्दनि, सेस लगे जे नरेस पिछारी ।
आपने ही बल सौ मनुबंस-विभूति करै अपनी रखवारी ।
औरन के न भरोसे रहै, कबहूँ कुल की मरजाद बिचारी ॥

(५)

लैकैं सुस्वाद-सनी हरी घासहिं, आपने हाथ स-नेह खवावत ।
डाँसनिहू कौं उड़ाय कबौं, निज पानि सौं देह कहूँ खजुवावत ।
जात सुछन्द चली जहाँ धेनु, तहाँ-तहाँ जात महीप सुहावत ।
या बिधि सौं मनु-बंस-निकेत, रहे तेहि सेवन मैं मन लावत ॥

(६)

ठाढ़ी भई जित ही चलि धेनु, महीपहु ठाढ़े भये तहाँ जायकैं ।
औ' जहाँ बैठि गई सुरभी, नरनाथहू बैठि गये हरषायकैं ।
पानि यौं डार्‌यो तबै मुख माँहि, पियौ जबहीं जल गाय अघायकैं ।
या बिधि भूपति संग चले, उपमा तन-छाँह की मंजु लजाय कैं ॥

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः ।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥७॥
लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम् ।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्वान् ॥८॥
विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य ।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः ॥९॥

७—(चमर छत्रादि) चिन्हों के बिना भी तेज की विशेषता से अनुमान होने वाली राज लक्ष्मी को धारण किये हुए वह छुपी मद रेखा वाले भीतर मद रक्खे हुए हांथी के समान हुआ।

८—लता बेलों से गुथे केशों सहित वह चढ़े धनुष वाला बन में बिचरा, मानों मुनि की यज्ञ धेनु की रखवाली के मिस से बन के दुष्ट जीवों को दबाता हुआ।

९—उस सेवकों के छोड़े हुए के, वरुण की उपमा वाले के, दोनों ओर के वृक्ष उन्मत पक्षियों के चुहचाहट से जयकारा सा बोलते थे।

(७)

चामर-छत्र महीप के चिन्ह, दिलीप सबै मुदमानि कैं त्यागे।
पै निज-तेज बिसेषसौं भूप, धराधिप आपु सबै बिधि लागे।
ज्यौं मदवारि के धारन की, मदरेख नहीं दरसावत आगे।
वा गजराजहिं की सुखमाहिं, लजाय चले नरनाह सभागे॥

(८)

कुंचित-केस-कलापनि मंजु, लतानि-प्रताननि खैंचि बनाये।
औ' बिचरै लग्यौ कानन मैं, रतिनायक ज्यौं सर-चाप चढ़ाये।
त्यौं मुनि-धेनु के रच्छनकाज, महीपति कानन मैं यौं सुहाये।
हिंसक-जीवनकौं बनके, मनौं प्रेम की पाटी पढ़ावन आये॥

(९)

जल-भूप लौं धारैं महा तप-तेज, महीप जबै बन-भूमि मैं आये।
और आवन सौं पहिले ही उतै, सब सेवक फेरे, खरे मन ताये।
बर पादपराजि महामुदमानि, धराधिप के जय-घोष सुहाये।
मद-माते बिहंगम के कल-कूजन, ब्याज हीं सौं मनों गाय सुनाये॥

---

(७) अभिप्राय यह है कि यद्यपि दिलीप के पास उस समय राज लक्ष्मी के चिन्ह चमर आदि कुछ न थे तो भी उसके प्रताप ही से राज लक्ष्मी जानी जाती थी जैसे किसी हाथी के सिर से मदका चूना प्रकट भी नहीं हुआ हो तो भी उसके भीतर मद होना जाना जाता है।

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्त्तमानम् ।
अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥१०॥

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्तन्करणैर्विशङ्कैः ।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ॥११॥

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम् ।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥१२॥

१०—और पवन की हिलाई हुई नई लताओं ने उस समीप आते हुए को, अग्नि समान तेजस्वी पूज्यमान को, फूलों से छाया मानों पुर की कन्याओं ने आदर की खीलों से ।

११—उस धनुष धरे हुए के भी शरीर को, निधड़क अन्तःकरण के जताए हुए दयाभाव वाले को, देखती हुई हरणियों ने आँखों की बड़ी बड़ाई का फल लिया ।

१२—बाँसली का काम पवन भरे रन्ध्रों वाले शब्दायमान बाँसों से होते हुए उसने कुँजों में वन देवताओं का ऊँचे स्वर से गाया हुआ अपना यश सुना ।

(१०)

पौन प्रचंड सौं प्रेरित ह्वै कैं, कितीं तहाँ लौनीं लताँ अनुरागीं ।
बन्दन-जोग महीप पै, जासु, कलेवर-ओप बरै मनौ आगी ।
मंजु-प्रसूननि की अवली, यहि भाँति दिपै बरसावन लागी ।
पौर की कन्याएँ जनि लै, जथा औसर डारैं महारसपागी ॥

(११)

धेनु के पाछैं दिलीप-महीप, चले बन मैं सर-चाप चढ़ाये ।
देखन लागीं तऊँ हरिनीं, नरनायक की दिसि दीठि लगाये ।
जानि उन्हैं वे महाछमावान, सबै हिय के भय कौं बिसराये ।
या बिधि आपने आयत-चारु-बिलोचन कौ सबहीं फल पाये ॥

(१२)

कीचक-छेदनि मैं भरि कैं, निकरें कहूँ तीखे समीरन जाई ।
कानन-कुंजनि मैं बन-देव, रहे नृप की कल-कीरति गाई ।
माधुरता औ' मनोहरता में, करै मुरली-धुनि की समताई ।
दोहुँन के मृदु मंजु अलापकी, तान परी नृप कानन आई ॥

१०—रीत है कि जब राजा नगर में आवे पुर की कन्या उस पर खीलें बरसाती हैं और जब राजा नगर से बाहर जाय यही उपचार पुर की बूढ़ी स्त्री करती हैं ।

११—धनुष धारण किये हुये भी वह दयावान दिखलाई दिया ।

१२—पोले बाँसों के छिद्रों में पवन की ध्वनि हुई सोई मानो बन देवताओं ने दिलीप का यश गाया ।

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥१३॥

शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने ॥१४॥

संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥१५॥

१३—पहाड़ के झिरनों के तुषार से मिली हुई, वृक्षों के कुछ हिलते हुए फूलों से सुगन्धित, पवन ने उस बिना छत्र वाले को, घाम के सताए हुए को, आचार शुद्ध को सेवन किया ।

१४—बन में उस रक्षक के फिरने पर वर्षा के बिना भी दावानल बुझी, फल फूलों की अधिक वृद्धि हुई, पशुओं में निबल को सबल ने न सताया ।

१५—चलने से दिशाओं को पवित्र करके दिन के अन्त में नई कोंपलों के से लाल रंग वाली सूर्य की प्रभा और मुनि की गऊ स्थान को लौटी ।

(१३)

पहारनि के झरनानि के सीतल, बारि-कनानि कौं संग उड़ाय ।
हलाय कैं पादप-पुंजनि कौ, पुहपानि की गंध लियैं सुखदाय ।
महीपति कौं यहि भाँति सौं पौन, दियौ सिगरौ मग-खेद भजाय ।
धरैं नहिं छत्र, पवित्र चरित्र, तपे-रवि सौं जे रहे दुख पाय ॥

(१४)

पावन-पाथकी एक हू बूँद, कहूँ बसुधा पै परी हुती नाहीं ।
तौहूँ बुझाय गई सबै आगि, लगी जो हुती घने कानन माहीं ।
औ' बल-साली केहूँ बन-जंतु, दियो दुख नेकु न निर्बल काहीं ।
पादप देन लगे फल-फूल, जहाँ धनु-धारैं चले नृप जाहीं ॥

(१५)

कानन-भूमि के छोरनि लौं, गति मंजु सों दोहुनि दिव्य बनाई ।
दोहुन मोद सों आपने आपने, गेहनि जाइबे की ठहराई ।
नूतन-पल्लव की रँग-चोर-प्रभा रवि की चढ़ी सृङ्गनि जाई ।
औ' मुनि-धेनु इतै सुख सौं, निज आश्रम ओर चली हरषाई ॥

तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ।।१६।।
स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानिपश्यन् ।।१७।।
आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद्गृष्टिर्गुरुत्वद्वपुषो नरेन्द्रः ।
उभावलंचक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तपथं गताभ्याम् ।।१८।।

१६—उस देवताओं और मित्रियों और अतिथों के कार्य साधने वाली के पीछे मध्यम लोक का राजा चला और उस अच्छों के माने हुए के साथ में वह सुशोभित हुई, मानों विधि के साथ में साक्षात श्रद्धा ।

१७—वह उथले कुँडों से निकलते हुए सुअरों के झुंडों वाले बसेरे के वृक्षों की ओर आते हुए मोरों वाले, मृगों के बैठने को हरी घास वाले, श्याम बनों को देखता हुआ चला ।

१८—पहलोन गाय ने ऐन का बोझ सँभालने के यत्न से (और) राजा के शरीर के भारीपन से, दोनों से मनोहर चालों से तपोबन के लौटने का मार्ग शोभित किया ।

(१६)

देवता-पितृ तथा अतिथिनि के, जो सत्कार कौ आपु सजाये ।
वा सुरभी के पिछारीं लगे, महिपाल चलैं अतिसै सुख पाये ।
देखि के दोहुनि की सुखमाहिं, बिचार नये हिय में इमि आये ।
स्रद्धा मनौ बनि मूर्तिमती, सदाचारनि संग महाछबि छाये ।।

(१७)

छोटी तलैयिन सौं कढ़तैं, नृप केते बराह के वृन्दन लेखे ।
त्यौं ही अवास महीरुह की दिसि, मंजु-मयूरनि आवत पेखे ।
बैठे हरेरी महीपै तहाँ, हिरनानि के-जूहनि कौं अवरेखे ।
ह्वै रही स्याम धरा जिनसौं, बन-भागनि ऐसे दिलीपै देखे ।।

(१८)

पीवर-चारु-कलेवर होनसौं, मन्द-ही-मन्द महीप सिधाये ।
चारिहूँ पाय पयोधर कौ, सुरभीसन भबर-न-जात उठाये ।
या बिधि सौं जबहीं दोउ लौटि, बसिष्ठ-मुनीस के आश्रम आये ।
आपनी-आपनी चालनि सौं, बन मारग कौं रमनीक बनाये ।।

वशिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्त्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥१९॥
पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव संध्या ॥२०॥
प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥२१॥

१९—उस वसिष्ठ की गाय पीछे चलने वाले को, बन से लौटते हुए को, मँदते में अलसाते पलकों वाली रानी ने उपासी सी आँखों से पिया ।

२०—मार्ग में राजा की आगे की हुई और रानी की आगे से ली हुई वह गाय उन दोनों के बीच में शोभायमान हुई, मानो दिन और रात के बीच में गई हुई सन्ध्या ।

२१—उस गऊ को प्रदक्षिना और प्रणाम करके अक्षत सहित पात्र हाथ में लिये हुए सुदक्षिना ने उसका चौड़ा मस्तक पूजा, मानों मनोकामना की सिद्धि का द्वार ।

(१९)

कानन-भूमि सौं प्रानप्रिया, महिपालहिं लौटत रानि निहारी ।
आवत मन्द-ही-मन्द हुते, जे बसिष्ठ-मुनीस की धेनु पछारी ।
आरस सौं झपके बरुनीनि के, कोरनि हूँ कौं सकी नहिं डारी ।
भूप को रूप-सुधा, सम बारि, पियौ तिय प्यासे-बिलोचन बारी ॥

(२०)

मुनीष की धेनु के आगें भई, मग माहिं नरेसतिया सुखदाय ।
चले तेहि पाछैं दिलीप महीप, नहीं तिनकी समता दरसाय ।
तिन्हैं यहि भाँति सौं आवत देखि, बिचार रह्यौ हिय मैं इमि-आय ।
मनौं निसि-द्यौस के बीच लसै, अनुरागिनी संध्या महाछबि छाय ॥

(२१)

अच्छत-पात्र लियैं कर-कौंल मैं, आई दिलीप महीप की रानी ।
त्यौंही बसिष्ठ तपोधन धेनु की, भाँवरैं केतीं भरीं मुद मानी ।
नन्दिनी के युगसृंग के मध्य कौ, भाल बिसाल महा सुखदानी ।
पूज्यौ नरेस-तिया तेहिं मंजु-मनोरथ-सिद्धि के द्वार सौं जानी ॥

१९—आँखों से पिया अर्थात् बहुत चाव से देखा ।

२०—राजा की दृष्टि पहाड़ की शोभा देखने में लगी इसलिये उसने नाहर गाय पर झपटता हुआ न देखा ।

वत्सोत्सुकापि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहोत्सेति ननन्दतुस्तौ ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥२२॥

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सांध्यं च विधिं दिलीपः ।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥२३॥

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।
क्रमेण सुप्तामनु संविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥२४॥

२२—उस बछड़े के हेज वाली ने भी ठैर कर पूजा ली इससे वे दोनों प्रसन्न हुए, क्योंकि भक्ति वालों में ऐसों की प्रसन्नता के चिन्ह फल का हेतू होते हैं ।

२३—स्त्री सहित गुरु के चरनों को वन्दना करके और सन्ध्याविधि को समाप्त करके भुजाओं से वैरियों के उखाड़ने वाले दिलीप ने दुहने के अन्त में बैठी हुई गऊ को फिर भी सेवन किया ।

२४—उस पूजा और दीपक सामने रक्खी हुई की सेवा करके वह रक्षक स्त्री समेत क्रम से सोई हुई के पीछे सोया भोर जगी हुई के पीछे उठ खड़ा हुआ ।

(२२)

छीर बछाहि पियावन काज, हुती अतिसै सुरभी अनुरागी ।
पै वह ठाढ़ी रही तेहि ठाँव, लही पुनि पूजा आनन्द सौं पागी ।
या बिधि ताकौ लखैं सदु-भाव, प्रतीतिहूँ दम्पति के जिय जागी ।
कामदुधा के प्रसादहि सौं, फल पाइ कैं भक्त बनैं बड़भागी ॥

(२३)

आपने बाहुन के बल सौं, जे अरातिन-बृन्दनि कौं बिचलाये ।
संग तिया के तेई सुखदानि, स-दार-गुरू-पद बंदन आये ।
द्यौस के बीतत ही पुनि संध्या-क्रिया कौं महीप सबैं निबटाये ।
दोहन के अवसान भयें, सुरभी कौ दुऔ पुनि सेवन आये ॥

(२४)

वा सुरभी के समीप धरचौ, बलि और प्रदीप महा अनुरागे ।
मागधी और दिलीप-महीप, विभावरी मैं तहाँ आय सभागे ।
सोय गई वह धेनु जबै, तबहीं बर दम्पति सोवन लागे ।
प्रात ही ताहि प्रबुद्ध बिलोकि, दुऔ क्रम सौं निदिया तजि जागे ॥

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्त्तेः ।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥२५॥

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः ।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥२६॥

सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥२७॥

२५—इस भाँति सन्तान के निमित रानी सहित व्रत धारण करते हुए उस बड़े कीर्तिमान के, दोनों का उद्धार करने वाले के, तिगने सात (अर्थात २१) दिन बीत गए ।

२६—और वे दिन अपने सेवक का भाव जानने की इच्छा करती हुई मुनि की होम धेनु ने गंगाद्वार पर बढ़ी हुई घासवाली हिमाचल की गुफा में प्रवेश किया ।

२७—इसलिये कि "हिंसकों को यह मन से भी दुर्लभ है" पहाड़ की शोभा में दृष्टि लगाये हुए राजा ने अन देखे झपटते सिंघ ने वह (गाय) अकस्मात पकड़ी ।

(२५)

चारु पवित्र चरित्र महीप नैं, पूरबही जस भूरि कमाये ।
दीनन के त्यौं उधारन माहिं, सबै बिधि सौं तन औ' मन लाये ।
संग पुनीत प्रिया कौं लियैं, ब्रत संतति के हित धारि सुहाये ।
या बिधि सौं बन मैं रहि कैं, तिन द्यौस इकीस सनेम बिताये ॥

(२६)

सेवत भूपति मौकौं सदा रहैं, बाइस द्यौंसनि सौ स्रम-हारी ।
पै परखौं इन कौ अब भाव, यहै अपने मनमाहिं बिचारी ।
देवधुनी के प्रताप-समीप, उगी जहाँ घास हरी-हरी प्यारी ।
भूधर-राज-गुहा महँ सो, चरतै-चरतै मुनि-धेनु पधारी ॥

(२७)

हिंसक-जन्तु हू या बन के, मनहूँ सौं नपाय सकैं यहि काहीं ।
या लगि भूधर की सुषमाहिं, निहारत भूप चले मग जाहीं ॥
तौ लगि आय उतै तड़प्यौ, इक केहरि, जाकौ लख्यौ नृप नाहीं ।
और अचानक ही तेहिं कूदि, दबाइ लई मुनि धेनु तहाँहीं ॥

तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥२८॥

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥२९॥

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः ॥३०॥

२८—गुफा में रुके भारी शब्द वाले उसके डकराने ने दुखियों के रक्षक राजा की पर्वत में लगी हुई दृष्टि हटाई, मानो रस्सी में लेकर ।

२९—वह धनुषधारी ने पीले गाय पर बैठा हुआ केहरी देखा, मानो कि गेरू के पहाड़ की कुक्षा में फूला हुआ लोध का वृक्ष ।

३०—तब मारने योग्य सिंघ ने मारने को सिंघ समान चाल वाले राजा ने (दुखियों के) शरण देने वाले ने बैरियों को बल से ऊखाड़ने वाले ने, रोस में आकर निषंग से बान निकालना चाहा ।

(२८)

धेनु नैं भीति भरे सुर मैं, डकराय कैं कीन्हीं गुहारि घनेरी ।
बाहर जाय सकी नहिं सो, वा गुहाहिं मैं गूँजि भरी बहुतेरी ।
भूधर की सुषमाहिं निहारति, ही हुती दीठि महीपति केरी ।
दाम सौं बाँधि कैं वाकौं मनौं, सहसा कोउ वा दिसि कौं हठि फेरी ॥

(२९)

तौ लौं धनुर्धर भूपति नैं सहसा निज दीठि मृगेस पै डारी ।
पाटल-रंग-मुनीसकी धेनु पै, बैठौ लख्यौ बनराज पछारी ।
गेरू-महीधर-सृंग पैं लोध कौ पादप जैसे लसै छबि-धारी ।
या बिधि गायकौं बैठौ दबाय, मृगाधिपै लीन्ह्यौं नरेस निहारी ॥

(३०)

चालि सौं आपनी भूपति नैं, मृगराजनहूँ कै गुमान गराये ।
दै सरनागत कौ अभैदान, अरातिन कौं रन मैं बिचलाये ।
हार-सी जाति कै आपनी, नाहरै मारिबे की मन मैं ठहराये ।
बान निषंग तैं काढ़न चाह्यौ, रँगे रस-रौद्र में भूप सुभाये ॥

३०—निषंग तरकश को कहते हैं ।

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥३१॥
बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भागीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ॥३२॥
तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥३३॥

३१—उस प्रहार करते हुए का दहना हाथ वाण की पूँछ ही में, नखों की कान्ति से शोभायमान कंक पंख वाली में, अँगुली लगा हुआ रह गया, मानो चित्र में लिखा हुआ ।

३२—बाँह रुकने से कोप बढ़ा हुआ राजा, सामने खड़े अपराधी को छूने की सामर्थ न रखने वाले अपने तेजों से अन्तःकरण में जला, जैसे मंत्रों या औषधियों से किये हुए पराक्रम वाला साँप ।

३३—उस आर्य सखा को, मनुवंश की ध्वजा को, अपनी दशा पर चकित को, सिंघ समान बलवान को, गऊ के पकड़ने वाले सिंघ ने मनुष्य की बोली में अचम्भा बढ़ाते हुए कहा ।

(३१)

पै सर छाँड़न हेतु जबै, नरनाथ-दिलीप महाबलधारी ।
है नख-नौल की चारु-प्रभानि, जबै तिन सायक-पुंख पै डारी ।
या विधि सिंह कौं मारिबै काज, जबै आँगुरी तिन बान पै धारी ।
नेकहू डोल्यौ, डुलायें नहीं करं, खैंचि दियौ मनौं चित्र अँगारी ॥

(३२)

भूपति को वा बिसाल भुजा, करि के कर कौं जो लजावनिवारी ।
यौं जड़ीभूत बिलोकत बाहुँकौं, रोष भयौ तिनके हिय भारी ।
औषधि मंत्र सौं कीलित-सक्ति, भुजंग सकै ज्यौं कछू न बिगारी ।
त्यौं उर-दाहि उठ्यौ नृप कौ, लखि कै अपराधी अराति अगारी ।

(३३)

आरज-बंसिन के प्रति-पालक, औ' मनु-बंस-धुजा, ब्रत-धारी ।
कौतुक कैसो अनैसो भयो यह, यों अपने मन माँहि बिचारी ।
तौ लगि केहरि-से बली भूप सौं—धेनु ग्रसी जेहिं सिंह प्रचारी ।
मानुषी-बानी मैं बोलि उठ्यौ इमि, भौंचक-सौ करि भूपहिं भारी ॥

३१—कंक एक पक्षी बगले की जात का होता है ।

INFORMATION SERVICE OF INDIA SINGAPORE

अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥३४॥

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किंकरमष्टमूर्त्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥३५॥

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥३६॥

३४—हे राजा ! बस श्रम मत कर यहाँ तेरा फेंका हुआ अस्त्र भी वृथा होगा, (क्योंकि) वृक्ष उखाड़ने की सामर्थ वाला पवन का बेग पहाड़ में नहीं चलता है ।

३५—कैलास समान स्वेत बैल पर चढ़ने वाले के चरण पड़ने के प्रताप से मुझे पवित्र पीठ वाले को तू अष्ट मूर्ति (महादेव) का सेवक कुम्भोदर नाम निकुम्भ का मित्र जान ।

३६—सामने जो देवदारु (का वृक्ष) तू देखता है सो महादेव जी का किया हुआ पुत्र है—यह स्वामि कार्तिक की माता के सुवर्ण कुम्भस्तनों से निकले हुए पयों (दूधों व जलों) का स्वाद जानने वाला है ।

(३४)

"कीन्ह्यौं कितौ स्रम आपु महीपति, पै सब ब्यर्थ भयौ सो तुम्हारौ ।
मो तन बान-प्रहारन सौं, न बिगारि सकौ तुम रंच हमारौ ।
प्रौढ़-प्रभंजन जा बहि बेग सौं, पादप-पुंज-समूल उपारौ ।
तौ हूँ महीधर-सृंगनि कौं, सो हिलाय सकै नहीं नैंकु बिचारौ ।

(३५)

संभु के सैल-सौं गौर कलेबर, बाहन बैल पै साजैं सबारौ ।
पीठकौं वाकी नितै ही पुनीत करैं निज पंकज-पायनिधारी ।
किंकर वा ससि-सेखर कौ, जो निकुम्भ को मित्र कहावै अगारी ।
है मम कुंभ सुओदर नाम, इतौ अपनैं मन लीजै बिचारी ॥

(३६)

सामुहैं दीसत देवनदारु कौ—जो तरु मंजुल आपु सुहायौ ।
श्री रतिनाथ-अराति मैं याकहँ, पूत-सौं मानि कै लाड़ लड़ावौ ।
हेम के कुम्भ पयोधर-सौं, निसरे जल कौ जेहिनैं रस पायौ ।
याहि षड़ानन की जननी, अपने कर-कंजनि सींचि बढ़ायौ ॥

३६—सोने का घड़ा है सोई मानो स्तन है, जल है सोई दूध है ।

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥३७॥

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति ॥३८॥

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥३९॥

३७—कनपटी खुजलाते हुए हाथी ने एक समय इनकी छाल रगड़ डाली तिस्से पार्वती जी ने उसका शोच किया, जैसे असुरों के अस्त्रों से छिदे हुए स्वामि कार्तिक का ।

३८—उसी दिन से बन के हाथियों को डराने के लिए मुझे महादेव जी ने गोद में आए पशु की वृति वाली सिंघता देकर यहाँ पहाड़ की कुक्षा में ठैरा दिया है ।

३९—उसी मुझ भूखे की तृप्ति के निमित यह काल की बँधी लोहू की पारणा परमेश्वर की भेजी आई है, जैसे राहु की (तृप्ति) के निमित चन्द्रमा की सुधा ।

(३७)

ह्वै मद माते कोउ एक कानन—चारी-मतंग-कपोल खुजायौ ।
औ' यहि मंजु-महीरुह की, सबै छाल कौं या बिधि सौं रगरायौ ।
ऐसी दसा लखि कैं यहि की, गिरि-राज-सुता अति सोच बढ़ायौ ।
मानौं कुमार-षड़ानन कौं, अमरारि के बान-बिंधे लखि पायौ ॥

(३८)

वा दिन सौं हमैं मौलि-मयंक मैं, याही गुफा कौ कियौ रखवारौ ।
दीन्ह्यौं निदेस नितैही इतै, मद-माते-मतंगनि कौ मद झारौ ।
आवै यहाँ पै कोऊ पसु जो, तेहिं खाय कैं आपनौं कीजै गुजारौ ।
यौं मृगराज बनाय कैं मोकहँ, दीन्ह्यौं खरौ गिरिनाथ सहारौ ॥

(३९)

दारुन पेट की ज्वाला लखौ, हमकौं नरनाह रही है जराई ।
ताहि निवारन-काज इतै, परमेसुर ने यहि धेनु पठाई ।
त्यौं मृग अंक के मूरति की, या सुधा-सम कैसी लसै सुखदाई ।
स्रोनित-पारना राहु-समान, हमारे लियैं, इत ही चलि आई ॥

३७—गोद में आए पशु की वृति से तात्पर्य यह है कि जो पशु आपसे आप आजाय उसको भक्षन कर ले ढूँढ़ने कहीं न जाय ।

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्य भक्तिः ।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥४०॥

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥४१॥

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥४२॥

४०—सो तू गुरु मैं शिष्य भक्ति दिखलाने वाला लज्जा त्याग कर चला जा क्योंकि जो रक्षा की वस्तु शस्त्रों में रक्षा न हो सके तो शस्त्र धारियों का यश छीन नहीं होता है ।

४१—सिंघ का यह गर्वित वचन सुन कर राजा ने, गिरिवासी (महादेव) के प्रभाव से रुके हुए अस्त्र वाले ने, अपने से अवज्ञा ढीली की ।

४२—बाण चलाने में पहले ही पहल निष्फल यत्न वाला (राजा) फिर उससे बोला, जैसे त्रिलोचन (महादेव) के देखने से अपाहज होकर वज्र फेंकने की इच्छा करने वाला इन्द्र ।

(४०)

आनि उपाय न दीसै महीपति, जाइयै लाज इतैंहीं बिहाई ।
आपु बरिष्ट-बसिष्ठ की धेनु कै, रच्छन मैं खरी-भक्ति दिखाई ।
आयुध सौं जेहिं के परित्रान मैं, जौं काहू होनौं परै निरुपाई ।
तौ तेहिं बीरन माहिं कोऊ, अपराधहिं रंच सकै न लगाई ॥

(४१)

धराधिप नै जबहीं येहिं भाँति, ढिठाई भरे हरिके सुनैं बैन ।
मयंक-लिलार-प्रसाद को जानि, कहूँ प्रतिकार तिहूँ पुर है न ।
येहीं लगि मेरी-भई जड़ बाहु, सँहारि सक्यौ इक नाहर मैं न ।
दिलीप-महीप बिचारि यहै, अपमान-सौं रंच लह्यौ हिय चैन ॥

(४२)

अस्त्र-प्रयोग मैं भूपति नैं, पहिलैं अपनौं स्रम ब्यर्थ निहारौ ।
जैसें पुरन्दर संकर पै, निज बज्र-प्रहारन हीय बिचारौ ।
पै तिनके अवलोकत हीं, जड़-पानि भयौ वह आप बिचारौ ।
माया-मृगाधिप सौं अतिदीन-अधीन ह्वै मंजुल बैन उचारौ—

४२—महादेव के कोप सहित देखने से इन्द्र का हाथ सिथिल हो जाने की कथा महाभारत में है ।

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः ।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये ॥४३॥
मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥४४॥
स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद ।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥४५॥

४३—हे सिंघ चेष्टा रुके हुए का वचन अवश्य इसी के योग्य होता है तो भी मैं कहना चाहता हूँ तू प्राणियों के अब अन्तरभावों को जानता है इसलिए कहता हूँ ।

४४—वह स्थावर जंगम की सृष्टि और रक्षा और प्रलय का कर्ता मेरा मान्य है और अग्नि में आहुति देने वाले गुरु का यह धन भी सामने नष्ट होता हुआ देखने के योग्य है ।

४५—सो तू मेरी देह से अपनी भूख दूर करने को प्रसन्न हो—दिन बीतने पर हैज करते हुए छोटे-छोटे बछड़े वाली महर्षि की इस गाय को छोड़ दे ।

(४३)

"हौ तुम कानन के अधिराज, बिचार उठैं इमि मों मन माहीं ।
हौं बलि कुंठित वैन भये, यहि तैं परिहास के जोग सदाहीं ।
जानत हौ सबै प्रानिन के, मनकी तुमसौं है छिप्यौ कछु नाहीं ।
या लगि आपुसौं आज कछू, बिनती करिबे हमहूँ चित चाहीं ॥

(४४)

थावर-जंगम के प्रभु संभु हैं, सो मन मैं भली-भाँति बिचारौं ।
त्यौं थिति-पालन और सँहार, करैं तेई याहू हियैं निरधारौं ।
आपु महेस्वर के गन मुख्य हैं, या गुनि कै अपनौं मन मारौं ।
आहित-अग्नि मुनीस की धेनु कौं, सामुहैं नासत कैसें निहारौं ?

(४५)

कुंठित-आयुध या जन की, बिनती तौ इती सुनियैं मृगराई ।
आपनी उग्र-छुधा कौ निवारन, कीजियै मेरौ कलेबर खाई ।
देखियै जात दिवाकर हू, अब तौ अपने गृहकौं सुख पाई ।
बच्छहुँ भेंटिबै कौं अकुलाति है, दीजियै छाँड़ि मुनीस की गाई ॥"

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् ।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किंचिद्विहस्यार्थपतिं वभाषे ॥४६॥
एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥४७॥
भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमति त्वदन्ते ।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि ॥४८॥

४६—तब डाढ़ों की चमक से पहाड़ की गुफा के अँधेरे को टुकड़े करता हुआ वह महादेव का सेवक कुछ हँस कर फिर राजा से बोला ।

४७—इक छत राज्य को, जगत के प्रभुत्व को, नई अवस्था को और इस सुन्दर शरीर को तुच्छ के कारण बहुत को खाने की इच्छा करने वाला तू विचार में मुझे मूढ़ जान पड़ता है ।

४८—जो प्राणियों में तेरी दया है तो मेरे मरने में यह एक गाय कुशलमती रहती है, तू जो जीता रहेगा तो हे प्रजानाथ ! प्रजा को सदा उपद्रवों से पिता की नाई रक्षा करेगा ।

(४६)

वा गिरि-कंदरा माहि अबै लगि, छाई हुती घनीभूत-अँध्यारी ।
आपनैं दंत-मयूखनि सौं, तेहिं काटि कै कीन्हीं खरी उँजियारी ।
सेवक सो ससि-सेखर कौ, लै अदेस करै गुहा की रखवारी ।
कै कछु हास दिलीप-महीपसौं, या बिधि सौं कहयौ बैन उचारी ॥

(४७)

"एक ही छत्र अखंड धरा, प्रभुता लही औ' जनता अनुरागत ।
कान्त-कलेवर पायौ भलौ, जेहिं मैं नव-जोबन-जोतिहूँ जागत ।
तुच्छ-गऊ के लये महिपाल, इतै बड़े-बैभव कौं तुम त्यागत ।
साँची कहौं यहि तैं तुम मोहिं, बिचार सौं मूढ़ कछू-कछू लागत ॥

(४८)

जौ जग-जीवन पै यहि भाँति ही, दीठि दया की बनी रही तेरी ।
तौ तुव अन्त मैं एक ही धेनु, कल्यानवती, पुनि ह्वैहैं घनेरी ।
जीवत रैहौ जो पै प्रजानाथ? गुनैं इतनी बतियानि कौं मेरी ।
तौ नित बिघ्न बिनासि पितासम, पालि हौ आपु प्रजा बहुतेरी ॥

अथैकधेनोरपराधचण्डाद्गुरोः कृशानुप्रतिमाद्बिभेषि ।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुंगाः कोटिशः स्पर्शयताघटोघ्नीः ॥४९॥
तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥५०॥
एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥५१॥
निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥५२॥

४९—जो अपराध से कोपित अग्नि की मूर्ति एक गाय वाले गुरु से डरता है तो उसके क्रोध को तू घड़े के समान ऐन वाली करोड़ गऊ देकर शांत कर सकता है ।

५०—इसलिये तू कल्यान पंक्तियों को भोगने वाली अपनी बड़ी बलवान देह को रख (क्योंकि) ऋद्धि सहित राज्य ही को पृथ्वी से सम्बन्ध रखने वाला स्वर्ग कहते हैं ।

५१—यह कहकर सिंघ के चुप होने पर गुफा से उठी हुई उसी की गाज से पहाड़ ने भी मानों राजा को प्रीति सहित वही अर्थ ऊँचे स्वर से कहा ।

५२—देवता के सेवक का वचन सुनकर नरपति ने, उसी की दबाई भयभीत आँखों वाली गाय के देखते हुए अति दयावान ने, फिर भी कहा ।

(४९)

जु पै इक धेनु बिनास ही के, अपराध सौं आपु रहे घबराय ।
तथा अनलोपम वा गुरु क्रोध-कृसानु सौं भूरि रहे भय खाय ।
बड़े-बड़े कुम्भ से ऐननि-वारी, गऊनि के केतिक दै समुदाय ।
महीपति-मौलिन के मनि-मंजु सकौ तिनकौ तुम रोष मिटाय ॥

(५०)

चारु कल्यान-परम्परा-संजुत, रच्छियै देह महा ब्रतधारी ।
भोगियै भोगनि याके महीप, इती सिख मंजुल मानि हमारी ।
आठहू सिद्ध नवौं निधि के सँग, है महि पै जु पै राज सुखारी ।
सोई कहावत है जग माहिं, सुराधिप की पदवी बड़ी भारी ॥

(५१-५२)

मौन ह्वै बैठौ मृगाधिप आपु, धराधिप सौं इमि बैननि भाखी ।
औ' गिरि-कंदारा मैं पुनि गूँजि, प्रतिध्वनि वाकी भरी मनौ साखी ।
संभु के सेवक की बतियाँ सुनि, दीठि गऊ पै महीपति राखी ।
नाहर के भय सौं जो रही, घबराय कियैं भय कातर आँखी ॥

५०—कल्याण पंक्तियों से तात्पर्य यह है कि अनेक प्रकार के अच्छे पदार्थों को देह भोगती है ।

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्वि परीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥५३॥
कथं न शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम् ।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम् ॥५४॥
सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ॥५५॥

५३—निश्चय नाश से तारता है, यह क्षत्री का उदग्र शब्द (तीनों) भवनों में प्रसिद्ध है तिससे विपरीत वृत्ति वाले के राज्य से अथवा अकीर्ति करके मेरे प्राणों से क्या है ।

५४—और मुनि को शान्ति और गायों के देने से क्योंकर हो सकती है—इसको तू सुरभी से घाट मत जान—इसमें तेरा प्रहार महादेव ही के प्रताप से हुआ है ।

५५—सो यह मुझे, अपने देहार्पण के पलटे तुझ से छुड़ानी उचित है, इस भाँति तेरी पारणा भी न रुकेगी और मुनि की क्रिया भी बनी रहेगी ।

(५३)

"या जग माँहि जु पै कोउ बीर, बिनास सौं औरनै आपु बचावत ।
सोई जथारथ माहिं महा - महिमा मय छत्रिय को पद पावत ।
जौ पै कियौ येहिके बिपरीत, कहा भयौ लाभ मनुष्य कहावत ।
धारे रहौं सो बृथा ही सरीर, कलंकित आपनी आयु बितावत ?

(५४)

अनेकन धेनुनि कौ करि दान, मुनीस कौ क्रोध निवारौ न जाय ।
जथारथ मैं यहि नन्दिनी तौ सुरधेनु सौं घाटि न नैकहूँ आय ।
प्रहार नहीं करि पाते तुम्हौं, अपने बल सौं येहिं पै बनराय ।
सुनौं सतिभाव तुम्हारी पुरारि-उदग्र- प्रताप ने कीन्हीं सहाय ॥

(५५)

दै निज कान्त-कलेवर दान मैं, या गऊ के बदले बनराई ।
तौ कहूँ मान्य मुनीसुर की, सुरभी को सकैं केहूँ भाँति बचाई ।
कारज-साधन माहिं दोहूँन के, यातै न नेकहूँ हानि लखाई ।
ह्वै है न लोपक्रिया मुनि जग्य की, रावरौ-पारन हू न नसाई ॥

भवानपीदं परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदारौ ।
स्थातुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ।।५६।।
किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः ।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ।।५७।।
संबन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ संगतयोर्वनान्ते ।
तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ।।५८।।

५६—तू पराधीन भी इसको जानता है क्योंकि देवदारु में तेरा बहुत यत्न है, कि रक्षा की वस्तु को अपने नष्ट होने बिना नष्ट कराकर स्वामी के सन्मुख खड़ा नहीं हुआ जाता है ।

५७—और जो मैं तेरे सत में मारे जाने के अयोग्य हूँ तो तू मेरे यश रूपी शरीर में दयालु हो···मुझ शरीर वाले को पंचभूत वाले निश्चय विनाश मान शरीर में चाह नहीं होती है ।

५८—सम्बन्ध को सम्भाषण पूर्व कहते हैं (अर्थात् सम्बन्ध का कारण सम्भाषण होता है) सो हम दोंनों के वन में मिलने से हुआ, इसलिये हे महादेव के सेवक मुझ सम्बन्धी की प्रार्थना को तू उल्लंघन करने योग्य नहीं है ।

(५६)

या सुर-दारु-महीरुह-रच्छन—माहिं तुम्हारौ प्रयास घनेरौ ।
हौं तुमहूँ परतंत्र सखा अरु जानत उत्तरदायित मेरौ ।
जौं लगि प्रान रहैं तन मैं, तौ लौं रच्छ्य-बिनास हू जाइ न हेरौ ।
स्वामि के सौहैं सिधाइबे कौं, हमैं और न कोऊ लखात निबेरो !

(५७)

जौ अपने मत सौं वनराज, हमें नहीं मारन-जोग बिचारौ ।
मो पैं दया दरसाय घनी, मम कीर्ति-कलेवरैं आपु उबारौ ।
या कौ बिनास अहै निहचै, मिलि पाँचहूँ तत्वनि जाहिं सँवारौ ।
राखन कौं यहि सपने हूँ, न रंचक हूँ मन चाहे हमारौ ।।

(५८)

प्रेम कौ बंधन या जग में, सबहीं कहैं पूरब भाखन काहीं ।
सो हमसौं तुम्हारो मृगराज ! सुभाग्य ही सौं भयौ कानन माहीं ।
या लगि मौलि-मयंक के दास, करी बिनती हम जौ तुम पाहीं ।
नेह कौ नातौ निबाहिबे मैं, तुम कैसें हूँ टारि सकौ तेहि नाहीं ।।

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः ।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य ।।५९।।

तस्मिन्क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ।।६०।।

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ।।६१।।

५९—"ऐसा ही है ।" यह वचन कहते हुए सिंघ के निमित दिलीप ने, बन्धन से खुली बाँह वाले ने, डाले हुए हथ्यार वाले ने, तुरन्त अपना शरीर अर्पण किया, मानों माँस का पिंड ।

६०—उसी छन सिंघ के कूदने की बाट देखते हुए सिर झुकाए हुए प्रजा पालक के ऊपर विद्याधरों के हाथ से छूटे फूलों की बरसा हुई ।

६१—"उठ बच्चे" ऐसे कहा हुआ अमृत मिला वचन सुनकर राजा ने उठते ही टपकते हुए दूध वाली गाय अपनी माता के समान आगे देखी, सिंघ नहीं ।

(५९)

"ऐसौ ही होय दिलीप-महीप," जबै इमि नाहर बैन उचार्‌यौ ।
छूट्‌यौ धराधिप कौ भुजदंड, हुतौ जुपै अस्त्र प्रयोग में हार्‌यौ ।
त्यौं निज आयुध-बृन्दनि कौं, नरनायक नै हूँ धरापहिं धार्‌यौ ।
आमिष-पिंड लौं आपनी देह, बनाय कैं सिंह के सामुहैं डार्‌यौ ।।

(६०)

ताकत सिंह के उग्र-निपात पै, चक्रवती उतैं ध्यान लगाये ।
दीठि कौं नीची कियैं पुनि आपु, बसुन्धरा की दिसि सीस नवाये ।
या बिधि त्याग लखैं नरपाल कौ, देवन हूँ के हिये भरि आये ।
आपने हाथन सौं तिननैं, पुहुपानि महीपति पै बरसाये ।

(६१)

"लालन प्यारे उठौ अब आपु," गिरा यह मंजुपिऊख-सिंचाई ।
ताही समैं हिय कौं सुखदैनी, परी महिपाल के काननि आई ।
आपनैं सामुहैं देख्यौ नरेस, है माय-सी ठाढ़ी पयस्विनी गाई ।
पै वह भीखन-काय-महा—मृगराज परचौ कतहूँ न लखाई ।

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि ।
ऋषिप्रभावान्मपि नान्तकोऽपि प्रभुःप्रहर्तुं किमुतान्यहिस्राः ॥६२॥

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पयाच प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व ।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम् ॥६३॥

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः ।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥६४॥

६२—उस अचम्भे में आए हुए को गाय ने कहा—"हे साधू मैंने माया रचकर तेरी परीक्षा ली है, प्रहार करने को मुनि के प्रताप से मुझ में यम भी समर्थ नहीं है फिर और हिंसक क्या है।"

६३—गुरु में भक्ति और मुझ में दया (करने) से मैं तुझ पर प्रसन्न हुई, हे पुत्र तू वर माँग, मुझको निरा दूध देने वाली मत जान प्रसन्न होकर मैं कामना देने वाली हूँ।

६४—तब उस याचकों के सत्कार करने वाले ने, अपनी भुजा से वीर पदवी पाने वाले ने, दोनों हाथ जोड़ कर वंश चलाने वाला अनन्त कीर्ति पुत्र सुदक्षिणा में माँगा।

(६२)

ठाढ्यौ जकौ-सौ महीपहिं देखि, कह्यौ सुरभी इमि बैन सुनाई।
हौं ही लख्यौ तुम्हरौ अनुराग, सबै बिधि माया घनी उपजाई।
देखौ, बसिष्ठ मुनीन्द्र-प्रभाव, प्रताप की आपु अपूरबताई।
अन्तकहूँ न बिगारि सकैं कछू, तुच्छ पसून की काह चलाई ?

(६३)

भक्ति बसिष्ठ महा मुनि मैं, और मोपै अपार दया दरसाई।
यातैं प्रसन्न भई तोहिं पै सुत, मागि लै जो बर तोहिं सुहाई।
केवल दूध न देती सुनौं, यहुतौ अपने मन लीजै दृढ़ाई।
ह्वै अनुकूल, सकौं हौं सबै, तुम्हरे हिय की अभिलाखैं पुराई॥

(६४)

यौं सुनि, याचक बृन्दनिके, मन की अभिलाखैं पुरावनवारौ।
है बलसाली भुजानि हीं के बल सौं बलवीर कहाबनबारौ।
जोरि दोऊ कर-कंज निहोरि कैं, यौं नृप मंजु गिराहिं उचारौ।
"मागधी ऐसौ जनैं सुत होय जौ, कीर्ति-सुबंस बढ़ावन बारौ॥

संतानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा ।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥६५॥
वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः ।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥६६॥
इत्थं क्षितीशेन वशिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥६७॥

६५—सन्तान चाहने वाले राजा के निमित "निश्चय ऐसा ही होगा" यह प्रतिज्ञा उस दुधार ने करके, हे पुत्र मेरे दूध को पत्ते के दोने में दुह कर पी ले, यह आज्ञा उसको दी ।

६६—बछड़े से और होम क्रिया से बचा हुआ तेरा दूध हे माता मैं ऋषि की आज्ञा पाकर लेना चाहता हूँ । जैसे रक्षा की हुई पृथ्वी का छठा भाग ।

६७—इस भाँति राजा की प्रार्थना की हुई मुनि की गाय अधिक प्रसन्न हुई और उसी के साथ हिमालय की कुक्षा से आश्रम को बिना श्रम लौटी ।

(६५)

संतति कामना वारे महीपसौं, बोली तबै मुनि धेनु कल्यानी—
"होयगौ बंस-चलावन वारौ, सपूत कछू दिन मैं गुनखानी ।
लाय पलास के पातनि कौं, तिनकौ रचि 'दौनौं' महामुदमानी ।
तामहँ तात, दुहौ मम छीर, पियौ पुनि ताहि, सदा सुखदानी ॥"

(६६)

"पानकै छाँड्यौ बछा जेहिकौं, अरु जग्य-क्रियासौं बचौ जितनौई ।
पाय निदेस, बसिष्ठ-मुनीस कौ, मातु ! हौं पान कियौ चहौं सोई ।
है येही धराधिप कौ अधिकार, करै प्रतिपाल बसुन्धरा जोई ।
षष्टम भाग लहै तेहिकौ, तब ताहि अनर्थ कहै नहिं कोई ॥"

(६७)

या बिधि सौं जब भूप दिलीप नैं, प्रेम-भरी मृदु बानी उचारी ।
सो सुनिकैं अपने मन माहिं, भई अतिसै मुनि-धेनु सुखारी ।
त्यागि कैं वा हिम सैल-गुहाहिं, चली आपु महीप के ह्वै कैं अगारी ।
औ' मुनिराज के आस्रम मैं, अनायास हीं आइ गई गऊ प्यारी ॥

६६—अगले राजाओं का धर्म था कि खेत की उपज का छठा भाग किसान से लेते थे इसी को भेज कहते हैं ।

६७—पुनरुक्त वाणी इसलिए हुई कि जो कहा वह देखने ही से जान लिया गया था ।

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥६८॥
स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
पपौ वशिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्णः ॥६९॥
प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।
तौ दंपती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशीवशिष्ठः ॥७०॥

६८—हर्ष के चिन्हों से अनुमान होने वाली उसकी प्रसन्नता को पूर्ण चन्द्रमा के सदृश मुख वाले ने, राजाओं को सीख देने वाले ने, गुरु के निमित निवेदन करके प्यारी को जताया, मानो पुनरुक्त वाणी करके।

६९—उस अनिन्दितात्मा ने, अच्छों के प्यारे ने, वसिष्ठ के आज्ञा किए हुए ने, बछड़े से और यज्ञ से बचा हुआ नन्दिनी का दूध पिया, मानो अति प्यासे ने मूर्तिवान उज्ज्वल यश।

७०—प्रातःकाल विधि पूर्वक व्रत खोलने से पीछे मंगल मार्ग का आशीर्वाद देकर जितेन्द्री वसिष्ठ ने राजा रानी को अपनी राजधानी की ओर भेजा।

(६८)

आनन-ओप अनूपम सौं, जिन मंजु-मयंक-प्रभा कौं लजायो।
मान्य-महीपनि के मनि-मौलि, दिलीप तबै मुनि के ढिग आयो।
धेनु-अनन्द के चिन्हनि हेरि, प्रसादहिं तासु गुरू कौं जतायो।
मागधी के ढिग जाय बहोरि, सबै तेहि कौं मुद मानि सुनायो॥

(६९)

चारु-पवित्र-चरित्र-दिलीप-महीप मुनीस कौ आयसु लीन्ह्यौं।
जग्य-क्रिया औ'बछा सौं बच्यौ, जेहि छीर कौं नन्दिनी नैं हुतौ दीन्ह्यौं॥
मानि महा मन मैं अनुरागहिं, ताकहँ पान महीपति कीन्ह्यौं।
मूरति-मन्त कलाजस की, तेहि कौं मनौं आपु महामति चीन्ह्यौं॥

(७०)

होन लग्यौ अरुनोदय औ', नभ मैं अरुनारौ घनौं घन छायौ।
जो ब्रत-पालन की हीं क्रियाएँ, सबै मुदमानि मुनी निबटायौ।
मंगल-मै बनैं मारग या लगि, मंजु-पयान-असीसै सुनायौ।
या बिधि मागधी संग दिलीप कौं, औध बसिष्ठ-मुनीस पठायौ॥

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च ।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥७१॥
श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
ययावनुद्धातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥७२॥
तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम् ।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥७३॥

७१—आहुति वाली अग्नि को और गुरु के पीछे अरुन्धती को और बछड़े समेत गाय को प्रदक्षिणा करके अच्छे मंगलों से अधिक प्रतापवान राजा ने प्रस्थान किया ।

७२—कानों को प्यारी ध्वनि वाले रथ पर, बिना रुकावट चलने से सुख देने वाले पर, वह सहनशील धर्म पत्नी समेत मार्ग में चला, मानो अपने पूर्ण मनोरथ सहित ।

७३—न देखने से उस चाव बढ़े हुए को, पुत्रकामना के व्रत से दुबले अंग वाले को, प्रजा ने अतृप्ति नेत्रों से पिया, मानो नए उदय हुए चन्द्रमा को ।

(७१)

बाढ्यौ उदग्र महीप-प्रभाव, असीस सौं जौन महामुनि दीन्ह्यौं ।
होम-हुतासन के चहुँ ओर, प्रदिच्छनैं आपु अनन्द सौं कीन्ह्यौं ।
घूमि चहूँ दिसि धेनु-बछाके, बसिष्ठ-अरुन्धती कै रस भीन्ह्यौ ।
यौं नृप नैं बड़े आनन्द सौं, अपनी रजधानी कौ मारग लीन्ह्यौ ॥

(७२)

स्रौननि कौं सुख-दैन अपार, सुख-ध्वनि स्यन्दन मैं छबि छाये ।
बेखटके चलिबे मैं मिल्यौ, जेहि मैं सुख चौगुनौं चाव चढ़ाये ।
संग पुनीत-प्रिया कौं लियैं, सहिके तप को स्रम द्यौस बिताये ।
पूरन कै हिय की अभिलाखन, औध दिलीप महीपति आये ॥

(७३)

देख्यौ नहीं बहु द्यौसनि भूप कौं, यातैं अमन्द उछाह बढ़ाये ।
दूबरे गात भये जिनके, ब्रत-साधि प्रजा-हित कष्ट उठाये ।
नैननि के पुट सौं तिनकौं, लखि कैं पुरवासीन नेकु अघाये ।
नूतन-औषधि-नाथ कौं हेरि, हियैं जिमि होत अनन्द सवाये ॥

७२—यहाँ रथ को मनोरथ से मिलाया है जैसे राजा का रुका हुआ मनोरथ खुल गया ऐसे ही रथ का मार्ग भी बिना रुकावट के था ।

पुरंदरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजंगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥७४॥

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥७५॥

७४—उस इन्द्र सरीखे ऐश्वर्यमान ने, नगर निवासियों के सराहे हुए ने, उठी पताका वाले पुर में प्रवेश करके सर्पराज (शेष जी) के तुल्य बल वाली भुजा पर फिर पृथ्वी का बोझ लिया ।

७५—जैसे अत्रि की आँख से उत्पन्न हुए तारे (चन्द्रमा) को आकाश ने, जैसे अग्नि के फेंके हुए रुद्र तेज (स्वामि-कार्तिक) को गंगा जी ने, (वैसे) लोक पालों के बड़े प्रतापों से भरे हुए गर्भ को रानी ने राजा के कुल की प्रतिष्ठा के निमित धारण किया ।

(७४)

ऊँची पताकानि सौं बिलसे, पुर मैं जबै पाँव नरेस नैं दीन्ह्यौं ।
सक्र की सोभा धरैं महिपाल कौ, स्वागत आय सबै जन कीन्ह्यौं ।
फेरि प्रजा प्रतिपालन कौ, सबै उत्तरदायित भूप नैं चीन्ह्यौं ।
त्यौं अहिराज-समान भुजान पै, सासन-भार अनन्द सौं लीन्ह्यौं ॥

(७५)

घनाक्षरी

अत्रि-मुनि-लोचन की जोति मृग-बाहन कौं, राख्यौ जिमि ब्योमनिजअंक अति मोद मानि ।
और रुद्र तेज को धरचौ हो जो हुतासन मैं, राख्यौ देव-आगा ने जैसे सबै सुखदानि ।
त्यौं हीं लोक-पालन के प्रबल प्रतापन सौं, ह्वै कैं परिपूरन सबै ही बिधि गुनखानि ।
भूपति दिलीप की प्रभूत-कुल-भूति-हित, अमित-उछाह-सौं उदरगर्भधार्‌यौ रानि ॥

———

७५—अत्रि मुनी की आँखों में चन्द्रमा उत्पन्न होने की कथा हरिवंश पुराण में है और स्वामिकार्तिक के जन्म की कथा रामायण में है ।

॥ तृतीयः सर्गः ॥

अथेप्सितं भर्तुरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् ।
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य संततेः सुदक्षिणा दोर्हृदलक्षणं दधौ ॥१॥
शरीरसादादसमग्रभूषणा सुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥२॥
तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम् ॥३॥

तीसरा सर्ग

१—पति के चाहे हुए उपस्थित उदय वाले दोहद लक्षण (अर्थात् गर्भ) को । सखी जनों की आँखों के चाँदनी मुख को, इक्ष्वाकुवंश की सन्तति के मुख्य हेतु को, सुदक्षिणा ने धारण किया ।

२—शरीर की छीनता से थोड़े आभूषणों वाली वह लोध समान पीले मुख सहित देखी गई, जैसे न्यून प्रकाश चन्द्रमा सहित थोड़े तारों वाली सवेरे की रात ।

३—उस मिट्टी की सुगन्धि वाले मुख को एकान्त में सूँघकर राजा तृप्त नहीं होता था, जैसे ग्रीष्म के अन्त में बादलों की बूँदों के छिड़के हुए बन के उथले कुंडों को (सूँघकर) हाथी ।

तीसरा सर्ग

हरिगीतिका

(१)

निज तबहिं प्रिय-पति कौ मनोरथ, उदय जनु सब बिधि भयौ ।
तिमि-निज-सखी-जन-ललित-लोचन-कौमुदी-आनन नयौ ॥
इक्ष्वाकु-बंसिन की सुतंतति कौ निदान उजागर्‌यौ ।
बरगर्भ के सुभ लच्छननि कौं भूप-जाया नैं धर्‌यौ ॥

(२)

तन-छामता लगि रानि कछु आभरण अंगनि पै धरै ।
अरु पीत-आनन तासु लोध-प्रसून की सुखमा हरै ।
थोरी तरैंयनि लहति सोभा प्रात की जिमि यामिनी ।
कछु छीन-चन्द्र-प्रकास सौं तिमि लसति भूपति-भामिनी ॥

(३)

सुचि-मृत्तिका की सुरभि-सम नृप, रानि मुख एकान्त ही ।
सूँध्यौ अनेकन बार पै भयो, चित्त नैंकु न सान्त ही ॥
जिमि अन्त माहिं निदाध के बर बारि-धर-बुँदियानि स्यौं ।
सिंचित-सुपल्वल सूँघि कैं न अघात है करि-राज ज्यौं ॥

१—दोहद उस चाह को कहते हैं जो गर्भवती स्त्री को नई-नई वस्तु खाने, पीने, देखने, सूघने में होती है इसी से गर्भ को दोहद लक्षण कहते हैं ।

दिवंमरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः ।
अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान्विलंघ्यसा ॥४॥

न मे ह्रिया शंसति किंचिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी ।
इति स्म पृच्छत्यनु वेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोशलेश्वरः ॥५॥

उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम् ।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः ॥६॥

४—जैसे स्वर्ग को इन्द्र भोगता है पृथ्वी को मेरा चक्रवर्ती बेटा भोगे इसलिए उसने पहले ही और रसों को त्याग कर मन को उस अभिलाषा में लगाया (अर्थात् मिट्टी खाई) ।

५—"लाज के कारण मुझे कुछ चाह नहीं जताती है, किन वस्तुओं में मगध देशनी अभिलाषमती है" ऐसे आदर युक्त उत्तर कौशल का राजा प्यारी सखियों को बार-बार पूछता था ।

६—गर्भवती की चाह से दुखीले स्वभाव को पहुँच कर उसने जो कहा सोई लाया हुआ देखा क्योंकि उस चढ़ी प्रत्यंचा वाले धनुषधारी राजा की चाही वस्तु स्वर्ग में भी अलभ्य न थी ।

(४)

सुरपति यथा अमरावती कौ राज भोगत है सही ।
मेरौ सुवन तेहि भाँति सौं यह भोगि है सारी मही ॥
इमि भाव निज हिय धारि भूपति-रानि ने हरषायकैं ।
मृदु बानि मैं अभिलाष बाँध्यौ अन्य रसनि बिहायकैं ॥

(५)

रुचि रहै केहि-केहि बस्तु मैं अरु काह याकौ चित चहै ।
अति लाज-बस प्रिय मागधी मो सौं न कबहूँ कछु कहै ॥
यहि लागि कौसलनाथ निज मन माहिं कछु सकुचायकैं ।
छिनछिनहिं पूँछत निज प्रिया की सखिन के ढिग जायकैं ॥

(६)

इमि पाय दोहद-दुखदसा कौं रानि नें जो-जो कह्यौ ।
तुरतहिं महीपति के अनुग्रह सौं सकल वानैं लह्यौ ॥
तिहुँ लोक मैं ऐसी न कोई बस्तु रानी-चित-चहीं ।
धनुर्धरि नृप जेहिं प्रियतमा के हित मँगाय सकैं नहीं ॥

क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा ।
पुराणप्रत्रापगमादनन्तरं लतेव संनद्धमनोज्ञपल्लवा ॥७॥

दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम् ।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम् ॥८॥

निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम् ।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्वां महिषीममन्यत ॥९॥

७—और हौले-हौले दोहद बिथा को बिता कर वह पुष्ट अंगों वाली शोभायमान हुई, जैसे पुराने पत्तों के गिर जाने से पीछे सुन्दर कोपलों को धारण करने वाली लता ।

८—दिनों के जाने में उसके अति भारी कुछ नीलमुख दोनों कुचों ने भौंरों से लपटी हुई सुन्दर कमल की दो कलियों की कान्ति को तिरश्चकार किया ।

९—राजा ने आधानवती रानी को आदर किया, जैसे गर्भ में ऋद्धि रखने वाली पृथ्वी को, जैसे भीतर अग्नि रखने वाली गर्मी को, जैसे अन्तर में जल रखने वाली सरस्वती नदी को ।

(७)

इमि भूप-भामिनि यथा-क्रम दोहद-व्यथाहिं बितायकै ।
परिपुष्ट-गातनि सौं बहुरि सोभी महा छबि छायकै ॥
जैसे नवल-मधुमास मैं निज जीर्न-पात गिरायकै ।
राजत बिमल-ललिता-लता नूतन-सुपल्लवपायकै ॥

(८)

इमि दिवस बीतन लगे ज्यौं-ज्यौं नृप-प्रिया सोभित भई ।
वाके कठोर-उरोज - युग - मुख - स्यामता छाई नई ॥
अरिबिन्द है को मनहुँ तिन मिलि सकल सुठि सुखमा हरी ।
बर राजती जिनके सुकोसनि पै अलिन-अवली खरी ॥

(९)

सागर-दुकूला-अवनि ज्यौं बसु-रासि सौं जानी गई ।
अरु तेजमय-हुत बहन कौं लै सभी ज्यौं मानी गई ॥
अतर-सलिल सौं ज्यौं सरस्वति है महा महिमामई ।
वा भूप-जाया गर्भ-धारन कियैं त्यौं सोभित भई ॥

प्रियानुरागस्य मनः समुन्नतेर्भुजार्जितानां च दिगन्तसंपदाम् ।
यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः ॥१०॥
सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः ।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः ॥११॥
कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भमर्मणि ।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव ॥१२॥

१०—प्यारी के अनुराग के अनुसार, मन की उन्नति के अनुसार, अपनी भुजा से प्राप्त किये हुए पृथ्वी के वैभवों के अनुसार, और (पुत्र ही होगा इस) अपने धैर्य के अनुसार उस धीर ने पुंसव आदि कर्मों को क्रम से किया ।

११—लोकपालों का अंश धारण किए हुए गर्भ के बोझ से यत्न करके आसन छोड़ने वाली ने, आदर की अंजुली से थके हाथों वाली ने, तरल आँखों वाली ने, घर में आए राजा को प्रसन्न किया ।

१२—बाल चिकित्सा में निपुण, यथार्थ जतन करने वाले, वैद्यों से गर्भ पोषण होते हुए प्रसन्न पति ने जनने की आसावती प्यारी को समय पर देखा, जैसे बादलों वाले आकाश को ।

(१०)

तब नवल-तिय-अनुराग-निज-मन-उन्नतिहिं अनुकूलहीं ।
युग-बाहु-बिजित-दिगन्त - सम्पति - विभव के समतूलही ॥
नृप पुंसवन आदिक सकल सस्कार प्रमुदित मन किये ।
और जथाक्रम निबटायौ सब कौं, धरि अमित आनंद हिये ॥

(११)

सब-लोक-पालन-अंस कौं निज गर्भ में धारन कियैं ।
गृहागत नृपै मान दै करै, जतन उठिबै के लियैं ॥
तब गर्भ-भारालस-सिथिल चंचल-दृगनि जल ढारिकैं ।
प्रनमत पतिहिं कर जोरि तेहिं नृप मुदित होत निहारिकैं ॥

(१२)

सुख-दानि-रानि कठोर-गर्मी सुख-प्रसव जासौं करै ।
बर - बाल - भेषज - निपुन - बैद्य उपाय सोई अनुसरै ॥
मुद लह्यौ नरपति-मुकुट-मनि इमि मास-दसक बितायकैं ।
प्रिय-बदन बरषनि-उनमुखी-नभथली-सौं लखिपायकैं ॥

१०—गर्भ के दूसरे अथवा तीसरे महीने में पुंसवन क्रिया होती है ।

१२—समय पर देखने से अभिप्राय यह है कि दसवें महीने में देखा ।

ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसंपदम् ।
असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥१३॥
दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे ।
बभूव सर्वशुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ॥१४॥
अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा ।
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो वभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥१५॥

१३—फिर बिना सूर्य के जाने वाले पाँचों उच्च स्थानी ग्रहों से भाग्य की सम्पत दिखाता हुआ पुत्र (उस) शची समान ने जना, जैसे त्रिसाधना शक्ति ने अक्षय अर्थ ।

१४—दिशा प्रसन्न हुईं, पवन सुखकारी चले, प्रदक्षिणा की लौ वाली अग्नि ने हव्य लिया, उस छन सब ही शुभ दिखाने वाले हुए (क्योंकि) ऐसों का जन्म लोक की भलाई के निमित होता है ।

१५—सूतक घर के आस-पास के फैले हुए उस सुजन्मा के स्वभाविक तेज से आधी रात के दीपक सहज ही मंद ज्योति हो गए, मानो चित्र में लिखे हुए ।

(१३)

सुमधरी रानि सची-समा सुत-प्रसव करि अति सुखलह्यौ ।
रवि-रहित-पाँचौं-उच्च-गृह कौ जोग जाही खनरह्यौ ॥
उतसाह-मंत्र-प्रभाव-प्रभवा-राजसक्ति भई सदा ।
नृप कौ अमित-ऐस्वर्ज-कर तिमि भयौ नरपति-सुत मुदा ॥

(१४)

दसहूँ दिसनि आनन्द छायौ पवन मंजु बहै लगी ।
घृत-हव्य-आहुति-बलित-होम-हुतास ह्वै प्रजुलित जगी ॥
सुभ-सगुन-सूचक-सकल-लच्छन वा समैं देखे गये ।
अवतार ऐसनि के सदाही जगत-मंगल हित भये ॥

(१५)

तब सूतिका-गृह के चहूँ दिसि दीप जे अधिरात कौं ।
हे बरत, छीन-छटा भये जिमि होत चन्द्र प्रभात कौं ॥
सिसु-सद्य-जन्मा-गातसौं फैली प्रभा तेजो-मई ।
तिन चित्र मैं चित्रित प्रदीपनि की मनौं सुखमालई ॥

१३—प्रभाव और मन्त्र और उत्साह तीनों त्रिसाधना शक्ति हैं । जो उच्च ग्रह सूरज के साथ होकर पड़ें तो अपना फल नहीं देते ।

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसंमिताक्षरम् ।
अदेयमासीत्त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे ॥१६॥
निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिवतः सुताननम् ।
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनाद्गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि ॥१७॥
स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥१८॥

१६—रनवास से आने वाले पुत्र जन्म के अमृत समान अक्षर सुनाने वाले मनुष्य के निमित देने को राजा की तीन ही वस्तु न थी चन्द्रमा की सी चमक वाला छत्र और दो चमर ।

१७—बिना पवन के कमल समान निश्चल नेत्रों से पुत्र का सुन्दर मुख पीने वाले राजा का बड़ा हर्ष अपने में समाने को समर्थ न हुआ, जैसे महासमुद्र का ओघ चन्द्रमा के दर्शन से ।

१८—तपोबन से आये हुए तपस्वी पुरोहित करके सब जात कर्म होने पर वह दिलीप का पुत्र अधिक शोभायमान हुआ, जैसे सान पर चढ़ा हुआ खान का रत्न ।

(१६)

सुत-जन्म कौ जब सेवकनि नैं समाचार सुनायेऊ ।
पीऊख-स्यंदित मनहुँ आखर सुनत नृप सुख पायेऊ ॥
युग-चमर सित, सिर-छत्र छाँड़ि अदेय नहिं नृप कौं रह्यौ ।
तिन सेवकनि, अभिलाष करि मनमाहिं जो अपने, लह्यौ ॥

(१७)

निरबात-पदम-समान नैननि निरसि सिसु-आनन नयौ ।
कछु कहि न जात अनन्द जैसौ नृपति के मन मैं भयौ ॥
जिमि सलिल-सागर कौ जबैही चन्द-दरसन पावही ।
तौ बढ़न लागत हर्ष सौं निज कूल मैं न समावही ॥

(१८)

तबहीं बरिष्ठ-बसिष्ठ-मुनि-बर तपोबन सौं आयकैं ।
कीन्ह्यौं सकल सिसु-जात-कर्मनि अमित मोद बढ़ायकैं ॥
नरपति दिलीप के सुबन-वर, अनुपम सुधरता यौं लई ।
जिमि सान पै चढ़ि खानि-मनि की होति है सुखमा नई ॥

(१७) नेत्रों से पीना अर्थात् बहुत प्यार से देखना ।

सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥१९॥

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः ।
ऋणाभिधानात्स्वमेव केवलं तदापितॄणां मुमुचे स बन्धनात् ॥२०॥

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः ।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसंभवम् ॥२१॥

१९—कानों को सुख देने वाली मंगलीक बाजों की ध्वनि वारांगनाओं के आनन्द के नाचों सहित केवल मगध देशनी के पति के घर में ही नहीं किन्तु देवताओं के मार्ग (आकाश) में भी पूरी।

२०—उस रक्षक का कोई बंधुआ न था जिसको पुत्र जन्म से हर्षित होकर छोड़ देता, तब वह केवल अपने पितृ ऋण नाम बन्धन से छूटा।

२१—"यह लड़का शास्त्र के और युद्ध में बैरियों के पार को पहुँचे" इसलिए अर्थ जानने वाले राजा ने (रघि) धातु का चलना अर्थ समझ कर अपने पुत्र को रघु नाम दिया।

(१९)

मांगलिक-बाजन की स्रवन-सुखदैन-धुनि अतिसै भली ।
बर-बार-बनितन केसुनरतन-घूँघुरू-स्वनसौं मिली ॥
केवल महीप-दिलीपजू के सदनही मैं नहिं भई ।
वह बिमल-अम्बर के बिहारिन देव-गन-गृहलौं गई ॥

(२०)

नहिं रह्यौ कारागार में बन्दी कौऊ नरनाह के ।
सुत जन्म के आनन्द मैं जेहिं छोड़ते सउछाह के ॥
तब पितर-गन कौ रिन-सुबन्धन अमित-जटिल बिचारिकै ।
नृप मुक्त कीन्ह्यौं आपनैं कौं ताहि सौं मुद धारिकै ॥

(२१)

स्रुति-पारगामी होय मम सुत बिजय पर-पुरपै लहै ।
'रघि' धातु कौपुनि 'गमन-अर्थ' बिचारि निज मन मैं यहै ॥
बर अर्थ जाननिहार अमित-उदार अभिलाखनि भख्यौ ।
निज सुवन कौ बहु सोचिकै 'रघु' नाम नरनायक धर्‌यौ ॥

पितुः प्रयत्नात्स समग्रसंपदः शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने ।
पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः ॥२२॥

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरंदरौ ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥२३॥

रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम् ।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥२४॥

२२—पूरी सम्पदा वाले पिता के यत्नों से उसने शरीर के सुन्दर अंगों में दिन-दिन बढ़ती पाई, जैसे सूर्य की किरण के प्रवेश से नए चन्द्रमा ने ।

२३—जैसे कार्तिकेय से महादेव और पार्वती, जैसे जयन्त से इन्द्र और शची, तैसे उन्हीं के सदृश पुत्र से उन्हीं के समान राजा और वह मगध देशनी हर्षित हुए ।

२४—जो चकवा चकवी का सा प्रेम मन का बाँधने वाला एक दूसरे में था सो इकलौते बेटे का बाँटा हुआ भी परस्पर उनके ऊपर वृद्धि को पहुँचा ।

(२२)

सुभ परम-सम्पति-मान निज पितु जतन-नेहहिं-सौं पगे ।
यौं दिनहिं दिन रघु-अंग-अवयव, पुष्ट ह्वै बाढ़ै लगे ॥
जिमि पाय किरन-प्रवेस दिनमनि कौ अमित छबि छायकै ।
है बढ़त बाल-मयंक नित-प्रति निज छटा छिटकायकै ॥

(२३)

षटबदन सौं जिमि गौरि-मौलिमयंक हिय आनंद लह्यौ ।
सुरपति-सचीहुँ जयंत-सुती-सौं सुख लह्यौ ज्यों मन-चह्यौ ॥
रघु सौं दिलीप महीप अरु वह मागधी वैसेहिं भई ।
सन्तान दम्पति-परम-आनन्द अवधि केहि बरनी गई ॥

(२४)

तबहि चक-चकई सरिस दृढ़ प्रेम दम्पति कौ नयौ ।
सुत जन्महू सौं वह परस्पर न्यून नहि नैसुक भयौ ॥
नित बढ़न लाग्यौ तबहुँ आस्रम औरहू यद्यपि रह्यौ ।
येहि प्रेम-सिन्धु अगाध को थाहहिं न काहूनैं लह्यौ ॥

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्यचाङ्गुलिम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥२५॥

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥२६॥

अमँस्त चानेन परार्ध्यजन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम् ।
स्वमूर्तिभेदेनगुणाग्र्यवर्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः ॥२७॥

२५—धाय का कहलाया हुआ पहला बचन उसने कहा और उसी की अँगुली पकड़ कर चला और प्रणाम सिखाने से झुका, इससे उस बालक ने पिता का हर्ष बढ़ाया ।

२६—उस त्वचा पर अमृत सा बरसाते हुए को गोद में लेकर शरीर के मिलने से उपजे हुए सुखों से संपूर्ण आँख मीचा हुआ राजा बहुत काल पीछे पुत्र स्पर्श के स्वाद को पहुँचा ।

२७—और ऐसे शुद्ध जन्म वाले से मर्यादा पालक ने (अपने) वंश को स्थिति मन्त माना, जैसे सतो गुणी विष्णु अवतार से ब्रह्मा ने अपनी सृष्टि को ।

(२५)

तुतराय लाग्यौ कहन सिसु बतियाँ सुनीं जे धाय सौं ।
गहि आँगुरी तेहि की चल्यौ पुनि पुहुमि पै अति चाय सौं ॥
दीन्ह्यौं प्रनति दरसाय तासु निदेस कौ इमि पायकैं ।
यहि भाँति सौं तिन दीन्ह परम अनन्द जनकहिं आयकैं ॥

(२६)

तब महामहिम महीप सिसु कौं अंक मैं बैठायकैं ।
निज गात-जोगज-अमित-सुख सौं सुधा-धार वहायकैं ॥
मँदे जुगल अरबिन्द-से अँखियान-सम्पुट कौं तबै ।
निज सुवन-अंगन-परस-रस तेहिं काल ही जान्यौं सबै ॥

(२७)

जिमि सत्व-गुन-आधार सौं बिधि बिस्नु कौं निरमायकैं ।
स्वितसील मानत है सकल निज सृष्टि कौ सुखपायकैं ॥
रघु-सम सकल-गुन-खानि-सुत लहि भाग-सौं तेहि भाँति सौं ।
मान्यौं सुथिर निज बंस भूप-दिलीप निहित-अराति सौं ॥

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥२८॥
अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥२९॥
धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः ॥३०॥

२८—उस चूड़ा कर्म किये हुए ने, उड़ती कुल्लियों वाले अपनी अवस्था के मन्त्री पुत्रों के साथी ने, अक्षरों को यथोचित ग्रहण करके शब्द के शास्त्र में प्रवेश किया, मानो नदी द्वारा करके समुद्र में ।

२९—उस बाप के प्यारे विधि पूर्वक उपनयन किए हुए को विद्वान गुरुओं ने सिखाया और उसमें उनका परिश्रम सफल हुआ, सुपात्र ही में दी हुई सीख फलती है ।

३०—उस बड़ी बुद्धि वाले ने बुद्धि के सब गुणों से चार समुद्र समान चार विद्याओं को क्रम से पार किया, जैसे पवन से भी अधिक बेगवान घोड़ों से सूरज ने दिशाओं को ।

(२८)

तब भये चूड़ा-कर्म के कछु दिन-अनन्तर साथ हीं ।
सम-बैस-सचिव-कुमार-गनके, लख्यौ कोसलनाथ हीं ॥
ह्वै जात अज ज्यौं नदी-मुख मकरादि पावन पाथ मैं ।
करि ग्रहन अच्छर-क्रम जथा बिधि सब्दसास्त्र अगाध मैं ॥

(२९)

उपवीत-धर गुरु-प्रिय नराधिप-सुतहिं पंडित-मंडली—
निस्सेष-सास्त्र-समुद्र के बहि पार प्रमुदित लै चली ॥
इमि सफल-स्रम तै भये गुरु-जन सकल रघुहिं पढ़ायकैं ।
सति कहत सिच्छी फलति है सतपात्र ही कौ पायकैं ॥

(३०)

तब राजपुत्र-उदार-मति बुधि के सकल गुन पायकैं ।
बिद्यानि चारिहुँ अम्बु-निधि-लौं पार कीन्ह्यौं जायकैं ॥
जिमि पौन-गति सौं बहनवारे बाजि-राजिन साथ ही ।
ह्वै जात पार दिगन्त के प्रतिदिन प्रबल दिननाथ हीं ॥

२८—ओलम के द्वारा शब्द जानना ।

३०—चार विद्या यह हैं—आन्वीक्षिका, त्रयोवार्त्ता, टराडनी, तिश्चशाश्वती । एता विद्याश्चत स्त्रस्तु लोक संस्थिति हेतवः ।

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥३१॥
महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव ।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥३२॥
अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद्गुरुः ।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः ॥३३॥

३१—काले हरिण की पवित्र खाल ओढ़ कर उसने पिता ही से मन्त्र सहित अस्त्र विद्या सीखी, उसका बाप केवल चक्रवर्ती ही न था वह पृथ्वी में धनुषधारी भी एक ही था।

३२—जैसे बैल पन को पहुँचते हुए बछड़े ने, जैसे गजेन्द्र पन को पहुँचते हुए पाठे ने, (तैसे) बाल पन से यौवन अवस्था में जाते हुए रघु ने हौले हौले गम्मीरता सहित मनोहर शरीर को पाला।

३३—गोदान संस्कार से पीछे उसकी विवाह क्रिया पिता ने कराई, राजाओं की कन्या उस अच्छे पति को पाकर शोभायमान हुई, जैसे दक्ष की बेटियाँ चन्द्रमा को (पाकर)।

(३१)

तनु धारि चर्म कुरंग कौ ब्रत ब्रह्मचारी कौ लियौ।
निज पितु दिलीपहिं सौं सबिधि अभ्यास अस्त्रन कौ कियौ ॥
वाकौ पिता यहि बिस्व मैं नहिं रह्यौ केवल नृपवती।
वाकी धनुर्धर माहिं रेखा प्रथम सींची बिधि हुती ॥

(३२)

ज्यौं होत बच्छहिं सौं बृषभ, अरु कलभ सौं गजराज है।
सिसुताहिं मनुज बिहाय क्रम-सौं लहत जोबन साज है ॥
तैसेहिं महीप - दिलीप - नन्दन बालकाल बितायकैं।
सोह्यौ मनोहर ललित अति गम्भीर बपु कौं पायकैं।

(३३)

गोदान बिधि के तब अनन्तर तासु पितु मुदमानि कैं।
सुभ रच्यौ पानिग्रहन सुतहिं बिबाह छम-बय जानिकैं ॥
केतिक नरेसन-सुतानि नैं तेहि सम अलभ-बर पायकैं।
सन्तोष मान्यौं दच्छ-कन्या लहि जथा निसि-नायकैं ॥

३३—गोदान संस्कार प्रथम डाढ़ी मुंडन को कहते हैं।

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकंधरः ।
वपुः प्रकर्षादजयद्गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयादृश्यत ॥३४॥

ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता धुरम् ।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक् ॥३५॥

नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं तदास्पदं श्रीर्युवराजसंज्ञितम् ।
अगच्छदंशेन गुणाभिलाषिणी नवावतारं कमलादिवोत्पलम् ॥३६॥

३४—तरुण अवस्था वाले रघु ने, जुए समान बड़ी भुजा वाले बलवान ने, चौड़ी छाती वाले ने, विशाल ग्रीवा वाले ने शरीर की बड़ाई से पिता को जीत लिया तो भी नम्रता के कारण छोटा ही दिखलाई दिया ।

३५—तिस पीछे अपने बहुत काल के धारण किए हुए प्रजा के बड़े बोझ को छोटा करने के निमित राजा ने उसको इसलिए कि "यह स्वभाव से और संस्कार से नम्र है" युवराज पद भोगने वाला दिया ।

३६—राजा रूपी मुख्य स्थान से (निकल कर) युवराज पदवी वाले रघुरूपी को गुण चाहने वाली लक्ष्मी अंश करके गई, जैसे कमल से नए उत्पल को ।

(३४)

अति-चंड-जुग-मुख-दंड साल-बिसाल जाके सोहहीं ।
परिनद्ध-कंधर सबल-बच्छ-कपाट-यति मन मोहहीं ॥
इमि प्रबल बयुष-प्रकर्ष सौं रघु बढ़ि दिलीपहुँ सौं गयौ ।
बिनयादि-गुन-गन-भारसौं नित रह्यौ निज पितु सौं नयौ ॥

(३५)

गुरु-राज-धुर कौं भूप नैं निज कंध पै अबलौं लियो ।
बर-सुबन कौं लहि भार वाकौ चह्यौ जब कछु लघु कियौ ॥
तब निज-निसर्ग-बिनीत-राजकुमार कौं मुदमानिकैं ।
सौंप्यौ नृपति युवराज-पद सब भाँति लायक जानिकैं ॥

(३६)

तबहीं दिलीप-महीप-मुख्य-सुधाम तजि सुखमा-मई ।
निज अंस सौं गुन-गनिन मैं अभिलाखिनी लक्ष्मी नई ॥
युवराज-संज्ञक रघु-समीप समोद या बिधि सौं गई ।
जीरन-सरोज बिहाय कमला नव-कमल जिमि सोहई ॥

विभावसुः सारथिनेव वायुना घनव्यपायेन गभस्तिमानिव ।
बभूव तेनातिरां सुदुःसहः कटप्रभेदेन करीव पार्थिवः ॥३७॥
नियुज्य तं होमतुरंगरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम् ।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः ॥३८॥
ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरंगमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः ।
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः ॥३९॥

३७—जैसे पवन सारथी से अग्नि, जैसे शरद से सूरज, जैसे कनपटी के मद से हाथी,ऐसे उस (रघु) से राजा अति दुःसह हुआ ।

३८—उस धनुषधारी को, राजकुमारों के मुखिया को, यज्ञ के घोड़े की रक्षा में नियुक्त करके वह इन्द्र की उपमा वाला राजा यज्ञों के एक घाट सैकड़े को बिना विघ्न कर गया ।

३९—तिस पीछे कहते हैं कि उस उजमान के यज्ञ निमित फिर छोड़े हुए घोड़े को, बिना बन्धन वाले को, धनुष धारी रक्षकों के सामने ही से गुप्त अंग होकर इन्द्र ने चुराया ।

(३७)

जिमि पवन-सारथि पाय पावक परम-प्रजुलित होति है ।
घन सघन-पटल बिदारि जिमि रवि लहत उग्र उदोत है ॥
मद-बारि-धारनि साथ सोभित होत जिमि बारन नयौ ।
तिमि रघु-सहाय-महीप-रत्न-दिलीपहू दुस्सह भयौ ॥

(३८)

मख-बाजि-रच्छन-हित धनुर्धर सुतहिं भूप लगायकैं ।
बहु नृप-कुमारन-बलित-सेनहिं पठै तासु सहायकैं ॥
सुठि-पाक-सासन लौं दिलीप-महीप ह्वै सोभित खर्‌यौ ।
निन्नानबै निरबिघन त्यौं हयमेध-जग्यनि है कर्‌यौ ॥

(३९)

सतमखन-पूरन-करत-हित तब अमित हिय हरषायकैं ।
छाँड़्यौ अनर्गल जग्य-बाजिहिं बिकट-कटक सहायकैं ॥
देखत धनुर्धर-बृन्द वाकौ रह्यौ अति बिस्मय भर्‌यौ ।
पै कपट-भेस बनाय हरिनैं आय वाहरिकौं हर्‌यौ ॥

३७—दुःसह=जिसका सहना कठिन हो ।

विषादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत् ।
वशिष्ठधेनुश्च यदृच्छयागता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥४०॥

तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः ॥४१॥

स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसंभवः ।
पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम् ॥४२॥

४०—तब कुमारों की सेना अकस्मात मनोरथ भंग होने से उद्योगहीन होकर चकित रह गई और प्रभाव सुनी हुई वसिष्ठ की नन्दिनी गाय अपनी इच्छा से आई हुई दिखलाई दी।

४१—उसके अंग से निकले हुए पवित्र जल (मूत्र) को अच्छों का मुखिया दिलीप का बेटा दोनों नेत्रों में मलकर इन्द्रियों से परे के भी पदार्थों का देखने वाला हुआ।

४२—उस राजकुमार ने पर्वत के पंख काटने वाला देवता (इन्द्र) पूर्व दिशा में सारथी करके बारम्बार रोका हुआ रथ को रस्सी में बँधा हुआ चंचल घोड़ा लिए जाते देखा।

(४०)

तब नृप तनय-रघु-सैन अमित-बिषाद सौं जड़मति भई।
गुनि भंग सब अपनौं मनोरथ चकित-सी पुनि रहि गई॥
तबहीं जो स्वेच्छा सौं चलति अरु फिरति रहि जगबन्दिनी।
तिनके बिलोचन-पथ-परी सहसा सुघर सो नन्दिनी॥

(४१)

सत्पुरुष पूजित तबहिं रघु नैं परम हर्षित होय कैं।
अति ही पुनीत गोमूत्र सौं निज जुगल नैननि धोयकैं॥
ताके अमोघ-प्रभाव सौं तिन दिब्य-दृष्टिहिं इमि लह्यौ।
इन्द्रिय-अतीत पदार्थ हू कौ लखन की छमतहिं गह्यौ॥

(४२)

नर-देव-सम्भव-भूप-सुत दृग फेरि पूरब ओर कौं।
गिरि-पच्छ-दारन-हरिहिं हेर्‌यौ सपदि मख-हय-चोर कौं॥
बाकौ सुसारथि रह्यौ हरि की चपलताहिं निवारिकैं।
जो रह्यौ स्यन्दन-रज्जु सौं दृढ़ बँध्यौ निज-बल-हारिकैं॥

शतैस्तमक्ष्णामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः ।
अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव ॥४३॥

मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे ।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे ॥३४॥

त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा ।
स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतोविधिः ॥४५॥

४३—बिना पलक चलाने वाले नेत्रों के सैकड़ों से और हरे घोड़ों से रघु ने उसे इन्द्र जान कर आकाश छूने वाले धीरे गंभीर शब्द से पुकारा, मानो वर्जने को ।

४४—हे देवेन्द्र सदा तुझी को यज्ञ में भाग लेने वालों का मुखिया पंडित लोग कहते हैं, नित्त यज्ञ से पवित्र मेरे पिता का कारज बिगाड़ने के निमित कैसे तू प्रवृत्त होता है ।

४५—तुझ तीन लोक के नाथ से, दिव्य आँखों वाले से, सदा यज्ञ के बैरी सीधे किये गए हैं सो तू आप ही जो धर्मचारियों के कामों में विघ्न होता है तो धर्म नष्ट हुआ ।

(४३)

अपलक-बिलोचन-सहस जाके मंजु आनन भ्राजहीं ।
तिमि कपिल रँग के बाजि वाके रुचिर स्यन्दन राजहीं ॥
इन चिन्हनहिं सौं राजसुत ने देव-नायक जानिकैं ।
रोक्यौ जलद-गम्भीर-रव करि अति अनख हिय मानिकैं ॥

(४४)

"जे लहत हैं मख-भाग तिन सुर-बरन के मधि सर्वदा ।
है प्रथम राउर-रेख मुनि-जन कहत हैं यहि बिधि मुदा ॥
नित जग्य-दीच्छा-निरत-मो-पितु-मख-बिघातन माहिं यौं—
लागे रहतु हौ, हेतु मोहिं याकौ बतावहु आपु क्यों ?

(४५)

हैं दिव्य दृष्टि तथैव त्रिभुवननाथ या, जग आपहीं ।
तुमहिं चहियैं मख-बिघातिन-हनि धरमधुर-थापहीं ॥
पै धर्म-पथ मैं बिघ्न-मूरति आपही जब ह्वै रहे ।
तब जानि लीजै बिधि बिधानन-मार्ग-कण्टक ब्वै रहे ॥

तदङ्गमग्र्यं मघवन्महाक्रतोरमुं तुरंगं प्रतिमोक्तुमर्हसि ।
पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम् ॥४६॥

इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम् ।
निवर्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम् ॥४७॥

यदात्थ राजन्यकुमार तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः ।
जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः ॥४८॥

४६—इसलिये हे इन्द्र ! महा यज्ञ के मुख्य अंग इस घोड़े को तू छोड़ने के योग्य है, वेद का मार्ग दिखाने वाले महात्मा मैलों का मार्ग स्वीकार नहीं करते हैं ।

४७—रघु का कहा हुआ यह गर्वित वचन सुन कर देवताओं के राजा ने चकित होकर रथ फेरा और उत्तर देने लगा ।

४८—हे राजकुमार जो तूने कहा सो ठीक है परन्तु यज्ञ के धनियों को बैरियों से यज्ञ रक्षा के योग्य होता है, मेरे सब जगत प्रसिद्ध यश को तेरा पिता यज्ञ करके उल्लंघन करने पर उद्यत हुआ है ।

(४६)

वहि महा-मुख कौ प्रमुख अँग जो यहु तुरंग तेहिं छोड़ियै ।
यहि भाँति की पुनि कुटिल-चालनि सौं सुरप-मुँह मोड़िये ॥
स्रुति के बिमल-मगकौ दिखावन-मार्ग जे सिर लेत हैं ।
ते भूलिहू इमि अजस-पथ मैं कबहुँ नहिं पग देत हैं ॥

(४७)

जब इमि दिलीप-महीप-नन्दन-सुख-बचन-रचना खरी ।
सुर-लोक-अधिपति-पाक-सासन-कान में सहसा परी ॥
अति चकित सो रहि गयौ स्यन्दन-बाजि सपदि फिरायकैं ।
अरु कहन लाग्यौ बैंन या बिधि राजसुतहिं सुनायकैं ॥

(४८)

"जो कहत हे नृप-सुवन ! वह तौ सत्य ही है सर्वथा ।
पै है जसोधन कौं उचित निज सुजस-रच्छन की प्रथा ॥
है जासु धवल-प्रकास-अबलौं दस-दिगन्तन लौं छयौ ।
करि जग्य राउर-जनक बाकौं ग्रसन-हित उद्यत भयौ ॥

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ।
तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी न हि शब्द एष नः ॥४९॥

अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयापहारितः ।
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य संततेः ॥५०॥

ततः प्रहस्यापभयः पुरंदरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता ।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥५१॥

४९—जैसे विष्णु एक ही पुरुषोत्तम कहलाता है, महेश्वर महादेव ही है दूसरा नहीं, ऐसे ही मुनी लोग मुझी को सौ यज्ञ करने वाला जानते हैं, हमारे (तीनों के) ये शब्द दूसरे को मिलने वाले नहीं हैं ।

५०—इसलिये तेरे पिता का यह घोड़ा मुझ कपिल की भाँति कर्म करने वाले ने हरा है, बस यहाँ तेरा यत्न नहीं चलेगा तू सगर की सन्तान के मार्ग में पाँव में मत रख ।

५१—तब हँस कर घोड़े के निडर रक्षक ने इन्द्र से फिर कहा, "जो यही तेरा निश्चय है तो शस्त्र पकड़ रघु को जीते बिना तू कृत कृत्य नहीं है ।"

(४९)

जेहिं भाँति 'पुरुषोत्तम' जनार्दन सकल जगमैं एक हैं ।
तिमि और सिव हू 'बिषम-लोचन' नाम के न अनेक हैं ॥
ऐसेहिं सकल मुनि-गनहुँ मिलिकैं मोहिं सतक्रतु भाषहीं ।
ऐसे बिसेषन अन्य-गामी होत हैं कबहूँ नहीं ॥

(५०)

येहि भाँति मैंनैं कपिल मुनि की नीति कौ आस्रय लियौ ।
अपहरन तव-पितु-जग्य-हय कौ राज-नन्दन हौं कियौ ॥
अब मखहिं करिबौ है बृथा लै सैन निज-पुर-पन्थ-गहौ ।
तुम नृप-सगर सन्तान-पथ पै मति चलौ जौ भल चहौ ॥

(५१)

तब तौ अमरपुर-पालसौं भय - भाय सकल भगायकैं ।
मख-बाजि-रच्छक राज-सुत इमि कह्यौ बचन सुनायकै ॥
"निज अस्त्र लेहु सँभारि जो अभिलाष है हिय मैं यही ।
रघु कौं पराजित किये बिनु क्रतकृत्य हरि ह्वै हौ नहीं ॥

स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः सशरं शरासनम् ।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः ॥५२॥
रघोरवष्टम्भमयेन पत्त्रिणा हृदि क्षतो गोत्रभिदप्यमर्षणः ।
नवाम्बुदानीकमुहूर्तलांछने धनुष्यमोघं समधत्त सायकम् ॥५३॥
दिलीपसूनोः स बृहद्भुजान्तरं प्रविश्य भीमासुरशोणितोचितः ।
पपावनास्वादितपूर्वमाशुगः कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम् ॥५४॥

५२—इन्द्र को ऐसे कहकर वह धनुष पर वाण चढ़ाता हुआ पैंतरे फेरने से (और) अधिक शोभायमान शरीर की सुथराई से महादेव की होड़ करने वाला उन्मुख खड़ा हुआ ।

५३—रघु के सोने के वाण से हृदय छिदे हुए क्रोधवान पहाड़ काटने वाले ने भी नए बादलों के दल को छनमात्र शोभा देने वाले धनुष में सदा सफल वाण चढ़ाया ।

५४—दिलीप के बेटे की चौड़ी छाती में प्रवेश करके भयानक असुरों के रुधिर पीने वाले उस सायक ने कुतूहल ही से आगे न चक्खा हुआ मनुष्य का लोहू पिया ।

(५२)

इमि भाखि बलकल-बचन सुरपति और अति अनखायकैं ।
नरपाल-नन्दन चोप सौं निज चंड-चाप चढ़ायकैं ॥
पुनि धारि दच्छिन-चरन पाछैं बाम आगैं लायकैं ।
निज बिपुल-बपुख-प्रकर्ष सौं हरलौं रह्यौ छबि छायकैं ॥

(५३)

पुनि अवष्टम्भ-नराच हनि रघु, इन्द्र कौ बेध्यौ हियौ ।
प्रज्वलित क्रोध-कृसानु या बिधि पाक-सासन कौं कियौ ॥
तब नवल-बारिद-पटल सौं सोभित लियैं निज चाप कौं ।
साध्यौ अमोघ-नराच तापै धारि हिय अति दाप कौं ॥

(५४)

हे आजु लौं मुद मानि भीखन असुर स्रोनित जेहिं पियौ ।
अब इन्द्र के तेहिं बान नैं है प्रवेस रघु-भुज मैं कियौ ॥
नर के रुधिर कौ स्वादु जानैं आजु लौं लीन्ह्यौं नहीं ।
हरषाय मानुष रक्त-रस को पान तेहिं कीन्हों वहीं ॥

५२—उन्मुख=ऊँचा मुख ।

५३—पहाड़ काटने वाला=इन्द्र

५४—कुतूहल=नई वस्तु की चाह ।

हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥५५॥
जहार चान्येन मयूरपत्त्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम् ।
चुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ॥५६॥
तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः ।
बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्त्रिभिः ॥५७॥

५५—स्वामिकार्तिक के पराक्रम वाले राजकुमार ने भी इन्द्र की भुजा में, ऐरावत के ठुमकारने से कड़ी अँगुलियों वाली में, शत्ती के अंगरागों से चिन्हित में अपने नाम के चिन्ह का वाण मारा ।

५६—और दूसरे मोर पंख वाले वाण से इन्द्र की महाबज्र ध्वजा काटी, वह (इन्द्र) उस पर अति कोपित हुआ, मानो देवलक्ष्मी के केश बलात्कार करके कटने से ।

५७—उन दोनों जय चाहनेवालों का देवताओं और योद्धाओं से घिरी हुई सीमा वाला घोर युद्ध पंखधारी साँपों की नाईं भयानक दीखते हुए ऊर्द्धमुख और अधोमुख वाणों से हुआ ।

(५५)

नित देव-बारन हाँकि आँगुरि कठिन जा करकी भई ।
तेहि बाहु माहिं सुरेस के, सचि-पत्र सौं रचनामई ॥
ससि-भाल सुत-लौं बिपुल-बल नृप-सूनु नहिं तनिकौ गन्यौं ।
निज नाम-अंकित-बान कौ अति कोपकै तामैं हन्यौं ॥

(५६)

पुनि निज सरासन तानि सपदि मयूर बानहिं छाँटिकैं ।
रघु, असनि-अंकित सक्र कौ धुज अवनि डार्‌यौ काटिकैं ॥
प्रजुलित-हुतासन लौं हियौ भभकै लग्यौ है सुरेस कौ ।
जिमि देखि बरबस कटे सुर-श्री-केस बिबरन भेस कौ ॥

(५७)

कीन्ह्यौं दुवौ बिजयाभिलाषिन युद्ध तहँ घनघोर हीं ।
सुर लखत डाढ़े एकादिसि रघु-बीर दूजी ओर हीं ॥
रघुताकि नभदिसि अरु सुरप महिं ओर, छाँड़त बान हैं ।
ते उड़त दीसत पच्छ्धारी बिपुल ब्याल-समान हैं ॥

५७—एक ओर देवता दूसरी ओर रघु के योधा खड़े देखते थे—इन्द्र के वाण नीचे को आते थे रघु के ऊपर को जाते थे ।

अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः ।
शशाक निर्वापयितुं न वासवः स्वतश्च्युतं वह्निमिवाद्भिरम्बुदः ॥५८॥
ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
रघुः शशांकार्धमुखेन पत्त्रिणा शरासनज्यामलुनाद्विडौजसः ॥५९॥
स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः ।
महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे ॥६०॥

५८—उस असह्य तेज के पात्र को बड़े यत्नों से फेंके हुए अस्त्रों की बरसा से इन्द्र दबाने को समर्थ न हुआ, जैसे अपने से निकली हुई अग्नि को जलों से बादल ।

५९—तब रघु ने हरि चन्दन वाले पहुँचे पर मथते हुए समुद्र की भाँति घोर शब्द करने वाली इन्द्र धनुष की प्रत्यंचा अर्धचन्द्र वाण से काटी ।

६०—उस बढ़े बैर वाले ने धनुष छोड़ कर प्रबल बैरी के मारने को पहाड़ पंख काटने वाला चमकता हुआ अस्त्र (अर्थात् बज्र) लिया ।

(५८)

बरसाय अगिनित-अस्त्र-जालनि करि अनेकन वारकौं ।
निज तेज-सुस्सह-अंस-सम्भव-अवनि-माल-कुमारकौं ॥
नहिं करि निवारन सक्यौ सुरपति रह्यौ कछु हिय-हारिकैं ।
जिमि प्रबल-जलधर कुलिस-ज्वालहिं बारिधारिनि डारिकैं ॥

(५९)

तबहीं सुरारि-प्रकोष्ठ पै जहँ रुचिर हरि चन्दन लग्यौ ।
गम्भीर-जलनिधि-मथन जैसो घोर-रव जासौं जग्यौ ॥
करि कोप रघु अपने कठिन कोदण्ड कौं पुनि तानिकैं ।
काट्यौ धनुर्ज्यहिं सक्र की ससि-अर्ध-सर सन्धानकैं ॥

(६०)

इमि देखि खंडित सिंजिनी निज त्यागिकै दृढ़ चापकौं ।
प्रति भट-अराति-निपात-हित हिय धारि अतुलित दापकौं ॥
प्रसरित-प्रभा-मंडल-प्रबल चक-चौंध चहुँ दिसि जेहिं कियौ ।
गिरि-पच्छ-दारन-हार बज्रहिं कोपि हरि निज कर लियौ ॥

५८—समुद्र की अग्नि=वडवानल ।

रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः ।
निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः ॥६१॥
तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः ।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥६२॥
असङ्गमद्रिष्वपि सारवत्तया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम् ।
अवेहि मां प्रीतमृते तुरंगमात्किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः ॥६३॥

६१—तिस से अत्यंत बल करके छाती में मारा हुआ योद्धाओं के आँसुओं सहित रघु भूमि में गिरा (और) उस व्यथा को पल भर में बिता कर योद्धाओं के हर्ष के शब्दों सहित उठा ।

६२—इस पर भी उस कठिन शस्त्र चलाने वाले की, बहुत वेर युद्ध में स्थिर रहने वाले की, अत्यन्त वीरता से वृत्रासुर का मारने वाला प्रसन्न हुआ, गुण सब ही ठौर पाँव रखते हैं ।

६३—"बल करके पहाड़ों में भी न रुकने वाला मेरा शस्त्र तेरे बिना किसी से नहीं सहा गया है, मुझ को प्रसन्न जान घोड़े के बिना (और कुछ) वर माँग" यह इन्द्र ने प्रगट कहा ।

(६१)

अरु बेग-सौं अति राजनन्दन-बच्छ-थल पै तेहि हन्यौ ।
बीरन-बिलोचन-बारि-सँग महि पर्‌यौ वह स्रौनित सन्यौ ।
पुनि पलक भारत सैनिकन की हर्ष धुनि के साथ ही ।
पीड़ा जनित तजि बिषम-मूर्छा भयौ सजग सुचिगाथही ।

(६२)

आयुध-प्रहारन माहिं निष्ठुर राज-सुतहिं निहारिकैं ।
पायौ परम संतोष हरि अरि प्रबल ताहि बिचारिकैं ।
इमि समर-अंगन बज्र-धर सौं कौन धौं समुहात है ।
सति कहत 'पद' जग मैं सदा गुन-गननि आँकौ जात है ॥

(६३)

"दारुन-महीधर-पच्छ-दारन मैं न जो कुंठित भयौ ।
तजि तुमहिं अस्त्र अमोघ मम नहिं सह्यौ काहू पै गयौ ।
मोहिं जानि परम प्रसन्न" यातैं, कह्यौ हरि हरषायकैं ।
"मन-भावतौ बरदान माँगौ, यहि तुरंग बिहायकैं ॥"

ततो निषङ्गादसमग्रमुद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम् ।
नरेन्द्रसूनुः प्रतिसंहरन्निषुं प्रियंवदः प्रत्यवदत्सुरेश्वरम् ॥६४॥

अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो ततः समाप्तेविधिनैव कर्मणि ।
अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम् ॥६५॥

यथा च वृत्तान्तमिमं सदोगतस्त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः ।
तवैव संदेशहराद्विशांपतिः शृणोति लोकेश तथा बिधीयताम् ॥६६॥

६४—तब निषंग से आके निकले हुए वाण का, सोने के पंखों को चमक से अँगुलियों को शोभित करते हुए को, फिर रखता हुआ मीठी वाणी वाला राजकुमार इन्द्र से बोला ।

६५—हे प्रभू ! जो तू घोड़े को न छोड़ने योग्य ही समझता है तो यज्ञ दीक्षा में नित्य उद्योग करने वाला मेरा वह पिता विधिपूर्वक ही समाप्त किए हुए अश्वमेध का पूरा फल पावें ।

६६—और हे लोकेश्वर ! जिस भाँति इस वृत्तान्त को सभा में बैठा हुआ, महादेव के एक अंश करके कठिनता से मिलने वाला राजा, तेरे ही दूत से सुने सो तू कर ।

(६४)

आधे-निकासे बान कौं रघु बहुरि तर्कस डारि कैं ।
जो हेम-पंख-सुकान्ति, अँगुरिन छटा रह्यौ बगारिकैं ॥
नर-पति मुकुट-मनि-वर-दिलीप-कुमार तब हरषायकैं ।
लाग्यौ कहन इमि बैन मंजुल अमरपतिहिं सुनायकैं ॥

(६५)

"नहिं तजन जोग तुरंग कौं जौ पाक-सासन मानियै ।
तब तौ इती बिनती हमारी करि कृपा हिय आनियै ॥
जबहिं मख-दीच्छा-निरत पितु सबिधि जग्य-समापहीं ।
तौ यहि तुरंगम के बिना हूँ लहैं मखफल आपहीं ॥"

(६६)

"बरबिमल-बिधु-अवतंस जो सिव-अंस सौं दुस्सह महा ।
बैठे सभा मम जनक सब बृतान्त यहु जानैं महा ॥
सन्देस-बाहक दूत अपनौं भेजि सुरपति दीजियै ।
उन सैं सुनायौ जाय येती कृपा मो पै कीजियै ॥"

तथेति कामं प्रतिशुश्रुवान्रघोर्यथागतं मातलिसारथिर्ययौ ।
नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्तत ।।६७।।
तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः ।
परामृशन्हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम् ।।६८।।
इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः ।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ।।६९।।

६७—"रघु के मनोरथ को ऐसा ही हो" इस प्रकार स्वीकार करता हुआ इन्द्र जैसे आया था गया—सुदक्षिना का पुत्र भी अति प्रसन्न मन न होकर राजा के सभा स्थान को लौटा ।

६८—इन्द्र दूत के पहले ही जताए हुए राजा ने वज्र के घावों से चिन्हित उसका शरीर हर्ष से कँपते हुए हाथ से छूकर उसको सराहा ।

६९—इस प्रकार पूजने योग्य आज्ञा वाले राजा ने, आयु के अन्त में स्वर्ग चढ़ने के इच्छावान ने, निन्यानवह अश्वमेधों की पंक्ति पूरी की, मानों सीढ़ियों की ।

(६७)

"ह्वै है मनोरथ सफल राउर" बैन इमि रघुसन कह्यौ ।
सुरनाथ अति मन-मुदित ह्वै अमरावती कौ पथ गह्यौ ।।
अरु उत दिलीप-महीप-नन्दन हियैं नहिं हर्षित भयौ ।
निज सैन सब लौटाय नृप ढिग राज-मन्दिर कौं गयौ ।।

(६८)

सुर-स्वामि-पायक सौं प्रथमहीं जानि सकल प्रसंग कौं ।
आनंद-जड़ित निज-पानि सौं परस्यौ नृपति सुत-अंग कौ ।।
तीखन-कुलिस के धाय केतिक समुद जेहिं समुहैं सहे ।
नरपाल अपने हाथ तेहिं सुत-गात पै फेरत रहे ।।

(६९)

यहि भाँति सौं महनीय-सासन महिप-मनि प्रमुदित हिये ।
निन्नानबै हय-मेध-जग्यनि सबिधि परिपूरन किये ।।
निज आयु-छय मैं स्वर्ग जैबे-हित मनहुँ मन लायकैं ।
नरलोक सौं सुरलोक लौं सोपान रुचिर बनायकैं ।।

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ।।७०।।

७०—निदान उस विषय से विरक्त चित्त वाले ने युवान बेटे को विधि पूर्वक राज का चिन्ह स्वतछत्र देकर उस रानी सहित मुनि वन के वृक्ष की छाया सेई, बूढ़ी अवस्था के इक्ष्वाकुवंशियों की यही कुल रीति थी ।

(७०)

सवैया

बृद्ध महीपति नैं तब तौ, बिषै-बासना-सौं मुख मोरिहि लीन्ह्यौं ।
औ' सित-आतप-बारन चारु, जथाबिधि सौंपि स्व-सूनु कौं दीन्ह्यौं ।।
लै सँग रानि-सुदच्छिना कौं, बिसराम तपोबन मैं चलि कीन्ह्यौं ।
या बिधि बृद्ध-इक्ष्वाकु-नरेस कुल-ब्रत धारयौ दिलीपहुँ चीन्ह्यौं ।।

———

॥ चतुर्थः सर्गः ॥

स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ ।
दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः ॥१॥
दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम् ।
पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः ॥२॥
पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्ननयनपङ्क्तयः ।
नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः ॥३॥
सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम् ॥४॥

चौथा सर्ग

१—पिता का दिया हुआ राज पाकर वह अधिक शोभायमान हुआ, जैसे दिन के अन्त में सूरज का दिया हुआ तेज (पाकर) अग्नि ।

२—दिलीप से पीछे राज्य पर उसको बठा सुनकर राजाओं के हृदय में मानो पहिले धुंधकती हुई आग प्रज्वलित हुई ।

३—इन्द्र ध्वजा सरीखा उसका नया वैभव देखती हुई ऊँचे नेत्रों वाली सन्तानवती प्रजा सुखी हुई ।

४—उस जग गामी ने एक ही साथ दोनों दबाए, पुरखों का सिंघासन और बैरियों का सम्पूर्ण मंडल ।

चौथा सर्ग

दोहा

(१)

पाय जनक सौं राजकौं, सोह्यौ इमि नरपाल ।
जिमि दिनमनि सौं तेज लहि, हुतभुज संध्याकाल ॥

(२)

नृप दिलीप-उपरान्त सुनि, रघुहिं राज-आसीन ।
धधकि उठ्यौ भूपनि-हियैं, द्वेष-अनल प्राचीन ॥

(३)

निरखि तासु नूतन-बिभव, सुरपति-धुजा समान ।
ऊँचे नैननि करि लख्यौ, प्रजा-सहित-सन्तान ॥

(४)

एक संग चढ्यौ दुहुँन पै, गज-गति रघु नरपाल ।
अरि-मंडल अरु पूज्य-पितु-सिंहासन सुबिसाल ॥

३—इन्द्र ध्वजा=राज द्वार का झन्डा ।

छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम् ।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥५॥
परिकल्पितसांनिध्या काले काले च बन्दिषु ।
स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती ॥६॥
मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः ।
तथाप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीद्वसुंधरा ॥७॥
स हि सर्वस्य लोकस्ययुक्तदण्डतया मनः ।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ॥८॥

५—उस राज अभिषेक किए हुए को लक्ष्मी ने आप अप्रगट होकर कान्ति मंडल से अनुमान होने वाले कमल छत्र से सेवन किया ।

६—और समय-समय बन्दी जनों में निकटवर्तनी होकर सरस्वती ने उस स्तुति को अर्थवान स्तुतियों से सन्मान किया ।

७—मनु आदि से लेकर पूज्य मान राजाओं की यद्यपि भोगी हुई थी, तो भी पृथ्वी उसमें दूसरे की न भोगी सी हुई ।

८—(क्योंकि) उसने यथोचित दण्ड देने से सब लोगों का मन हर लिया था, जैसे न अति ठंडी न अति तत्ती दक्षिण की पवन ने ।

(५)

छाया मंडल लच्छ सौं, कमला गुप्तहिं आय ।
दियौ मनहुँ नरनाह-सिर, सरसिज-छत्र लगाय ॥

(६)

नरपति-चारन-गन-निकट, जाय सबल गुनधाम ।
गायौ अस्तुति-ब्याजसौं, सारद सुजस ललाम ॥

(७)

पहिलेहिं मनु आदिक नृपन, भोग्यौ अबनि अघाय ।
तबहूँ वह नूतन लसी, रघु-सौ नायक पाय ॥

(८)

लियौ दंड बिधि सो नृपति, सबुन हियै कौ जीति ।
रह्यौ दक्खिनी पवन सम, समसीतोषनि-रीति ॥

५—रघु के तेज से लक्ष्मी ने आप छत्र किया ।

मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ ।
फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः ॥९॥
नयविद्भिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम् ।
पूर्व एवाभवत्पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः ॥१०॥
पञ्चानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः ।
नवे तस्मिन्महीपाले सर्वं नवमिवाभवत् ॥११॥
यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा ।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥१२॥

९—गुणों की अधिकता से उसने प्रजा को पिता से मन्द उत्साह कर दिया जैसे आम के फलने पर मौर में ।

१०—नीति जानने वालों ने नए राजा को धर्म और अधर्म दिखलाए, उसमें पहला ही पक्ष हुआ दूसरा न हुआ (अर्थात् धर्म ही ग्रहण किया गया अधर्म नहीं) ।

११—पंच भूतों के गुण भी बड़ाई को पहुँचे, उस नए राजा में सब वस्तु नई सी हुई ।

१२—जैसे हर्ष देने से चन्द्रमा, जैसे तपाने से तपन (सूर्य) ऐसे ही प्रजा रंजन से वह यथार्थ राजा था ।

(९)

रघु-गुन-मोहित प्रजा इमि, चली दिलीपहिं भूलि ।
भूलत जन जिमि बौरि कौ, लहि रसाल-फल-फूलि ॥

(१०)

नीति-कुसल नूतन नृपहिं, सरल-कुटिल दोउ राहिं ।
दरसायौ मंत्रिन, नृपति, प्रथमहिं गह्यौ उमाहिं ॥

(११)

पंचभूत-कारन सकल, बिकसे नरपति-गात ।
भये नवल नरनाह के, नूतन सबै लखात ॥

(१२)

जथा ताप सौं 'तपन' कहैं, सीतल तासौं 'चन्द' ।
सार्थक 'राजा' नाम कियौ, रघु दै प्रजहिं अनन्द ॥

९—जब तक फल नहीं आता मौर ही प्यारा लगता है, फिर जब फल आया तो मौर में किसी का प्यार नहीं रहता ।

१२—चद् धातु से चन्द्रमा शब्द बना है और चद् का अर्थ प्रसन्नता में होता है ।

कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने ।
चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना ॥१३॥
लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता ।
पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा ॥१४॥
निर्वृष्टलघुभिर्मेघैर्मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः ।
प्रतापस्तस्य भानोश्चयुगपद्व्यानशे दिशः ॥१५॥
वार्षिकं संजहारेन्द्रो धनुर्जैत्रं रघुर्दधौ ।
प्रजार्थसाधने तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकौ ॥१६॥

१३—कान तक फैले हुए उसके विशाल दो नेत्र निस्सन्देह थे, परन्तु (वह) आँखों वाला तो कर्म की सूक्ष्म विधि दिखाने वाले शास्त्र ही से था ।

१४—निदान प्राप्त किए हुए (राज) को रक्षा से उस निधड़क (राजा) को कमल के चिन्ह वाली शरद ऋतु आई, मानो दूसरी राज लक्ष्मी ।

१५—बरसे हुए हलके बादलों का मार्ग छोड़ा हुआ उसका कठिन प्रताप और सूरज का एक ही साथ दिशाओं में व्याप्त हुआ ।

१६—वर्षा का धनुष इन्द्र ने रक्खा, जीत का रघु ने उठाया, प्रजा का ही अर्थ साधने में वे दोनों बारी-बारी से धनुष धारी हुए ।

(१३)

काननि लौं बढ़ि कैं लगे, दोऊ नैन बिसाल ।
पैलहि सूच्छम-दर्सिता, सास्त्रन पढ़ि नरपाल ॥

(१४)

निहत-सत्रु-नृप कहँ अपर, पदमा सरिस सुहाय ।
सरद-सरोरुह-लच्छना, कमला सेयौ आय ॥

(१५)

बरसा-लघु-बदरानि सौं, छूट्यौ रबि कौ दाप ।
फैल्यौ एक संग दसहूँ दिसनि, रघु कौ प्रबल प्रताप ॥

(१६)

धर्‌यौ इन्द्र पावस-धनुष, रघु निज लियौ उठाय ।
दुवौ जथाक्रम प्रजा-हित, सारंग सज्यौ बनाय ॥

पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्काशचामरः ।
ऋतुर्विडम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्रियम् ॥१७॥

प्रसादसुमुखे तस्मिंश्चन्द्रे च विशदप्रभे ।
तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत्समरसा द्वयोः ॥१८॥

हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु ।
विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥१९॥

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥२०॥

१७—कमल के छत्र वाली, खिले कास के चमर वाली, ऋतु ने उसकी होड़ की पार उसकी शोभा न पाई ।

१८—उस प्रसन्न मुख में खिली उजाली के चन्द्रमा में दोनों में नेत्रधारियों की प्रीति उस समय समान रस लेने वाली हुई ।

१९—हंसों की पंक्तियों में, तारों में और कमल वाले जलों में उसके यशों की विभूति सी फैली ।

२०—ईख की छाया में बैठी हुई खेत रखानेवालियों ने उस रक्षक के बालपन तक की कथा वाले यशों को, गुणों से प्राप्त किए हुओं को, गाया ।

(१७)

पुंडरीक कौ छत्र धरि, चामर बिकसित-काँस ।
लहि न सरद समता तऊ, भयौ तासु उपहाँस ॥

(१८)

प्रमुदित आनन भूप कौ, द्युति-मय ससिहिं निहारि ।
नयनवन्त दोहूँन पै, रहे प्रीतिसम धारि ॥

(१९)

हंसनि - तारावलिन मैं, कुमुद - सरनि-जलमाँहि ।
मनु दीसै रघु-जस बिमल, विलस्यौ जहँ दृग जाहिं ॥

(२०)

बैठि ऊँख की छाँह मैं, सालि-रखावन-हारि ।
चुनैं बाल-रघु-नृप-गुननि, गावहिं मिलि पुर-नारि ॥

प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः ।
रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषतां मनः ॥२१॥

मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः ।
लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम् ॥२२॥

प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः ।
असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्रुवुः ॥२३॥

सरितः कुर्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्दमान् ।
यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत् ॥२४॥

२१—महा प्रतापी अगस्त के उदय से जल निर्मल हुआ, रघु के (उदय) से तिरस्कार का शंका मान बैरियों का हृदय कँपा ।

२२—मद माते बड़े ठाठ वाले, नदियों के तट तोड़ने वाले, बैलों ने उसके खेल के पराक्रमों की होड़ की ।

२३—सप्तपर्ण के मद सुगन्धी फूलों से तिरस्कार होकर उसके हाथों ईर्षा सी करके मानों सात अंगों से बहे ।

२४—नदियों को माँझ और मार्ग को सूखा करने वाली शरद ने उसको मन के उत्साह से पहले ही यात्रा निमित प्रेरणा की ।

(२१)

उदयें नभ-घट-जोनि के, सोह्यौ निरमल बारि ।
अरु हहर्‌यौ रघु-उदय लखि, अरि-हिय पतन बिचारि ॥

(२२)

मदमाते दीरघ-कुकुद, सरि-तट तोरनहार ।
लीला-खेलनि-नृपति-बल, समता करी अपार ॥

(२३)

सप्तच्छद - तरु - पुहुपकी, गंध सूँघि खिसियाय ।
मनु सत-धारन-रोकि रघु-गज-मद रहे बहाय ॥

(२४)

कीचरहित पथ कौं करति, देति नदिन की थाह ।
रघु-पयान-हित सरद मनु, दीन्ह प्रथम उत्साह ॥

२३—सप्तपर्ण नाम एक फूल के वृक्ष का है ।

तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ ।
प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ॥२५॥
स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः ।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥२६॥
अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः ।
पृषतैर्मन्दरोद्धूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम् ॥२७॥
स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनवर्हिषा ।
अहितानंनिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः ॥२८॥

२५—घोड़ा पूजने की विधि में अच्छे प्रकार हवन की हुई अग्नि ने दक्षिन ओर उठी लौ के मिस से मानो उसको हाथ से जय दी ।

२६—उस रक्षा किए हुए रनवासों और गढ़ों वाले ने, पीछे बैरी न छोड़े हुए अच्छे भाग्यवान ने, छः प्रकार की सेना लेकर दिगविजय की इच्छा से प्रस्थान किया ।

२७—उसको पुर की बूढ़ी स्त्रियों ने खीलों से छाया, जैसे विष्णु को क्षीर सागर की लहरों ने मन्दराचल से टक्कर खाई हुई छीटों से ।

२८—वह इन्द्र सरीखा पहले पूरब को गया, मानो पवन से फहराती हुई ध्वजाओं से बैरियों को ताड़ना देता हुआ ।

(२५)

बाजि-निराजिन के समय, हुतभुज-आहुति लीन्ह ।
दच्छिन-दिसि कर-ज्वाल करि, जय-असीस तेहिं दीन्ह ॥

(२६)

पृष्ठवर्त्ति-अरि-हनन करि गढ़-रच्छन-बनितान ।
लै षट-बिधि सँग सैन नृप, जय-हित कियौ पयान ॥

(२७)

रघु पै पुर-बृद्धानि इमि, लवा दियौ बरसाय ।
छीर-लहरि मन्दर-कननि, हरिहिं दियौ जिमि छाय ॥

(२८)

पौन-बिडौलित-केतु-सन, हरत अरिन के मान ।
सक्र-सरिस-बलसालि-नृप पूरब कियौ पयान ॥

२५—दिग्विजय को जाने के समय घोड़े का पूजन राजा करता है ।

२६—तात्पर्य यह है कि कूच करने से पहले उसने अपने महलों और गढ़ों की रक्षा का प्रबन्ध किया और पीछे बैरी न छोड़ा जो उपद्रव करता—छः प्रकार की सेना "मालं भृत्यः सुहृच्च श्रेणी द्विषदाट विकंबलम्" ।

रजोभिः स्यन्दनोद्धूर्गजैश्च घनसंनिभैः ।
भुवस्तलमिव व्योम कुवेन्व्योमेव भूतलम् ॥२९॥

प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः षरागस्तदनन्तरम् ।
ययौ पाश्चद्रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः ॥३०॥

मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः ।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः ॥३१॥

स सेनां महतीं कर्षन्पूर्वसागरगामिनीम् ।
बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः ॥३२॥

२९—रथों की उठाई धूल से और बादलों सरीखे हाथियों से आकाश को भूमि के समान और भूमि को आकाश के समान करता हुआ ।

३०—आगे तेज तिस पीछे शब्द तिस्से पीछे धूल फिर रथ इत्यादि इस प्रकार वह सेना चतुरंग सी चली ।

३१—शक्ति माता से उसने मरुभूमियों को (निर्जल धरती को) जलवती और नावों से उतरने योग्य नदियों को माँझ और वनों को निर्वृक्ष किया ।

३२—पूरब से समुद्र की ओर चलती हुई बड़ी सेना को लिये जाते उसने शोभा पाई, जैसे भगीरथ ने महादेव की जटा से निकली हुई गंगा जी को (लिये जाते)

(२९)

रथ-रज अरु बारिद-बपुख, बारन पाय सहाय ।
कियौ ब्यौम-सम अवनि कौं, नभहिं धरनि नरराय ॥

(३०)

पहिलैं चल्यौ प्रताप पुनि, सब्द रैनु रथ आदि ।
यौं नृप-चतुरंगिनी - सी सैना चली आह्लादि ॥

(३१)

करि-सरितन-नावनि सुतुर, मरु-भहिं सजल बनाय ।
कानन-सघन प्रकाश-मय, करत चल्यौ नर-राय ॥

(३२)

पूरब-सागर-गामिनी, इमि रघु सैन अपार ।
चल्यौ भगीरथ-समलियैं, हर सिर-सुर-सरि-धार ॥

२९—धूल इतनी उड़ी कि आकाश पृथ्वी सा दिखाई दिया और हाथी इतने थे कि धरती बादलों से भरी हुई सी जान पड़ी ।

त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः ।
तस्यासीदुल्वणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः ॥३३॥

पौरस्त्यानेवमाक्रामँस्ताँस्ताञ्जनपदाञ्जयी ।
प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥३४॥

अनम्राणां समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव ।
आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम् ॥३५॥

बङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् ।
निचखान जयस्तम्भान्गङ्गास्रोतोन्तरेषु सः ॥३६॥

३३—फलों से रहित किए हुए और उखाड़े हुए और बहुत प्रकार तोड़े हुए राजाओं से उसका मार्ग स्पष्ट हुआ, जैसे रूखों से हाथी का ।

३४—इस प्रकार पूरब के उन देशों को दबाता हुआ वह जय शील (राजा) महा समुद्र के तट पर, ताल के बनों से श्याम रंग वाले, पर पहुँचा ।

३५—उस बैरियों के उखाड़ने वाले से सुम्होन ने वेत की वृत्ति (अर्थात् झुकना और थर्राना) स्वीकार करके अपने को बचाया, जैसे नदी के बेग से ।

३६—उस नायक ने नाव में लड़ने वाले बंग देशियों को बल से उखाड़ कर गंगा के सोतों के टापुओं में जैत खम्ब गाड़े ।

(३३)

कियौ बिफल अरु भंग रघु, अरिन समूल उपारि ।
करत अकंटक जथा, बारन तरुन उखारि ॥

(३४)

पूरब-दिसि के देस इमि, जीतत रघु - रन-धीर ।
जाय पहूँच्यौ तालिबन, स्याम अम्बु-निधि तीर ॥

(३५)

अरि-कुल-घालक-भूपसौं, सिन्धु सबेग समान ।
बैतसी-नय गहि सुम्ह-नृपनि, कीन्ह्यौं निज परित्रान ॥

(३६)

नौ-सैना - साधन - बिपुल - बंगिन - समर - हराय ।
सुरसरि - दीपनि दिये निज, बिजय - खम्भ गड़वाय ॥

३५—सुम्ह=एक जात के लोग हैं ।

आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम् ।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥३७॥
स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः ।
उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥३८॥
स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णंन्यवेशयत् ।
अङ्कुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥३९॥
प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः ।
पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः ॥४०॥

३७—उन उखड़ कर जमे हुओं ने, चरण कमलों तक झुके हुओं ने, रघु को धनों से (अथवा फलों से) प्रसन्न किया, जैसे धानों ने ।

३८—हाथियों के पुल बाँधने वाले सेना समेत कपिशा नदी को उतर कर वह उत्कल देशी राजाओं का मार्ग दिखाया हुआ कलिंग देश के सन्मुख गया ।

३९—उसने महेन्द्र (पर्वत) के सिर पर तीक्षण प्रताप जमाया, जैसे गम्भीर वेदी हाथी के मस्तक पर महावत ने अंकुश ।

४०—हाथी पर चढ़े हुए कलिंग देशी राजा ने उसको अस्त्रों सहित सामने से लिया, जैसे शिला वर्षी पर्वत ने पंख काटने में उद्यत इन्द्र को ।

(३७)

बंग-नृपनि पद-कंज परि, कीन्ह्यौं रघु-सनमान ।
जिमि उखारि-रोपें बहुरि, धान देत बहुधान ॥

(३८)

कपिसा सरितहिं पार करि, बाँधि दुरद-दल-सेतु ।
उत्कल-दरसित-पथ कलिंग, गवनेउ रघु-कुल-केतु ॥

(३९)

प्रविस्यौ त्यौहीं महेन्द्र-गिरि-सिखर-महीप-प्रताप ।
गज - गँभीर - वेदी-सिरहिं, जिमि येतांकुस - ताप ॥

(४०)

अचल-पच्छ-दारन-हरिहिं, गिरिन-उपल जिमि डारि ।
गज चढ़ि रघुहिं कलिंगनृप, रोक्यौ तिमि सर मारि ॥

४०—हाथी पर चढ़े हुए कलिंग देश के राजा की उपमा पर्वत से दी है ।

द्विषां विषह्य काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम् ।
सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम् ॥४१॥
ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः ।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥४२॥
गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः ।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥४३॥
ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना ।
अगस्त्याचारितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥४४॥

४१—वहाँ बैरियों की बाण बरसा सहकर काकुत्स्थ ने जयश्री पाई, मानो अच्छे मंगल स्नान किए हुए ने ।

४२—वहाँ मदिरा गोष्ठी बनाकर योद्धाओं ने ताम्बूल के पत्तों से नारियल की मदिरा और बैरियों का यश पिया ।

४३—उस धर्म नियमी राजा ने पकड़ कर छोड़े हुए महेन्द्र नाथ की श्री ले ली भूमि नहीं ।

४४—तिस पीछे वह बिना यत्न जय पालने वाला सुपारी के फले वृक्षों से घिरे हुए समुद्र तट ही तट अगस्त्य की खूँदी दिशा को गया ।

(४१)

नाराचनि-बरसानि सहि, रघुनृप बिलस्यौ त्यौंहि ।
लसै नृप मंगल न्हान करि, राज-श्री लहि ज्यौंहि ॥

(४२)

पान-भूमि ताम्बूल के, दौननि रुचिर बनाय ।
नरियर-आसव सत्रु-जस, बोरन पियौ-अघाय ॥

(४३)

नृपहि पकरि अपनाय कै, छाँड़ि स - मानहि दीन्ह ।
धर्म-जयी-रघु,जसहि लहि, मेदिन तासु न लीन्ह ॥

(४४)

पुनि पुंगीफल तरु-बलित, सागर-तट अभिराम ।
बिनु प्रयास बिजयी गयौ, दच्छिन-दिसा ललाम ॥

४४—अगस्त्य की दिशा=दक्षिन ।

स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना ।
कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥४५॥
बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः ।
मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः ॥४६॥
ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः ।
तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः ॥४७॥
भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम् ।
नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीछेदिनामपि ॥४८॥

४५—उसने गज मद की सुगन्धि वाले सेना सम्भोग से कावेरी को मानो समुद्र की शंका के योग्य कर दिया ।

४६—उस उतारे पर पहुँचे हुए विजई की सेना ने हरियलों से भरे हुए मिरच के वृक्षों वाली मलयागिरि की तराई में बसेरा लिया ।

४७—घोड़ों की खूँदी इलायचियों की उड़ती रज मत्त हाथियों की कनपटियों में, समान सुगन्धि वालियों में, लगी ।

४८—चन्दन के वृक्षों में सर्प लिपटने की घाटियों में डाले हुए गले के रस्से पैर की संकल तोड़ने वाले हाथियों से भी ढीले न हुए ।

(४५)

गज-मद-वासित-सैन किय, काबेरी अवगाहि ।
तियन-चरित-संकित कियौ, मनु इमि सरितन-नाहि ॥

(४६)

हारित-गुंजित-मिरिच-बन, मलय-तराई-बास ।
कियौ बास रघु सैनकनि, धरि हिय निज जय-आस ॥

(४७)

हय-खुर-पुट-पाटित-सुरज, मिल एला-फल-धूरि ।
करि-कुंभनि पै जाय परी, तुलित-गंध-मद-पूरि ॥

(४८)

लपटे चन्दन-तरुन अहि, गहरीं रगरनि माँहि ।
पद-साँकरि-भंजन दुरद, सके तोरि रजु नाँहि ॥

४५—मद चूते हुए हाथी उसकी सेना में इतने थे कि उनके पार उतरने से कावेरी का जल सुगन्धित हो गया इससे समुद्र को जो नदियों का पति है शंका सी हुई कि यह नदी कहीं सम्भोग कर आई है ।

४६—विजई=जीत चाहने वाला ।

४७—समान सुगन्धि वाली अर्थात् अपनी सी सुगन्धि वाली ।

४८—तात्पर्य यह है कि चन्दन के वृक्ष वहाँ इतने बड़े हैं कि उनमें जो साँप लिपटने से गड्ढे पड़ गए हैं उन गड्ढे में डाले हुए रस्से बड़े हाथियों से भी न सरकाए गए ।

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥४९॥

ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः ।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम् ॥५०॥

स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ ।
स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥५१॥

असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता ।
नितम्बमिव मेदिन्या स्रस्तांशुकमलङ्घयत् ॥५२॥

४९—दक्षिण दिशा में सूरज का तेज भी मन्द होता है उसी में रघु का प्रताप पांडु देश वालों से न सहा गया ।

५०—उन्होंने विनती करके ताम्रपणी के संगम वाले महा समुद्र के बड़े मोती उसको दिए, मानो अपना इकट्ठा किया हुआ यश ।

५१—तट पर चन्दन लगे हुए मलय और दुर्दर दो पहाड़ों को उस दिशा के दो स्तनों की नाईं मनमाना भोग कर ।

५२—वह महा प्रतापी समुद्र के दूर छोड़े हुए सह्य (पर्वत) को उल्लंघन कर गया, मानो कपड़ा छोड़े हुए पृथ्वी के नितम्ब को ।

(४९)

मन्द तेज ह्वै जात रवि, जब दच्छिन दिसि होय ।
रघु-प्रताप नहिं सहि सके, पांड्य-महीपति सोय ॥

(५०)

ताम्र पर्नि अरु सिन्धु के, संगम-तट-मुकतानि ।
निज-संचित-जस-मिसु-नृपनि, पद-परि भेंट्यौ आनि ॥

(५१)

करि मर्दित तट के अचल, रघु-नृप प्रबल-प्रताप ।
दिस-उरज-दुर्दर-मलय, चन्दन-चर्चित आप ॥

(५२)

सह्य-कुधर लाँघ्यौ बहुरि, सागर-जलपट टारि ।
रम्यौ स्वरुचि अनुकूल तेहिं, महि-नितम्ब अनुहारि ॥

५१—कवि ने मलय और दर्दुर पहाड़ दक्षिण दिशा के दो स्तन माने हैं उनके तट पर चन्दन के वृक्ष हैं सोई स्तनों के पट पर चन्दन का अंगराग है ।

तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः ।
रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्णवः ।।५३।।
भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम् ।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ।।५४।।
मुरलामारुतोद्धूतमगमत्कैतकं रजः ।
तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम् ।।५५।।
अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रशिञ्जितैः ।
वर्मभिः पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनिः ।।५६।।

५३—पश्चिम की विजय को चलती हुई उसकी सेना से परशुराम के अस्त्र का हटाया हुआ समुद्र भी सह्य से मिला हुआ सा हो गया ।

५४—डर से भूषण त्यागने वाली केरल (देश) की स्त्रियों के अलकों में उसने कुम-कुम की ठौर सेना की रज करदी ।

५५—मुरला (नदी) की पवन में उठा हुआ केतकी का पराग बिना यत्न ही उसके योधाओं के कवचों को सुगन्ध का चूर्ण बन गया ।

५६—चलते घोड़ों के शरीर पर बजते हुए पाखरों ने पवन की उठाई हुई राजताली वन की ध्वनि को तिरस्कार किया ।

(५३)

पच्छिम-जीतिवै-चलत इमि, लस्यौ ससैन्य महीप ।
भृगुपति-चालित-जलधि पुनि, लहर्‌यौ सह्य-समीप ।।

(५४)

मय-कातर-केरल-तियनि, जो भजीं भूषन त्यागि ।
उनकी अलकनि रेनु-चमू, बनि कुंकुम जनु लागि ।।

(५५)

केतिकी-रज महमही मिलि, मुरला-मारुत-संग ।
रघु-सुभटनि-कवचनि-प्रबिसि, कीन्हैं सुरभित अंग ।।

(५६)

मग-गमनत-बाहननि के, पाखर-रव अधिकाय ।
राज-तालि-बन पौन-बस-धुनिकौं दियौ लजाय ।।

५३—समुद्र और पहाड़ के बीच में जो सेना चलती थी वह भी समुद्र समान दीखी ।

खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु ।
कटेषु करिणां पेतुः पुंनागेभ्यः शिलीमुखाः ॥५७॥
अवकाशं किलोदन्वान्रामायाभ्यर्थितो ददौ ।
अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम् ॥५८॥
मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम् ।
त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः ॥५९॥
पारसीकाँस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्वज्ञानेन संयमी ॥६०॥

५७—खजूर की पींड़ों में बँधे हुए हाथियों की मद चूती हुई सुगन्धित कनपटियों में भौंरे नाग केसरों से आए ।

५८—प्रसिद्ध है कि समुद्र ने परसराम को माँगने पर जगह दी थी, रघु को पश्चिम देशी राजाओं को मिस से भेंट दी ।

५९—वहाँ उसने मत्त हाथियों के दाँतों से खुदे हुए पराक्रमों के चिन्ह वाला त्रिकूट ही ऊँचा जैत खम्ब बनाया ।

६०—फिर पारसी को जीतने के लिये स्थल मार्ग से गया, जैसे इन्द्री नाम बैरियों (को जीतने) के लिये योगी तत्व ज्ञान (के मार्ग) से ।

(५७)

तंहँ खजूर-तरु सौं बँधे, गज-मद-सूँघि अघाय ।
त्यागि नाग-केसर-मधुप, कुम्भनि बैठे आय ॥

(५८)

माँगे पै जेहिं सिंधु दई, भृगुपति कौं कछु भूमि ।
तेहिं दियौ पच्छिमी-नृपनि-मिस, रघु कौं "कर" पद-चूमि ॥

(५९)

मत्त-छिरद-रदननि-खचित, अरु बस्लच्छनवान ।
रघु-त्रिकूट अचलहिं कियौ, निज जय-खंभ समान ॥

(६०)

जीतन-पारस-नृपनि इमि, अलपथ चल्यौ नरेस ।
तत्व-ग्यान सन-संजमी, ज्यौं जितै इन्द्रियावेस ॥

५९—जैत खम्ब में गाड़ने वाले के पराक्रम लिखे जाते हैं त्रिकूट पर्वत में उसके हाथियों के दाँतों के गड्ढे ही पराक्रम का चिन्ह थे ।

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः ।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥६१॥

संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः ।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत ॥६२॥

भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।
तस्तार सरघाव्याप्तैः सक्षौद्रपटलैरिव ॥६३॥

अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः ।
प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥६४॥

६१—यवनियों के मुख कमलों का मद्य मद उसने न सहा जैसे कुसमय के बादलों के उठान ने सवेरे की कमल सम्बन्धी (शरद की) घाम ।

६२—उसका बड़ा युद्ध पश्चिमी देशी घुड़चढ़ों के साथ धनुष की टंकार से दोनों ओर के योद्धा जताने वाली धूल में हुआ ।

६३—भालों से कटे हुए उनके डाढ़ी वाले सिरों से उसने पृथ्वी ढक दी, मानो मक्खियों के मरे हुए मौहार के छत्तों से ।

६४—रहे सहे पगड़ी उतार कर उसकी शरण गए, महात्माओं का कोप विनती से ही निवारण होता है ।

(६१)

जमनि-तियन-मुख-कमल-मधु-मद न सह्यौ नरपाल ।
कंजनि–बालातप न सहैं, उनये घन ज्यौं अकाल ॥

(६२)

घुड़सवार पारसिन कियौ, रघु-सौं जुद्ध अघाय ।
धनु-रोदा-टंकार सौं, परिच्यौ अपन-पराय ॥

(६३)

मधु-माखिन-छतनानि-ज्यौं, दढ़ियल-बैरिन-छाँटि ।
रघु-भट-भल्लुक सर-बरसि, दीन्हीं रन-महिं पाटि ॥

(६४)

खुले-सीस रघु-सरन गये, सेस जमन-सरदार ।
महा जननि के रोष कौ, होत प्रनति-प्रतिकार ॥

६२—युद्ध की धूल का अँधेरा ऐसा था कि उसमें दिखलाई कुछ न देता था। केवल धनुष की टंकार से दोनों ओर के योद्धा जाने जाते थे ।

विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम् ।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥६५॥
ततः प्रतस्थे कौवेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम् ।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन्त्रसानिव ॥६६॥
विनीताध्वश्रमास्तस्त सिन्धुतीरविचेष्टनैः ।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसराम् ॥६७॥
तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥६८॥

६५—उसके योधाओं ने विजय की थकावट अच्छे चमड़े बिछी हुई दाखों से घिरी हुई भूमि में मदिरा से मिटाई ।

६६—फिर जैसे सूरज जलों को किरनों से, ऐसे रघु उत्तर देशियों को वाणों से लेता हुआ कुवेर की दिशा को चला ।

६७—सिन्धु तीर की लोटन से उसके घोड़ों ने मार्ग की थकावट मिटाकर केसर लगे हुए कंधे झाड़े ।

६८—वहाँ रघु के करतब ने पतियों में पराक्रम दिखला कर हून लोगों की स्त्रियों के कपोलों में लाली दिखलाई ।

(६५)

अंगूरनि-कुंजनि-अवनि, बहु मृग-चर्म बिछाय ।
लगे बीर मदिरा-पियन, रन-जय थकनि मिटाय ॥

(६६)

बहुरि उखारत उत्तरिनि, मारि मयूखनि-बान ।
हरन-हेतु-रस उत्तरहिं, रघु-रवि कियौ पयान ॥

(६७)

सिन्धु-सरित-तट, रघु-हयनि, लोटि कियौ स्रम दूरि ।
झारी निज कंधनि लगी, केसर-कुंकुम-धूरि ॥

(६८)

तहँ हूननि सौं रघु कियौ, ऐसौ रन बिकराल ।
बिलखि-पीटि कियौ तिन-तियनि, निजकपोलननि लाल॥

६५—उस देश में दाख और मेढ़े अच्छे होते हैं । रघु के योद्धाओं ने मेढ़ों की खाल बिछाई और दाख की मदिरा पिई ।

६७—केसर उस सूत को कहते हैं जो फूलों के बीच में निकलता है ।

६८—अर्थात हूनजात के क्षत्री मारे गए इससे उनकी स्त्रियों ने रो रो कर अपने गाल लाल किये ।

काम्बोजाः समरे सोढंतस्य वीर्यमनीश्वराः ।
गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः ॥६९॥

तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः ।
उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोशलेश्वरम् ॥७०॥

ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः ।
वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः ॥७१॥

शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसंभ्रमम् ।
गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्त्यावलोकितम् ॥७२॥

६९—काम्बोज देशी (काबुली) लड़ाई में उसका तेज सहने को असमर्थ होकर गज बन्धनों से रगड़े हुए अखरोटों के साथ ही झुके ।

७०—उनकी सोने के ऊँचे ढेरों वाली भेंट अच्छे घोड़ों से अधिकता पाई हुई बारम्बार कोशलेश को प्राप्त हुई न कि घमंड ।

७१—तिस पीछे घोड़े का चढ़ने वाला (रघु) हिमालय पर चढ़ गया, मानो उड़ी हुई धातु रेणु से उसकी चोटियों को बढ़ाता हुआ ।

७२—गुफाओं में सोते हुए समान बल वाले सिंघों ने सिर उठा कर देखने से सेना के कुलाहल में भी निडरता जताई ।

(६९)

सहि न सके काम्बोज-नृप, रघु-रन-ओज-महान ।
झुके नाग-बंधन घिसे, तरु-अखरोट-समान ॥

(७०)

तहँ कम्बोज-बाजिनि बढ़ी, सुबरन रासि महान ।
लह्यौ निरन्तर भेंट रघु, पै न भयौ अभिमान ॥

(७१)

यौं अस्वारोहिनहिं लै, रघु चढ्यौ हिमगिरि सृंग ।
मनु उड़ाय बहु धातु-रज, सिखरन करत उतंग ॥

(७२)

गुहनि-औंघते केसरिन, नैसुक ग्रीवा फेरि ।
दरसायौ निरभीकतहिं, सेना-रव-दिसि हेरि ॥

७०—भेंटों के मिलने से रघु को घमंड न हुआ ।

७२—यह हिमालय के सिंघों की बड़ाई है ।

भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः ।
गङ्गाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ॥७३॥
विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः ।
दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्णमृगनाभिभः ॥७४॥
सरलासक्त मातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः ।
आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः ॥७५॥
तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः ।
गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥७६॥

७३—भोज पत्रों में मरमर शब्द करने वाली, बाँसों में धुनि कराने वाली, गंगा जल के कणों वाली, पवनों ने मार्ग में उसको सेवन किया ।

७४—योधाओं ने देव के सर की छाया बैठने वाले हरिणों की नाभि से सुगन्धित चटानों पर बैठकर विश्राम किया ।

७५—सरला के वृक्षों से बँधी हुई गज बेलों में प्रतिबिम्ब पड़कर अधिक चमकती हुई बूटियाँ रात में उस नायक की बिना तेल की दीपिका बनी ।

७६—उसके छोड़े हुए पड़ावों में किरातों को हाथियों की ऊँचाई गल बन्धनों से छिली हुई छाल वाले देवदारुओं ने जताई ।

(७३)

भोजपत्र मरमर करत, कीचक रन्ध्रनि फारि ।
सेवन रघु कहँ गंगकी, सोकर-बलित-बयारि ॥

(४७)

मृग-मद-बासित-सिलनि पै, तरु-'नमेरु'-छायानि ।
बिरमैं रघु-सैनिक मगन, परम मोद-मन-मानि ॥

(७५)

देवदास-पादप-बँधे, गज-बंधन-परि आय ।
गिरि-औषधि तिन्हैं तेल बिनु, दीपक रहीं बनाय ॥

(७६)

कंठ-रज्जु-छत-छाल लखि, देव-दारु-संघाति ।
गौनेहिं गजन-बिसालता, जानि किरात-जमाति ॥

७६—जंगली लोगों ने हाथियों की ऊँचाई इससे जानी कि देवदारु के पेड़ों में उनके बन्धनों के चिन्ह देखे ।

तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत् ।
नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥७७॥
शरैरुत्सवसंकेतान्स कृत्वा विरतोत्सवान् ।
जयोदाहरणं बाह्वोर्गाययामास किन्नरान् ॥७८॥
परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु ।
राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ॥७९॥
तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्यावरुरोह सः ।
पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम् ॥८०॥

७७—वहाँ वाणों और गोफनों के पत्थरों की रगड़ से उठी हुई अग्नि वाला रघु का घोर युद्ध पहाड़ी लोगों के साथ हुआ ।

७८—उसने उत्सव संकेतों को वाणों से जीतकर किन्नरों से (अपनी) भुजाओं का जय प्रबंध गवाया ।

७९—उनके हाथों में भेट होने पर राजा ने हिमवत का सार (धन) और हिमवत ने राजा का सार (बल) परस्पर जाना ।

८०—वहाँ अटल यश की राशि स्थापन करके वह रावण के उठाए हुए पहाड़ को लज्जा उत्पन्न कराता हुआ सा उतरा ।

(७७)

तहँ पर्वत-बासीन - सौं, कीन्ह्यौं रघु - रन - घोर ।
गोफन-पाहन-सरन-घसि, लगी आगि चहुँ ओर ॥

(७८)

तहँ "उत्सव-संकेत"-गन वासिन सरनि-हराय ।
निज भुज-जस किन्नरनि सौं, लीन्ह्यौं भूप गवाय ॥

(७९)

इक, कर-कमलनि भैंट दै, दूजैं, दै बहु मान ।
जान्यौं रघु-गिरि महतु कौं, भूप-महतु-हिमवान ॥

(८०)

तहँ हिमगिरिबर-अंक निज, थापि-अचल जस-जूप ।
दस-मुख-पाटित-सैल-सौं, उतर्‌यौ प्रमुदित भूप ॥

७८—उत्सव संकेत एक जात के पहाड़ी मनुष्य थे ।

८०—अर्थात कैलाश को छोड़ दिया क्योंकि पहले उसको रावण जीत चुका था ।

चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन्प्राग्ज्योतिषेश्वरः ।
तद्नजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः ॥८१॥

न प्रसेहे स रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम् ।
रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम् ॥८२॥

तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम् ।
भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥८३॥

कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम् ।
रत्नपुष्पोपहारेण च्छायामानर्च पादयो ॥८४॥

८१—उसके लोहित्या पार उतरने पर प्रागजोतिष (देश) का राजा कालागुर के वृक्षों के साथ उसके हाथी बँधने के स्तम्भ बने हुओं के साथ, थरथराया ।

८२—वह उसके रथ की गैल की धूल को भी, सूरज ढकने वाली को भी, धारा की बरसा के बिना दुर्दिन करने वाली को भी, न सह सका फिर सेना को कहाँ ।

८३—उस अति पराक्रमी को कामरूप देशों का राजा मद चूते हुए हाथी देकर मिला जिन से औरों को रोकता था ।

८४—काम रुपेश्वर ने उसके पैरों की छाया (कांति) को, सोने की पीढ़ी के अधि देवता को, रत्न रुपी फ़ूल अर्पण करके पूजा ।

(८१)

रघु के लोहित-नद-तरत, प्रागज्योतिष-नरपाल ।
काला-गुरु-तरु-गज-बँधन-सम काँप्यौ तेहिं काल ॥

(८२)

बिनु बरसा दुर्दिन करत, रघु-रथ-रेनु नृपाल ।
सहि न सक्यौ, होतौ कहा, सेना गयें हवाल ॥

(८३)

जिन-बारन-बल-पायकैं, रोकि अपर-अरिलीन्ह ।
रघुहिं कामरूपेस, मद-चुवत अमित गज दीन्ह ॥

(८४)

पुनि आभा - रघु - चरननहिं हेम - पाट बैठाय ।
रत्न-पुहुप-उपहार दै, तब पूज्यौ नर - राय ॥

८४—जिस पीढ़ी पर पाँव रख कर रघु अपने सिंघासन में बैठता था उसका देवता उसके पैरों की छाया मानी है ।

इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम् ।
रजो विश्रामयन्नाज्ञां छत्रशून्येषुमौलिषु ।।८५।।

स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम् ।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारमुचामिव ।।८६।।

सत्त्रान्ते सचिवसखःपुरस्क्रियाभिर्गुर्वीभिःशमितपराजयव्यलीकान् ।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरौधान्राजन्यान्स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ।।८७।।

८५—इस प्रकार दिशाओं को जीत कर बिना छत्र वाले राजाओं के किरीटों में रथ की उठाई धूल भरता हुआ वह जयशील लौटा।

८६—उसने सर्वस्व दक्षिणा वाला विश्वजित नाम यज्ञ किया, सत्यपुरुषों का संचय देने ही के निमित होता है, जैसे बादलों का।

८७—यज्ञ के अन्त में मंत्रियों के सखा काकुत्स्थ ने बड़े सम्मान से पराजय का दुखः मिटाए हुए राजाओं को, बहुत दिन के छोड़े रनवासों से अभिलाषा रखते हुओं को, अपने अपने नगर जाने की आज्ञा दी।

(८५)

लौट्यौ इमि करि दिगबिजय, अवध-भूप बलभूरि ।
छत्र-रहित-नर-पति-सिरन, डारि स्व-रथ की धूरि ।।

(८६)

कियौ बिस्वजित-मख बहुरि, दीन्ह्यौं सरबसदान ।
होत त्याग-हित मेघ-सौ, सज्जन-जनन-प्रदान ।।

शोभन

(८७)

विस्वजित-मख कै समापन, मंत्रियनि सँग लाय ।
दै नृपन उपहार हार-गलानि सकल मिटाय ।।
बहुत दिन-सौं रही जिनकौ पिय मिलन बड़ि चाह ।
तिनहिं दीन निदेस निज गृह जानकौं नरनाह ।।

ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं सम्राजश्चरणयुगं प्रसादलभ्यम् ।
प्रस्थानप्रणतिभिरङ्गुलीषु चक्रुर्मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरम ॥८८॥

८८—उन्होंने चक्रवर्ती के दोनों चरणों को, ध्वजा और वज्र और छत्र की रेखा चिन्ह वालों को, प्रसन्नता में प्राप्त होने वालों को, चलते समय की दण्डवत करके सिर की माला से गिरे हुए सुगन्धित परागों से अँगुलियों में स्वेत किया ।

रोला

(८८)

धुजा-कुलिस अरु छत्र-रेख अंकित अति-रूरे ।
चक्रबर्त्ति के चरन मिलत भागनि सौं पूरे ॥
चलत समय निज मौलि-माल मकरँद-रज-डारी ।
दीन्ह्यौं सेत बनाय नृपति-अँगुरिन-अरुनारी ॥

———

॥ पञ्चमः सर्गः ॥

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥१॥

स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः ।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥२॥

तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी ।
विशांपतिर्विष्टरभाजमारात्कृतांजलिः कृत्यविदित्युवाच ॥३॥

पाँचवाँ सर्ग

१—विश्वजित यज्ञ में समस्त धन देकर बैठे हुए उस राजा के पास विद्या पढ़ा हुआ गुरु दक्षिणा का अर्थी कौत्स नाम) वरतन्तु का शिष्य पहुँचा ।

२—सोने का पात्र न होने के कारण मिट्टी के पात्र में अर्घ रख कर वह अमोल स्वभाव वाला, यज्ञ से प्रकाशमान, अतिथों का सत्कारी, उस वेद पाठी अतिथि को उठकर मिला ।

३—उस तप के धनी को, आसन पर समीप बैठे हुए को, विधि पूर्वक पूजन करके विधि वेत्ता ने, मान के धनियों में प्रधान नरपति ने, कार्य के ज्ञानी ने, हाथ जोड़े हुए ने, यह कहा ।

पाँचवाँ सर्ग

(१)

जबहीं नृप-रघु मुदित 'बिस्वजित-जग्य'-समापित कीन्ह्यौं ।
और निसेष-कोष-धन अपनौं समुद दान करि दीन्ह्यौं ॥
तबहीं गुरु-दच्छिना-देन-हित—जिन सब सास्त्र पढ़ाये ।
रघु-सौं रिषि 'बरतंतु'-सिष्य-प्रिय-'कौत्स' जाँचिबे आये ॥

(२)

सारो हेमदान करि नृप-कर मृन्मयि-भाजन लीन्हैं ।
दिब्य-प्रभाव-प्रनत-आरत - हर मुनि - सेवा - मन दीन्हैं ॥
धरि तेहिं मैं पूजन की सामा अर्घ्यादिकन जुटाये ।
नित-स्रुति-पाठ-पुनीत-अतिथि-ढिग मुदित भूप चलि आये ॥

(३)

सकल सास्त्र के जाननवारे मान-धनिन मँह आगे ।
बिधिवत-निगम-ग्यान-सौं मंडित नृप पुनि चरननि लागे ॥
आसन पै आसीन तपोधन मुनिहिं बहुरि सिर नाई ।
दोउ कर जोरि निहोरि अवध-पति मंजुल गिरा सुनाई ॥

अप्यग्रणीर्मन्त्र कृतमृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते ।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥४॥

कायेन वाचा मनसापि शश्वद्यत्संभृतं वासवधैर्यलोपि ।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥५॥

आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् ।
कच्चिन्नवाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥६॥

४—हे कुशा की अनी समान बुद्धि वाले, तुम्हारा गुरु, मन्त्रकार ऋषियों का मुखिया, कुशल तो है जिससे तुमने सम्पूर्ण ज्ञान पाया है, मानो लोक ने तत्ती किरण वाले (सूरज) से चैतन्य था।

५—काया करके, मन करके और वाणी करके भी निरन्तर संचय किया हुआ जो ऋषि का तीन प्रकार का तप इन्द्र के धैर्य का तोड़ने वाला है वह कहीं बिघ्नों से नाश को तो नहीं पहुँचा।

६—थावले इत्यादि यत्नों से सन्तान की नाईं पाले हुओं को, थकावट मेटने वालों को, तुम्हारे आश्रम के वृक्षों को, कहीं पवन इत्यादि विघ्नकारी तो नहीं है।

(४)

"कहिय कुसाग्र-बुद्धि, तव-गुरु हैं कुशल, पूज्य-मुनिराऊ।
सकल-मंत्रकृत-मुनि बृन्दन महँ हैं जे सदा अगाऊ॥
जिनके आस्रम-पद-निवास करि अखिल ग्यान तुम पायौ।
जिमि रवि-कर परसे तैं चेतन ग्यान जगत मैं छायौ॥

(५)

मन-बच-कर्म निरोधि अबेगनि जिन तप कठिन कमायौ।
जेहिं प्रताप सौं सुनासीरहू के धीरजहिं छुड़ायौ॥
सोइ त्रय-बिधि-तप श्री मुनिबर कौं अन्तराय तहँ पाई।
काहू बिधि सौं कहहु छीन तौ होत न नैंकु लखाई॥

(६)

बाँधि आल-बालनि महँ निज कर दै जलदान बढ़ायौ।
जिनकौं सुत सबिसेष प्रेमसौ सौंगुन लाड़-लड़ायौ॥
ते आस्रम के बिपुल महीरुह जे तव खेद हटावत।
कहहु मौन-दावानल सौं वे बिनसन तौ नहिं पावत॥

५—बिघ्नों से अर्थात् इन्द्र के किए हुए उपद्रवों से।

क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु ।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ।।७।।
निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाज्जलयः पितृणाम् ।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ।।८।।
नीवारपाकादि कडंगरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित् ।
कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः ।।९।।

७—क्रिया में आने वालों कुशाओं में भी प्यार के मारे मुनियों करके चरना नारो की हुई, उन्हीं की गोद रूपी शय्या में नाभि का नाल डाने वाली, हरणियों की सन्तान सुखी तो है ।

८—जिसे नित्य स्नान किया जाता है, जिनसे पितृयों का तर्पण होता है, वे तुम्हारे तीर्थ जल, उंछ के छठे भाग से अंकित तटों वाले, कुशल तो हैं ।

९—समय पर आए हुए अतिथों को भाग में मिलने वाले, वन में उपजने वाले, शरीर की स्थिति के साधन, तुम्हारे पक्के धान इत्यादि कहीं गाँवों के भुस खाने वाले पशुओं ने खा तौ नहीं लिये ।

(७)

राखत अति अनुराग तपोधन जदपि कुसादिन माहीं ।
तबहूँ जिन कौं बच्छता-बस कबहुँ निवारत नाहीं ।।
गिरत नाभि की नाल अंक मैं तऊ नेकु नहिं खीझत ।
कहहु कुसल एनी-छौननि की जिनहिं हेरि मुनि रीझत ।।

(८)

जेहि तट चिन्हित, उंछबृत्ति-अन्नन के षष्टम भागहिं ।
जहँ अन्हाय निबटाय नित्य-कृति करि तर्पन-अनुरागहिं ।।
कहहु मुनीस ! पुनीत चारु तेहि तीरथ-जल के माहीं ।
है कल्यान सबै बिधि, कोऊ बाधा ब्यापत नाहीं !

(९)

कबहुँ निबार-पाक आदिक, जेहिं महिं आपुहिं उपजावत ।
जथा-समय निज भाग अतिथिगन सदा जिनहिं तैं पावत ।।
जिनसौं निज सरीर रच्छा करि लोक-छेम बिसतारत ।
जन पद-निबसन-हार-स्वपद-कुल तिनहिं तौ न चरि डारत !

८—मुनियों की रीति थी कि सामक भकड़ा इत्यादि अन्न ऊंछ लाते थे और उसका छठा भाग राजा के लिये ताल अथवा नदी के तट पर रख आते थे ।

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय ।
कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते ॥१०॥

तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे ।
अप्याज्ञयाशासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभावयितुं वनान्माम् ॥११॥

इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य रघोरुदारामपि गां निशम्य ।
स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशस्तमित्यवोचद्वरतन्तुशिष्यः ॥१२॥

१०—अथवा तुम भली भाँति पढ़ाए हुए को क्या घर जाने की आज्ञा प्रसन्न ऋषि ने दी है, क्योंकि तुम्हारा यह समय सर्वोपकारी दूसरे आश्रम (ग्रहस्थ) में जाने का है ।

११—तुम पूज्य के आने ही से मेरा मन तृप्त नहीं है आज्ञा पाने का भी अभिलाषी है । मुझे कृतार्थ करने को तुम वन से गुरु के कहने से आए हो कि अपने ही मन से ।

१२—अर्घपात्र से निर्धनता अनुमान होते हुए भी रघु का यह उदार वचन सुनकर अपनी कामना में दुर्बल आशा वाला वरतन्तु का चेला उसको इस प्रकार बोला ।

(१०)

सबहीं भाँति पढ़ाय मुदित मन तुमहिं महा मुनि ग्यानी ।
गेह जान कौं आयसु दीन्ह्यौं सब बिधि समरथ जानी ॥
है यह काल परम उपयोगी जग - मंगल - बिस्तारौ ।
रहि पावन - गृहस्थ - आस्रम मैं सबकौ करौ सहारौ ॥

(११)

पूजनीय तव-आगमसौं ज्यौं भई न तृप्ति हमारी ।
त्यौं आदेस लहन-हित उमहति गति-मति उभय अगारी ॥
कै 'बरतंतु' - मुनीस कछुक निज दै आयसुहिं पठाये ।
अथवा हिय-अनुरागि आपु मोहिं करन कृतारथ आये ॥

(१२)

लहि इमि अर्घ-प्रदानहिं नृप की दीन-दसा अनुमानी ।
अरु रघु के अरबिन्द-बदनसौं सुनि उदार बर बानी ॥
मन - बाँछित - धन - दान - लहन महँ भई निरासा भारी ।
मुनि 'बरतंतु' - सिष्य तव नृप सौं या बिधि गिरा उचारी ॥

सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन्नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम् ।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ॥१३॥

भक्तिः प्रतीक्ष्वेषु कुलोचिता ते पूर्वान्महाभाग तयातिशेषे ।
व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतस्त्वामर्थिभावादिति मे विषादः ॥१४॥

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः ।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥१५॥

१३—हे राजा ! हमारी कुशल सब भाँति जानो तुम्हारे नाथ होते हुए प्रजा की अकुशल कहाँ है ? सूरज के चमकने में लोकों की दृष्टि रोकने वाली अँधेरी क्योंकर समर्थ हो सकती है ?

१४—पूज्यों में भक्ति तुम्हारे कुल की रीति है तिस में हे महाभाग तुम अगलों से बढ़े हुए हो, मैं तुम्हारे पास याचक बनकर कुसमय आया यह मुझे खेद है ।

१५—हे राजा ! तुम सत्पात्रों में धन उठाकर केवल शरीर ही से सुशोभित हो, जैसे बन वासियों (अथवा मुनियों) का फल तोड़ा हुआ शाखा मात्र बचा हुआ धान ।

(१३)

त्यौं भूपति ! मुनि-जन-मन रंजन तव-प्रताप महिं सोहै ।
तब लौं जो दै सकै प्रजहिं दुख जग में ऐसौ को है ?
ज्यौं नभ मैं रवि तप्यौ होय जब प्रखर-मयूखनि वारो ।
ढाँपि सकै का लोक-दीठि कौं तव बपुरौ अँधियारो ?

(१४)

आदर सदाँ पूज्य कौं करिबौ यह तव-कुल चलि आयौ ।
सो निज पुरखनि हूँ सौं बढ़ि कैं भूपति आपु दिखायौ ॥
बीतैं-समय जाँचिबे आयौ, जब हिय यहु सुधि आवत ।
तुमहिं जानि असमर्थ महिपमनि, मन बिखाद कौं पावत ॥

(१५)

अपनौं सब ऐश्वर्ज भूपबर, समुद दान करि दीन्ह्यौं ।
सत-पात्रनि सनमानि हिये कौं नेकु हरास न कीन्ह्यौं ॥
मुनि-हित-संतति-फल दानी नृप ! त्यौं अब राउर राजत ।
कलित-सुनहरी-धान-बालि के बिनु निबारु ज्यौं छाजत ॥

स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिंचनत्वं मखजं व्यनक्ति ।
पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः ॥१६॥
तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये ।
स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि ॥१७॥
एतावदुक्त्वा प्रतियातु कामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य ।
किं वस्तु विद्वन्गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त ॥१८॥

१६—तुम चक्रवर्ती होकर यज्ञ से उत्पन्न होने वाली निर्धनता प्रगट करते हो यह योग्य है, देवताओं के बारी-बारी से पिए हुए चन्द्रमा की कला का घटाव अधिक प्रशंसा के योग्य होता है बढ़ाव से ।

१७—इसलिये दूसरा प्रयोजन न रखने वाला मैं अब गुरु के लिये धन लाने की याचना और किसी से करूँगा, तुम्हारा कल्यान हो, शरद के रीते बादल को पपीहा भी नहीं जाँचता है ।

१८—इस प्रकार कहकर महर्षी के उस चलते हुए चेले को रोककर राजा ने यह पूछा, "हे विद्वान ! गुरु के निमित तुमको क्या वस्तु और कितनी देनी है ।"

(१६)

ह्वै कैं चक्रबर्ति नरनायक ऐसौ दैन्य दिखावत ।
जनु गृहीत-फल-स्तम्भ-माल-नीबार-रुचिर छबि छाजत ॥
लीन्ह्यौं जाहि पान करि देवनि सोम-कला छबि छाई ।
निज बृद्धिहुतैं अधिक लसत है, तासौं पाइ बड़ाई ॥

(१७)

करिहौं और काज नहिं दूजौ दानिहिं खोजिहौं जाई ।
जासौं गुरु-दच्छिना दैन कौं सकौं अधिक धन पाई ॥
सरद-सून्य-जल-मेघहि चातक-जाँचत कहुँ न निहार्‌यौ ।
करैं मयंक-मौलि नित भूपति सब कल्यान तिहार्‌यौ ॥"

(१८)

कहि इति अनत जात-मुनि-सिष्यहिं जब नरनाथ निहार्‌यौ ।
दोहुँ-कर-जोरि-निहोरि रोकि तेहिं नृप इमि बैन उचार्‌यौ ॥
"चाहिय कौन बस्तु अरु केती गुरु-दछिना-हित तोकौं ।
अमित कृपा दरसाय बिग्यबर सपद बताइ मोकौं ॥"

१६—अर्थात् कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा अधिक पूज्य होता है शुक्ल पक्ष से ।

ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय ।
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे ॥१९॥

समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै ।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात् ॥२०॥

निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः ।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥२१॥

१९—तब तक यथोचित यज्ञ अनुष्ठान करने वाले को, गर्व के आवेश से रहित को, वर्ण आश्रम के गुरु को उस ब्रह्मचारी ने प्रयोजन कहा ।

२०—मुझे विद्या समाप्त किये हुए ने सहर्ष गुरु दक्षिना के लिये पूछा था, उन्होंने पहले मेरी वह बहुत काल की निरन्तर भक्ति ही दक्षिना गिनी ।

२१—(फिर) बार बार पूछने से उपजे हुए क्रोध वाले गुरु ने कंगाली न सोचकर मुझ को कहा, "विद्याओं की गिनती के अनुसार मेरे निमित धन के चौदह करोड़ ले आ ।"

(१९)

जिन कौसलाधीस रघु नैं है बिधिवत-जग्य रचाई ।
बरनास्रमिन माँहि बिधि जिन प्रथमहिं रेख खँचाई ॥
दीन्ह्यौं जिन अभिमान अखिल कौ सब आबेस बिसारी ।
तिन सौं चतुर-ब्रह्मचारी-बर मंजुल-गिरा उचारी ॥

(२०)

"बिद्या अखिल पाय मुनिबर सौं हौं ही तब हठ कीन्ह्यौं ।
माँगिय नाथ कछुक धन मोसौं पै तिन ध्यान न दीन्ह्यौं ॥
कीन्हीं हुती चरन-सेवा हौं बहुत दिननि उन केरी ।
यातैं परम-प्रीति गुरु दछिना मानि लीन्हि उन मेरी ॥

(२१)

जब गुरु-दछिना दैन काज हौं बहु अनुरोध दिखायौ ।
तब मेरी सामर्थ्य-भूलि उन क्रोध अधिक उपजायौ ॥
"बिद्या-सकल-चतुर्दस मैंने समुद पढ़ाई तोकौं ।
चौंदह कोटि हेम-मुद्रा लै दान देहु अब मोंकौं ॥

सोऽहं सपर्याविधिभाजनेन मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम् ।
अभ्युत्सहे संप्रति नोपरोद्धुमल्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्क्रयस्य ॥२२॥
इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण ।
एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगाद भूयो जगदेकनाथः ॥२३॥
गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः ॥२४॥

२२—सो अब तुमको अर्घ पात्र से नाम मात्र रहा हुआ राजा जानकर मैं विद्या के मोल की अधिकता के कारण कुछ कहने को उत्साह नहीं रखता हूँ ।

२३—इस भाँति वेद जानने वालों में श्रेष्ठ ब्राह्मण का कहा हुआ, चन्द्रमा की सी कान्ति वाला, पास से हटी हुई इन्द्रियों की वृत्तिवाला, जगत का एक स्वामी, उसको फिर बोला ।

२४—"गुरु दक्षिना का अर्थी वेद का पारगंत रघु के पास से कामना पूरी न होकर और दाता के पास गया" यह निंदा का नया औतार मेरे लिये मत हो ।

(२२)

पूजा-भाजन निरखि आपको छीन-विभव अनुमान्यौं ।
राज्य सब्द अवसेष गयौ रहि यहु अपनैं जिय जान्यौं ॥
गुरु-गुर-दछिना-दान-देन की साध उठति हिय माहीं ।
पै अब हिय की बात कहन कौ साहस मो-मैं नाहीं ॥

(२३)

जो 'बरतंतु'-वरिष्ठ-सिष्य सब-बेदन-जाननबार्‌यौ ।
'नृप-रघु-चन्द-कान्तिसौं, वानैं जब यौं बचन उचार्‌यौ ॥
तब अघ-ओघ-बिमुक्त-बृत्ति-नृप मुनिबर की दिसि देखी ।
सकल-जगत कौ एक नाथ इमि बोल्यौ बचन बिसेखी ॥

(२४)

"बेद-पारगामी-गुरु के हित दछिना चाहनवारौ ।
रघु-सम-दानी पाय होय पुनि बिफल-प्रयास बिचारौ ॥
जाय बद्ध-अंजलि जाँचन-हित अन्य काहु नृप पाहीं ।
काहू बिधि अपमान नयौ यह सह्यौ जात है नाहीं ॥

स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे ।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन्यवद्यते साधयितुं त्वदर्थम् ॥२५॥

तथेपि तस्यावितथं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्संगरमग्रजन्मा ।
गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुबेरात् ॥२६॥

वशिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु ।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य ॥२७॥

२५—सो हे पूज्य तुम मेरे अच्छे पवित्र अग्नि होत्र स्थान से चौथी अग्नि की नाईं बसकर दो तीन दिन सहने को योग्य हो तव तक मैं तुम्हारे अर्थ की सिद्धि का उपाय करता हूँ ।

२६—"ऐसा ही हो" यह कहकर प्रसन्न ब्राह्मण ने उसकी अमोघ प्रतिज्ञा ग्रहण की, रघु ने भी पृथ्वी निर्धन देखकर कुबेर से धन लाने की इच्छा की ।

२७—वसिष्ठ के मन्त्र का जल छिड़कने के प्रभाव से उसके रथ की गति समुद्र और आकाश और पर्वत से रुकने वाली न थी, जैसे पवन के सखा बादल की ।

(२५)

पूज्य, पुनीत अग्निसाला मैं यातैं करिय निवासू ।
चौथी-अग्नि समान मोहिं दै द्वि-त्रैहि-दिवस-अवकासू ॥
येतेहिं समय माहिं सबहीं बिधि राउर-साध पुजैहौं ।
जैसें ह्वै सकिहैं मुनि मोपै तुम्हहिं ल्याय धन दैहौं ॥"

(२६)

प्रमुदित भयौ तबहिं मन-मुनिवर सुनि इमि रघु-मुखबानी ।
'सत्य होय राउर-प्रन-भूपति' या बिधि कह्यौ बखानी ॥
इत नृप अखिल-अवनि-मंडल कौं सब बिधि निर्धन जानी ।
ल्यावन-हित कुबेर सौं धन कौं तब अपनैं हिय ठानी ॥

(२७)

गुरु-बसिष्ठ-मंत्राभिषिक्त-रघु-रथ नैं वह गति धारी ।
सिन्धु-अकास-पहार कतौहूँ, रथ-गति गई न मारी ॥
जैसें पवन सहाय पाय नभ चहुँ-दिसि जलधर जाहीं ।
तैसेहिं गुरु-अभिमेलित रथ की कितहुँ रुकी गति नाहीं ॥

२६—अमोघ उस प्रतिज्ञा को कहते हैं जो निष्फल न जाय ।

अथाधिशिश्ये प्रयतः प्रदोषे रथं रघुः कल्पितशस्त्रगर्भम् ।
सामन्तसंभावनयैव धीरः कैलासनाथं तरसा जिगीषुः ॥२८॥

प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयाः कोषगृहे नियुक्ताः ।
हिरण्यमयीं कोषगृहस्यं मध्ये वृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः ॥२९॥

तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्धं कुबेरादभियास्यमानात् ।
दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम् ॥३०॥

२८—कुवेर को मिली सीमा वाला (अथवा राजा) जानकर उसी को बल से जीतने का इच्छा वान धीर रघु शस्त्रों से भरे हुए रथ में रात को सोया ।

२९—उस प्रस्थान किए हुए को प्रातः काल अचम्भा करते हुए कोठारियों ने कोठार के मध्य में आकाश से सोने की बरसा का होना सुनाया ।

३०—राजा ने वह चमकती हुई सोने की राशि, चढ़ाई करके कुवेर से प्राप्त की हुई, सब ही कौत्स के निमित दे दी, मानो बज्र से काटा हुआ सुमेरु का टुकड़ा ।

(२८)

लावौं धन अलकाधिराज सौं तिनकौ रन-मद-झारी ।
तिनहिं एक साधारण नृप सम यौं मन-माँहि बिचारी ॥
सोयौ निसा माहिं तेहिं रथ मैं सब समरायुध धारी ।
जातैं होय प्रतिग्या जग मैं कबहुँ न बितथ हमारी ॥

(२९)

भूपति रघु अलकाधिप-जीतन-जानि हिये महँ ठाये ।
होतहिं प्रात कोष-गृह-रच्छक सचिवन-आनि जगाये ॥
"बरसी हेम-रासि निसि-नभ सौं धनागार, सुन लीजै ।
चलि समोद निज नैननि ही सौं ताहि निरखि किन लीजै ॥"

(३०)

पायौ रघु - नरेस अगिनित-धन धनाधीस सौं मानी ।
अर्प्यो हेम-रासि मुनि - सिष्यहिं समुद्र जोरि जुगपानी ॥
दीसत कनक-ढेर महिं डार्‌यौ या बिधि सौं छबि-धारी ।
मनहुँ सुमेरु-सृंग कहँ सुरपति-कुलिस काटि दियौ डारी ॥

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥३१॥

अथोष्ट्रवामीशतबाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः ।
स्पृशन्करेणानतपूर्वकायं संप्रस्थितो बाचमुवाच कौत्सः ॥३२॥

किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भर्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम् ।
अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा ॥३३॥

३१—अयुध्या वासियों को वे दोनों ही सराहने योग्य हुए, गुरु की दक्षिना से अधिक न चाहने वाला भिक्षुक और माँगने वाले के मनोरथ से अधिक देने वाला राजा।

३२—सैकड़ों ऊँटों और खिच्चरों पर लादने योग्य धन देने वाले प्रजा नाथ को, अगला अंग झुकाए हुए को, प्रसन्न मन महर्षी ने, चलते हुए कौत्स ने, हाथ से छूकर वचन कहा।

३३—इसमें क्या आश्चर्य है जो धर्मशील राजा की भूमि कामना पूरी करने वाली हो, तुम्हारा प्रभाव आश्चर्य के योग्य है जिससे आकाश भी मनमाना दुहा गया।

(३१)

सकल अवध-बासी रघु-कौत्सहिं निरखि अमित अनुरागे।
अरु औदार्य तथा निस्वारथ-भाव सराहन लागे॥
नृपति-याचानाहू तैं बहुतर दान द्विजहिं हठि दीन्ह्यौं।
तिनहूँ गुरु-दच्छिना-पूर्ति तैं अधिक न कछु धन लीन्ह्यौं॥

(३२)

सौ घोड़न अरु सौ ऊँटन कौं नृप समोद मँगवायौ।
अरु तिनपै लदवाय सकल धन द्विज-गुरु - पास पठायौ॥
लाग्यौं करन प्रनाम नमित-सिर नृप, न कछू अभिलाख्यौ।
परसि सीस कर-कंज भूप सौं, कौत्स बचन इमि भाख्यौ॥

(३३)

"धर्म निरत-नरपति कौं बसुधा कामधेनु जब होई।
तब यहि माहिं नैकु अचरज अरु संका करै न कोई॥
पै अचिन्त्य अपनौं तुम या बिधि प्रबल प्रताप दिखायौ।
स्वर्गलोक हू सौं जनु अपनौं मनबांछित सब पायौ॥

आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते ।
पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव ॥३४॥

इत्थं प्रयुज्याशिषमग्रजन्मा राज्ञे प्रतीयाय गुरोः सकाशम् ।
राजापि लेमे सुतमाशु तस्मादालोकमर्कादिव जीवलोकः ॥३५॥

ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम् ।
अतः पिता ब्राह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार ॥३६॥

३४—तुमको सब श्रेष्ठ वस्तु प्राप्त हो तुम्हारे लिये और कुछ आशीर्वाद देना अवश्य नहीं है, अपने से गुणों वाला पुत्र तुम को मिले जैसे तुम्हारे पिता को तुम श्रेष्ठ मिले ।

३५—इस प्रकार राजा को आशीर्वाद देकर ब्राह्मण गुरु के पास पहुँचा, राजा ने भी उससे शीघ्र ही पुत्र पाया, जैसे प्राणियों ने सूर्य से प्रकाश ।

३६ —कहते हैं कि अभिजित (ब्राह्म) मुहुर्त में उसकी रानी ने स्वामि कार्तिक के समान बेटा जना इसलिये पिता ने ब्रह्मा ही के नाम से उस पुत्र को अज नाम दिया ।

(३४)

सर्व-सिद्धि-सम्पन्न नृपति कहँ कहु दुर्लभ जग माहीं ।
या तैं इन के दोहरैबे मैं, है आसीस बृथाहीं ॥
पै असीस नृप तुम्हउँ पाइहौ, ऐसौं सुबन सुहायौ ।
जैसो पूज्य पितानै तुमकौं पुत्ररूप-मैं पायौ ॥

(३५)

या बिधि आसिरवाद भूपकौं प्रमुदित द्विजबर दीन्ह्यौं ।
अरु बन ओर गमन हरषित हिय गुरु-आश्रम कौं कीन्ह्यौं ॥
मूर्तिमान द्विजबर असीस-सौं नरपति यौं सुत पायौ ।
जथा भानु सौं लड़त सकल जग नवल-प्रकास सुहायौ ॥

(३६)

होन लग्यौ अरुनोदय अरु नभ - राते - बदरनि छायौ ।
ब्रह्ममुहूरत मैं रघु - रानी सुत कुमार - सम जायौ ॥
याही लागि ब्रह्म कौं नामहि नृपति मुदित गहि लीन्ह्यौ ।
बाकौ अर्थ लगाय सुवन कौ नाम - करन 'अज' कीन्ह्यौ ॥

३४—जितनी अच्छी वस्तु होती हैं रघु को सब प्राप्त थीं इसलिए ब्राह्मण कहता है कि तुमको और कुछ आशीर्वाद नहीं चाहिए पुत्र जन्म का आशीर्वाद लो ।

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम् ।
न कारणात्स्वाद्विभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात् ॥३७॥
उपात्तविद्यं विधिवद्गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम् ।
श्रीः साभिलाषापि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष ॥३८॥
अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः ।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः ॥३९॥

३७—वही रूप वही बल वही पराक्रम वही स्वाभाविक उदारता, वह कुमार अपने पिता से न्यूनाधिक न हुआ, जैसे दीपक अपने उत्पन्न करने वाले दीपक से ।

३८—उस गुरुओं से विधि पूर्वक विद्या सीखे हुए को, योवन आने से अधिक कान्तिमान को चाहती हुई भी लक्ष्मी ने राजा की आज्ञा माँगी, जैसे धीरा कन्या ने बाप की ।

३९—विदर्भ देशों के स्वामी भोज ने, बहन इन्दुमती के स्वयंवर निमित कुमार को बुलाने के अभिलाषी ने, अच्छा दूत रघु के पास भेजा ।

(३७)

रूप - अनूप - ओज - बल सुतकौ भयौ पराक्रम तैसौ ।
स्वाभाबिक औदार्य - भाव सब रह्यौ पिता कौ जैसौ ॥
या लगि सुवन जनक-अनुरूपी कैसेहुँ जात न चीन्ह्यौं ।
मनहुँ दीप - सौं दीपक दूजौ काहुँ बारि धरि दीन्ह्यौं ॥

(३८)

ज्यौं उत्सुक सुसील कन्याहूँ चाहति जनक रजाई ।
तैसेहि साभिलाष कमला, रघु-अनुमति लैबे आई ॥
बरन काज अज राजकुमारहिं, जिनि गुरु सौं पढ़ि पाई ।
बिद्या अखिल, जाहिकी निखरी जोबन - रूप निकाई ॥

(३९)

अथ क्रथ-कैसिक-नृपति आपनी स्वसा-स्वयम्बर हेतू ।
नृपनन्दनहिं बुलावन निज हिय सोचि भोजकुलकेतू ॥
निपट - चतुर - विस्वास - पात्र निज दूतन कौं रघु पाहीं ।
भेज्यौ दै निदेस "तुम ल्यावहु जाय साथ अज काहीं ॥"

३८—तात्पर्य यह है कि जैसे चतुर बेटी अपने बाप की आज्ञा मन माने पति के लिये चाहती है ऐसे अब राज लक्ष्मी ने चाहा कि अज को रघु युवराज करें ।

तं श्लाघ्यसंबन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं चपुत्रम् ।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम् ॥४०॥
तस्योपकार्यारचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभिः ।
मार्गे निबासा मनुजेन्द्र सूनोर्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥४१॥
स नर्मदारोधसि सीकरार्द्रैर्मरुद्भिरानर्तितनक्तमाले ।
निवेशयामास विलङ्घिताध्वा क्लान्तं रजोधूसरकेतु सैन्यम् ॥४२॥

४०—उस सम्बन्ध को बड़ाई के योग्य और पुत्र की अवस्था को विवाह के योग्य जानकर उसने उस (पुत्र) को सेना समेत विदर्भनाथ की ऋद्धियों वाली राजधानी की ओर भेजा ।

४१—उस राजकुमार के तम्बूओं वाले निवास स्थान, सेज इत्यादि से सजे हुए, मार्ग में प्रजा की भेटों से नगर के उद्यानों के बिहार स्थानों के समान हो गए ।

४२—उस मार्ग पार किए हुए ने शीतल पवनों के कँपाए हुए नक्रमाल के वृक्षों वाले नर्मदा के तट पर थकी सेना को, रज से धूसरी ध्वजा वालों को, विश्राम दिया ।

(४०)

सबहीं भाँति उच्च-सम्बन्धहिं नृप मन माहिं बिचारी ।
तथा बिबाह जोग निज सुतकी आई बैस निहारी ।
दियौ साथ चतुरंग-चूम-चय गज-रथ-बाजि सजायौ ॥
हरषि बिदर्भ-राजधानी कौं रघु-नृप-अजहिं पठायौ ॥

(४१)

सब बिधि - भोग्य - बस्तु - परिपूरन - पटमंडपनि सजाये ।
जन-पद - बासिन मुदित भूप - हित बहुत उपहार पठाये ॥
मार्ग - निवास रानन्दन हित लसे इमि अति सुखदाई ।
नगर - निकट - उद्यान - विहारनि मानौं सुषमा पाई ॥

(४२)

तबहिं नर्मदा-सरित-कूल पर नक्तमाल जहँ लागे ।
नाचत, मंजु-बारि-सीकर-कन प्रबल-पवन के लागे ॥
करत राज-सुत सिबिर-पयानौं केतिक दिननि बितायौ ।
रज-धूसर - पताक - पथ - स्रमसौं थकि सैनहिं ठहरायौ ॥

४१—मार्ग में भेट इतनी आई कि बन के पड़ाव भी नगर के बगीचों के समान हो गए ।

अथोपरिष्टाद्भ्रमरैर्भ्रमद्भिः प्राक्सूचितान्तः सलिलप्रवेशः ।
निर्धौतदानामलगण्डभित्तिर्वन्यः सरित्तो गज उन्ममज्ज ॥४३॥

निःशेषविक्षालितधातुनापि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।
नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शंसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन ॥४४॥

संहाराविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुखः सशब्दम् ।
बभौ स भिन्दन्बृहतस्तरंगान्वार्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्तः ॥४५॥

४३—ऊपर गूँजते हुए भौंरों से पहले पानी से डूबा हुआ ज्ञात होने वाला, मद धुल जाने से सुन्दर उजली कनपटी वाला, वन का हाथी नदी से निकला ।

४४—बहुत धुली हुई धातु वाले, नीली लम्बी लकीरों से कबरे पत्थरों की रगड़ से भोंतले, दाँतों के जोड़े से ऋक्षवत (पर्वत) के तटों में की हुई क्रीड़ा जताता हुआ ।

४५— वह तट की ओर चलता हुआ फैलने और सुकड़ने वाली सूँड़ से बड़ी तरंगों को शब्द सहित तोड़ता हुआ शोभायमान दीखा, मानो गज बाँधने की अर्गला को तोड़ने में प्रवृत ।

(४३)

भाँवरि-भरति भीर-भौंरनि की ऊपर देति दिखाई ।
सरित-सलिल मैं वानैं दीन्ह्यौं जाकौ पतौ बताई ॥
अवगाहन सौं तटिन-वारि मैं निर्मल गंड सुहाई ।
सहसा मत्तमतंगज जलसौं निरकत पर्‌यौ लखाई ॥

(४४)

सतत-सलिल छहरनि सौं सिगरौ गयौ गेरु-रज धोई ।
अस्म-नील-ऊरध-रेखा सौं सबलित कुंठित होई ॥
रह्यौ दिखाबत निज दंतन कौं बन-गज हिय हरषानौं ।
रिच्छ बान-तट पै उहिं तेहि सौं वप्र-क्रिया करी मानौं ॥

(४५)

कबहुँ संकोचत बन-गज सुंडहिं कबहुँक ताहिं बढ़ावत ।
या बिधि चिंघारत जबहीं सो सरित-तीर रह्यौ आवत ॥
तुमुल-तटिनि की तरल तरंगनि कौं हठि तोरत ऐसे ।
बारि-अर्गला-भंग करन मैं लग्यौ होय करि जैसे ॥

४४—उस हाथी के दाँतों से जाना जाता था कि इसने पर्वत उखाड़ने का खेल किया है ।

शैलोपमः शैवलमञ्जरीणां जालानि कर्षन्नुरसा स पश्चात् ।
पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प ॥४६॥

तस्यैकनागस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहक्षणमात्रशान्ता ।
वन्येतरानेकपदर्शनेन पुनर्ददीपे मददुर्दिनश्रीः ॥४७॥

सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहमसह्यमाघ्राय मदं तदीयम् ।
विलङ्घिताघोरणतीव्रयत्नाः सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवुः ॥४८॥

४६—वह पहाड़ सरीखा शिवाल की बेलों के ढेर को छाती से खेंचता हुआ तट पर पीछे पहुँचा उसी के हिलाए हुए जल समूह वाला नदी का प्रवाह पहले ।

४७—उस अकेले हाथी की कनपटियों में मद बरसा की शोभा जल के झकोरों से छन मात्र शान्त हो गई थी, पालतू हाथियों के देखने से फिर उमगी ।

४८—उसके असह्य मद को, सप्त पर्ण के सुगन्धित दूध के प्रवाह वाले को, सूँघ कर सेना के हाथी महावतों के तीव्र यत्नों को उल्लंघन करते हुए पीठ दे कर भागे ।

(४६)

गिरि-सम-दीर्घ-काय-कानन-करि तट-दिसि जबहिं सिधायौ ।
निज उर सौं सैवाल-जाल कौं खैंचि साथ हीं लायौ ॥
चलन समैं जेहिं बारि-रासि कौं हुमुकि सबेग हलायौ ।
जल-प्रबाह सो गज तैं पहलैं हीं सरित-कूल चलि आयौ ॥

(४७)

सरित-सलिल मैं बन-गज जबहीं या बिधि घन्यौं अन्हायौ ।
गंडथली मद-बारि-धार की रेखहिं कछुक घटायौ ॥
पै जब कुंजर-घटा सैन की तासु दीठि-पथ आई ।
कुपित-गयंद-कपोलनि पै तब पुनि वह परी लखाई ॥

(४८)

सूँघि तप्तछद-छीर-गंधि-सम तासु दुसह मद धारहिं ।
भजे बिडरि बाहन सैना के हस्तिप जदपि सँभारहिं ॥
हनि अंकुस करि जतन अनेकन सकल महावत हारे ।
काहू भाँति नाहिं ठहरत गज हिये महाभय धारे ॥

स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥४९॥

तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः ।
निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः ॥५०॥

स विद्धमात्रः किल नागरूपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्ट ।
स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्त्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे ॥५१॥

४९— उसने कटक को, बन्धन तोड़ कर और भागे हुए घोड़ों से सूने को, धुरा टूटकर पड़े हुए रथों वाले को, स्त्रियों की रक्षा में घबड़ाए हुए योद्धाओं वाले को, छनभर में व्याकुल कर दिया ।

५०—"बन का हाथी राजा के मारने योग्य नहीं है" यह सुने हुए राजकुमार ने थोड़ा धनुष खेंचे हुए ने, उस अपनी ओर आते हुए को हटाने के लिये वाण से मस्तक में मारा ।

५१—कहते हैं कि घायल होते ही हाथी का रुप त्याग कर उसने इसी (वृतान्त) से चकित सेना के देखते हुए आकाश में चलने वाला, मचकते प्रभा मंडल का मध्यवर्ती, शोभायमान शरीर लिया ।

(४९)

ह्वै भयभीत तोरि निज बंधन तुरंगम भाजै लागे ।
उलटि गये केतिक रथ यातैं धुरी टूटि गई आगे ॥
रन-सूरन घबराय तियन के रच्छन मैं मन दीन्ह्यौं ।
यहि बिधि सैन-बिबेसि सबहिं गजछिन महँ व्याकुल कीन्ह्यौं ॥

(५०)

'होत अबध्य सदा बन-बारन' नृपसौं इमि अज-जान्यौं ।
तेहिं लौटावन-हेतु जोरिसर चाप कछुक ही तान्यौं ॥
मार्‌यौ बान सीस पै वाके जबहिं कुँवर हरुआई ।
अरु वह बिसिख-काण्ड गंड-स्थल थोरोहि प्रबिस्यौ जाई ॥

(५१)

लागत बिसिख सीप पै बन-गज तुरतहिं तनु-तजि डार्‌यौ ।
अतिसै-चकित अमित-अचरज-सौं तेहिं सब-सैन निहार्‌यौ ॥
निकसत बिमल-प्रमामंडल-बिच मनमोहक तनु पाई ।
लहि गंधर्व-सरीर मिल्यौ पुनि सो अपने कुल-जाई ॥

अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य पुष्पैः ।
उवाच वाग्मी दशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहारः ॥५२॥

मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम् ।
अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य ॥५३॥

स चानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्हिर्मृदुतामगच्छत् ।
उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ॥५४॥

५२— तब वह अच्छी वाणी वाला, दाँतों की प्रभा से गले के बड़े मोतियों के हारों की शोभा बढ़ाता हुआ, प्रभाव से प्राप्त किये हुए कल्पद्रुम के फूलों से राजकुमार को जाकर बोला ।

५३—मतंग (ऋषि) के शाप से, (मेरे) गर्व के कारण उपजे हुए से, मैं हाथीपन को पहुँचा था, तू मुझ को गंधर्वों के स्वामी प्रियदर्शन का पुत्र प्रियम्वद नाम जान ।

५४—फिर पीछे मेरी विनती से प्रसन्न होकर वह महर्षी शान्त हुआ, जल की ऊष्णता अग्नि (अथवा) घाम के संयोग से होती है शीतलता जो है सो स्वभाव ही है ।

(५२)

तब अपने प्रभाव सौं नभ-चर सुर-द्रुप-फूलनि लाई ।
कृत-उपकार राजनन्दन पै, तिनहिं समुद बरसाई ॥
रदन-पाँति की बिमल-प्रभा पुनि चारिहुँ-दिसि बगराई ।
हिये-हार-मौंतिन चमकावत, या बिधि गिरा सुनाई ॥

(५३)

"हे रघु-सुवन ! मूढ़-मति मैंने अति अभिमानहिं कीन्ह्यौं ।
'होहु जाय बन-गज' 'मतंग-मुनि' कोपि साप मोहिं दीन्ह्यौं ॥
हौं गंधर्वराज कौ नन्दन प्रिय 'प्रियदरसन' केरौ ।
जानियै मोहिं देव-कुल-सम्भव नाम 'प्रियम्बद' मेरौ ॥

(५४)

साप-अनुग्रह-करन-काज हौं जब बहु बिनतिहिं कीन्ह्यौं ।
भयौ तबहिं अनुकूल महा-मुनि रोष त्यागि निज दीन्ह्यौं ॥
अग्न्यातप-संजोग पाय ज्यौं सलिल तप्त ह्वै जाई ।
सकत बिहाय तबहुँ स्वाभाविक नहिं निज सीतलताई ॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो यदा ते भेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन ।
संयोक्ष्यसे स्वेन वपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत्स तपोनिधिर्माम् ॥५५॥

संमोचितः सत्त्ववता त्वयाहं शापाच्चिरप्रार्थितदर्शनेन ।
प्रतिप्रियं चेद्भवतो न कुर्यां वृथा हि मे स्यात्स्वपदोपलब्धिः ॥५६॥

संमोहनं नाम सखे ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् ।
गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते ॥५७॥

५५—इक्ष्वाकुवंश में जन्म लेने वाला अज जब तेरे मस्तक को लोहे के मुख वाले (वाण) से भेदेगा तब तू अपने शरीर की महिमा फिर पावेगा यह मुझ को उस तप के समुद्र ऋषि ने कहा ।

५६—तुझ बली ने, बहुत काल से दर्शन की आसा किये हुए ने, मुझे शाप से छुड़ाया है जो मैं तेरा उपकार न करूँ तो मेरा निजपद पाना वृथा ही है ।

५७—हे सखा तू मेरे सम्मोहन नाम अस्त्र को, छोड़ने और हटाने में न्यारे न्यारे मंत्रों वाले को, गंधर्व सम्बन्धी को, ले जिससे चलाने वाले को बैरियों की अहिंसा और हाथ में विजय है ।

(५५)

जब इच्छवाकु-बंस-सम्भव अज निज सर-चाप सुधारै ।
अरु तब-कलित कुंभ-स्थल पै सो बिसिख-कांड कौ मारै ॥
तब महिमा समेत निज-तन कौ नभचर पैहौ जाई ।
मो-सौं बिहँसि बैन या बिधि सौं मुनिबर कह्यौ सुनाई ॥

(५६)

अब लौं नाथ-चरन-दरसन की साध हियें लै ध्यायौ ।
कीन्हीं कृपा मतंग-सापसौं बल-निधि आपु छुड़ायौ ॥
करौं न प्रति-उपकार जु पैं हौं ह्वै राउर आभारी ।
तब तौ स्वपद-प्राप्ति सबहीं बिधि ब्यर्थहिं होय हमारी ॥

(५७)

देखिय सखा ! नाम 'सम्मोहन-अस्त्र' यहै मम बाँकौ ।
सपदि प्रहार - संहारन - मंत्रन - सहित लीजियै याकौ ॥
प्रबल - प्रभावनि सौ येहु जग मैं "गँधरब-अस्त्र" कहावै ।
मरै न यासौं सत्रु कबहुँ रन-बिजय सदा पै पावै ॥

अलं ह्रिया मां प्रति यन्मुहूर्तं दयापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम् ।
तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्यं मयि त्वया न प्रतिषेधरौक्ष्यम् ॥५८॥
तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः ।
उदङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात् ॥५९॥
एवं तयोरध्वनि दैवयोगादासेदुषोः सख्यमचिन्त्यहेतु ।
एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान्सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान् ॥६०॥

५८—लज्जा को बस कर, प्रहार करते हुए भी जब तू मेरी ओर छन मात्र दयावान हुआ तो (अब) मुझ प्रार्थी पर नटने की कठोरता करनी तुझे योग्य नहीं है ।

५९—"ऐसा ही हो" (यह कहकर) उस अस्त्र ज्ञानी नर चन्द्र ने उतर को मुख कर के चन्द्रमा से उत्पन्न होने वाली नदी (नर्मदा) का पवित्र जल आचमन करके उस शाम से मोचित हुए से अस्त्र मंत्र लिया ।

६०—मार्ग में दैवयोग से इस भाँति अकस्मात मित्रता होने वाले उन दोनों में से एक कुबेर के उद्यान समीपी भूमियों को गया दूसरा सुराज के रमनीक विदर्भ देश को ।

(५८)

कीन्ह्यौं जदपि प्रहार तदपि तुम मो पै दया दिखाई ।
या लगि मानि इती बिनती मम, दीजै लाज बिहाई ॥
हौं कर जोरि निहोरि कहत सो सुनि लीजै नर-राई ।
करि अति कृपा, धारिये मो-प्रति जनि प्रति-खेद-रुखाई ॥"

(५९)

जाननिहार अस्त्र - मंत्रनि कौ अज नरेन्दु - छबि - धारी ।
बोल्यौ "एवमस्तु" अरु परस्यौ बिमल नर्मदा - बारी ॥
ठाढ़्यौ भयौ भूप उत्तर-मुख अस्त्र-मंत्र पुनि लीन्ह्यौं ।
वा गंधर्व-सुतु सौं, जाकौ साप बिमोचन कीन्ह्यौं ॥

(६०)

या बिधि दैवजोग सौं मग मैं भई भेंट जिन केरी ।
प्रीति अचिन्त्य - हेतु पुनि - बाढ़ी दोहुन - हियैं घनेरी ॥
गयौ 'प्रियम्बद' सुभग - चैत्ररथ - देश हियैं हरषायौ ।
'अज' सौभाग्य - सुरम्य - बिदर्भहिं आपु मुदित-मन आयौ ॥

तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः ।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली ।।६१।।
प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तथोपाचरदर्पितश्रीः ।
मेने यथा तत्र जनः समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम् ।।६२।।
तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् ।
रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्यां बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽध्युवास ।।६३।।

६१—उस नगर के समीप ठैरे हुए को उसी के आने से अति हर्षवान विदर्भनाथ आगे मिला, जैसे चन्द्रमा को बढ़ी हुई तरंगों वाला समुद्र ।

६२—और उसको नगर में प्रवेश करा कर आगे चलते हुए ने, राज श्री अर्पण किए हुए ने, नम्रता से ऐसा सन्मान किया जिससे वहाँ इकट्ठे हुए मनुष्यों ने विदर्भ राज को पाहुना और अज को घर का धनी जाना ।

६३—उसके चतुर अधिकारियों की दिखलाई हुई नई रमनीक विश्रामशाला में, पहले द्वार की वेदी पर भरे हुए घड़ों वाली में, रघु के उस युवराज ने वास किया, जैसे शिशुता से दूसरी (अर्थात् यौवन) अवस्था में कामदेव ने ।

(६१)

'आयौ नगर-निकट रघु-सुत अज' जब महीप सुनि पायो ।
लाखन लौं अभिलाषन कौ तिन, मनमुद मानि बढ़ायौ ।।
क्रथ-कौसिक-अधीस रघु-सुत-सौं मिलन तहाँ इमि आयौ ।
जिमि मंजुल-मयंक लखि जलनिधि चंचल बीचि बढ़ायौ ।।

(६२)

नगर प्रबेस कराय अजहिं, नृप तब आगे पग दीन्ह्यौं ।
आदर दियौ अपार अमित-धन चरनन-अरपन कीन्ह्यौं ।।
इमि बिनीति-दरसाय भोज-अधिपति तिनकौं सनमान्यौं ।
स्वामी अजहिं, विदर्भराज कौं अतिथि, प्रजाजन जान्यौं ।।

(६३)

प्रनत-भूप - अधिकारी - पुरुषन अजहिं भवन दिखरायौ ।
जाके द्वार-बेद-धारि-राख्यौ भरि-जल-कलस सुहायौ ।।
तेहि रमनीय निकेतन के मधि रघु-प्रति-निधि-पगु दीन्ह्यौं ।
मनहु बालपन त्यागि तरुन-बय मदन बास-निज कीन्ह्यौं ।।

तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं कन्याललाम कमनीयमजस्य लिप्सोः ।
भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ निद्रा चिरणे नयनाभिमुखी बभूव ॥६४॥

तं कर्णभूषणनिपीडितवीवरांसं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम् ।
सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः ॥६५॥

रात्रिर्गता मतिमतांवर मुञ्च शय्यां धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता ।
तामेकतस्तव विभर्ति गुरुर्विनिद्रस्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी ॥६६॥

६४—वहाँ स्वयंवर में राज समूह इकट्ठा करने वाली श्रेष्ठ कन्या को पाने के अभिलाषी अज की आँखों के सन्मुख रात में निद्रा बहुत बेर पीछे आई, जैसे अभिप्रायः जानने में असमर्थ स्त्री ।

६५—उस कुंडल के छपके पड़े हुए बड़े कन्धे वाले को, सेज के बिछाने की रगड़ से छीन अंग-राग वाले को, प्रसिद्ध बुद्धिवान को, उसी की अवस्था के अच्छी वाणी वाले सूत पुत्रों ने प्रातः काल स्तुतियों से लगाया ।

६६—हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ रात गई सेज त्यागो—क्या विधाता ने जगत का बोझ दो भाग में नहीं बाँटा है जिसको एक ओर से तुम्हारा पिता निद्रा छोड़ कर उठाता है, उसकी दूसरी ओर के उठाने वाले तुम हो ।

(६४)

जासु स्वयम्बर-काज अखिल-नृप-मंडल चाव दिखायौ ।
तेहि ललाम कमनीय - कन्यका - हित अजसाध - बढ़ायौ ॥
लेहिं निसि नृप-नैननि इमि निंदिया करि बिलम्ब नियराई ।
जिमि मुग्धा, पिय-रुचि बिनु जानैं करति देर ढिग-जाई ॥

(६५)

पीवर - कंध करन - भूषन - सौं भये निपीड़ित जाके ।
रगरि - सेज - पट, भये गात सब बिनु - अँगराग - प्रभाके ॥
सम - बय - सूत - कुमारनि प्रातहिं उठि बिरुदावलि-गायौ ।
प्रथित - प्रबुद्ध - राजनन्दन कौं कहि इमि बचन जगायौ ॥

(६६)

"भयौ निसा - अवसान महीपति दीजै नींद बिहाई ।
या जग - भार -अपार करी बिधि जुग - सम भाग बँटाई ॥
निद्रा - विगत, एक कहँ राउर - जनक सँभारि उठावत ।
दूजौ भार बहन-हित आपहु, कहहु क्यौं न मन लावत ?

निद्रावशेन भवताप्यनवेक्ष्यमाणा पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव ।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥६७॥

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥६८॥

वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः ।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य ॥६९॥

६७—तुम निद्रावश में भी अभिलाष छोड़ कर लक्ष्मी जिस चन्द्रमा से विरह व्यथा बिताती थी, जैसे रात्री में खंडिता नायका, सो भी दिशा के अन्त पर जाकर तुम्हारे मुख की कांति त्यागता है ।

६८—इसलिए अब एक बार सुन्दर विकास से दोनों तुरन्त एक दूसरे की तुला पर चढ़ी, चलायमान स्निग्ध पुतली वाला तुम्हारा नेत्र और भीतर फिरते हुए भौंरे वाला कमल ।

६९—प्रातः काल की पवन वृक्षों की डालियों से सिथिल फूलों को तोड़ती है और अरुण के खिलाए हुए कमलों से मिलती है, मानो पराए गुणों से तुम्हारे स्वास की स्वाभाविक सुगन्धि प्राप्त करने को इच्छावान ।

(६७)

ह्वै निदिया - बस आपु रमा - दिसि देखि सके जब नाहीं ।
वह खंडिता - तिया सम व्याकुल लखत रही जेहि काहीं ॥
जाते तव-बियोग-बाधा-सौं कछुक बिरति ह्वै जाई ।
सागर तव-मुख-छबि-बिरहित भयो, छीन-कला-निसराई ॥

(६८)

एकहिं साथ बिकसि रबि-करसौं होड़ करैं किमि नाहीं ।
तव लोचन-अरविन्द, तामरस-खिले सरोबर माहीं ॥
चपल-स्निग्ध-तारिका स्यामल एक मैं जिमि छबि छाजत ।
चंचल-भँवर कोष अपनैं लै तिमि सरसिजहू राजत ॥

(६९)

तरुतैं सिथिल - बन्ध - पुहुपनि कौ प्रात - समीर - गिरावत ।
रविकर - बिकच - सरोज - समूहनि हरखित-हिये-लगावत ॥
मनु - तव-आनन - सहज - सुरभिकौं पर - गुन पावन हेतू ।
रचि-पचि कोटि कला-कार हारत पवन भानु-कुलकेतू ॥

६७—अर्थात् भोर होने से चन्द्रमा फीका होता जाता है ।

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः ।
आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥७०॥

यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न भानुरह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम् ।
आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर याते किं वा रिपूँस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति ॥७१॥

शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते ।
येषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगाद्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः ॥७२॥

७०—वृक्षों के लाल पत्तों में पड़ी हुई, हार के स्वेत मोतियों की स्वच्छता वाली ओस की बूँद चमकती है, जैसे नीचे के होट पर शोभा पाकर दाँतों की कान्ति सहित तुम्हारी साधारण हसन ।

७१—जब तक तेज का समुद्र सूर्य उदय नहीं हुआ तब तक तुरन्त अरुण ने अँधेरा मिटा दिया, हे वीर ! संग्राम में तुम्हारे अग्रगामी होते हुए क्या अब तुम्हारा पिता आप बैरियों को मारेगा ?

७२—बजती संकलों को खेंचते हुए तुम्हारे हाथी दोनों ओर लोट कर सय्या को छोड़ते हैं, जिनके दाँतों के जोड़े नई धूप के संयोग से पहाड़ के टुकड़े के गेरुए तटों की नाई चमकते हैं ।

(७०)

तरुन - अरुन - पल्लवनि-गिरे जिमि मंजु ओस-कन राजत ।
स्वच्छ मौतियन की माला तिमि निज-आभा छिटकावत ॥
त्यौंही अधर - बिम्ब पैं दसननि-पंक्ति-कान्ति इमि धारी ।
मुख-मयंक पै राजति है जिमि सुस्मित - हंसनि तिहारी ॥

(७१)

जौ लगि उदय होत नहिं दिनकर दिवस करनके हेतू ।
तौ लगि अरुन हटाय देत तम सुनिय भानुकुलकेतू ॥
सूर-समूह-अग्रगामी ! तव जन्म भये जग माहीं ।
का प्रभु-जनक आपुहीं धनु-धरि अरिन-संहारन-जाहीं ॥

(७२)

जिनके दंत-कोष, नव-रवि के अरुन-किरन लगि बाँके ।
दमकत मनहुँ भिन्न गैरिक के खंड-सरिस-छबि-छाके ॥
खैंचत जबहिं लोह-साँकरि कौं तब ध्वनि मधुर सुनाई ।
ते तव बारन लोटि चहूँ दिसि सेजहिं रहे बिहाई ॥

दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्याः ।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः ॥७३॥

भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहारः स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः ।
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्तामनुवदति शुकस्ते मंजुवाक्पञ्जरस्थः ॥७४॥

इति विरचितवाग्भिर्वन्दिपुत्रः कुमारः सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झांचकार ।
मदमदुनिनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः ॥७५॥

७३—हे कमलनयन बड़े तम्बुओं में बँधे हुए पारसी देश के ये घोड़े निद्रा छोड़ कर आगे रक्खे हुए सेंधे नोन के स्वादीले टुकड़ों को मुख की भाप से मैला करते हैं ।

७४—भेट के फूल कुम्हला कर (उनकी) सजावट ढीली होती है, दीपक की चमक अपने किरण मंडल से बाहर नहीं जाती है, और यह तुम्हारा पिंजरा में बैठा हुआ मीठी वाणी वाला तोता भी तुमको जगाने के लिये हमारी कही हुई वाणी कहता है ।

७५—इस प्रकार वचनों की रचना करने वाले सूत्र पुत्रों के जगाए हुए कुमार ने तुरन्त सेज छोड़ी, जैसे मद में मधुर बोलने वाले राज हंसों के जगाए हुए सुप्रतीक नाम सुरगज ने गंगा का रेतीला तट ।

(७३)

दीरघ पट - मंडपनि-बँधे जे पारसीक बर-बाजी ।
नींद-बिहाय कमल-लोचन तनि, देखिय तिनकी राजी ॥
धरे सामुहैं लबन-खंड तेहि चाटत अति सुख पावत ।
निज साँसनि सौं तिन कौं ये, हय कैसौ मलिन बनावत ॥

(७४)

फीकी लगति प्रसूननि - रचना सुमन हार कुँभिलानैं ।
निज - कर - निकर - प्रवेस - भेद सौ, सून्य प्रदीप लखानैं ॥
प्रभुहिं प्रबोधन-काज सबै हम जो बिरुदावलि - गावत ।
ताही की अनुहार कीर - पंजर - गत बचन सुनावत ॥

(७५)

सुनत सूत-सुत-मुख-बिरुदावलि, रघु-सुत—अज अनुरागी ।
नैननि सौं निकासि निंदिया कौं दियौ सेज कौं त्यागी ॥
सुनत राज-हंसनि कौ मद-कल-रव-स्रवननि सुखदाई ।
'सुप्रतीक' सुर-गज जनु राजत, सुर-धुनी-पुलिन-बिहाई ॥

अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितमञ्चिताक्षिपक्ष्मा ।
कुशलविरचितानुकूलवेषः क्षितिपसमाजमगात्स्वयंवरस्थम् ॥७६॥

७६—शास्त्र में देखी हुई प्रातः काल की उचित विधि को समाप्त करके सुन्दर पलकों वाला, चतुरों के रचाए हुए सुन्दर भेस वाला, स्वयंवर में बैठे हुए राजाओं के समाज को गया ।

सवैया

(७६)

जासु मनोहर मंजु लसीं बरुनीन,
महा छबि कौं दरसायौ ।
प्रात-क्रियानि भली बिधि सौं,
निरबाहि प्रफुल्ल-हियैं हरसायौ ।
सर्ब - कलाबिद - राजकुमार,
मनोहर राजसी - बेस बनायौ ।
राजैं स्वयंबर - भूतल - भूप
सबै, तहाँ यौं 'अज' ओजसी आयौ ॥

———

॥ षष्ठः सर्गः ॥

स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेषान्सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान् ॥१॥
रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण ।
काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम् ॥२॥
वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।
शिलाविभंगैर्मृगराजाशावस्तुङ्गं नगोत्संगमिवारुरोह ॥३॥

छठा सर्ग

१—वहाँ उसने सजे हुए मचानों में सिंहासनों पर बैठे हुए अच्छे भेस वाले राजाओं को, वैमानिक देवाओं की सुघड़ाई लिये हुओं को, देखा ।

२—रति की प्रार्थना स्वीकार करने वाले महादेव जी से फिर अपना अंग पाए हुए कामदेव सरीखे काकुत्स्थ को देखकर राजाओं का मन इन्दुमती में निरास हुआ ।

३—विदर्भ राज के दिखलाए हुए मचान पर वह कुमार अच्छी सजी हुई सीढ़ियों से चढ़ गया जैसे सिंह का छावड़ा शिला फटानों से पहाड़ की ऊँची कंदरा पर ।

छठा सर्ग

सवैया

(१)

नौंखी मनोरम मंचनि की, अवली जहाँ राजतीं मंजु सँवारी ।
सोहत चारु सिंहासनहूँ किते, बैठे जहाँ नृप आय अगारी ।
मानौं छुड़ाय लई सुखमा तिन, देव हुते जेहि के अधिकारी ।
ऐसी स्वयंबर-भूमि को आय, तहाँ रघु राजकुमार निहारी ॥

(२)

काम-तिया की बिनै सुनि कान, दया सिव-संकर कौं कछु आई ।
तासु पिया कौ सरूप मनौं, अज-ब्याज सौं ताहि दियौ पलटाई ।
मार-लजावन-हार जबै, रघु-राजकुमार लख्यौ नरराई ।
इन्दुमती कहँ पाइबै माहिं, निरासा खरी तिनके हिय छाई ॥

(३)

तामधि एक मनोरम-मंच, बिदर्भ-नरेश नैं जेते दिखाये ।
मंजु सोपाननि सौं चढ़ि आपु, तहाँ अज ऐसे महा-छबि छाये ।
जैसे सिलानि के खंडन सौं, चढ़ि तुंग-महीधर सृंग सुहाये ।
राजत दर्पित ओज सौं पूरन सिंह कौ सावक तेज-दिपाये ॥

१—विमान में बैठने वाला वैमानिक कहलाता है ।

२—सूरज वंशियों का नाम काकुत्स्थ इसलिए है कि उनके एक पुरखे का नाम ककुत्स्थ था और यह नाम इस लिए पड़ा था कि वह एक लड़ाई में इन्द्र को बैल बनाकर उसके ककुद अर्थात ठाठ पर बठ कर दैत्यों से लड़ा था ।

परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः ।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ॥४॥
तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्यः ।
सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः पयोमुचां पंक्तिषु विद्युतेव ॥५॥
तेषां महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये ।
रराज धाम्ना रघुसूनुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः ॥६॥

४—वह श्रेष्ठ रंगों के बिछोने बिछे हुए रत्न जटित आसन पर बैठ कर मोर की पीठ पर चढ़ने वाले स्वामि कार्तिक के साथ उत्तम उपमा के योग्य कान्तिमान हुआ ।

५—राजाओं की उन पंक्तियों में लक्ष्मी का सहस्त्र भाग किया हुआ निज तेज निराले चकाचौंध के कारण कठिनता से दीखने वाला हुआ, जैसे बादलों की पंक्तियों में बिजली ।

६—बड़े मोल के आसनों पर बैठे हुए उन उज्ज्वल वस्त्र वालों के बीच में तेज से रघु का पुत्र ही शोभित हुआ जैसे कल्प वृक्षों के (बीच) में पारिजात ।

(४)

सोभित रत्नसिंहासन पै भयौ, जो मनि-मानक-जाल दिपायौ ।
औ' जेहि पै बहु रंगनि सौं रंगे, दिब्य दूकूलनि लाय बिछायौ ।
ता समैं तापै लस्यौ अज तेजसी, ऐसी अनूप छटा बिकसायौ ।
मानौं मयूर की पीठ पै राजत, सम्भु कुमार महा छबि छायौ ॥

(५)

ताखन राजन-मंडली मैं, रघु-सूतु की सोभा बढ़ी कछू न्यारी ।
ता ही प्रभा के बिसेष उदै सौं, सकैं कोउ दीठि न वा दिसि डारी ।
सौंहत सिन्धु-सुता इमि है निज तेज सौं अंस हजारन धारी ।
ज्यौं बदरानिकै बृन्दनि मैं, छहरै छनजौन्ह-छटाछवि-बारी ॥

(६)

चारु स्वयम्बर भूमि पै ल्याय, अमोल सुआसन के ते बिछाये ।
राजत हैं जिन पै नृप-बृन्द, अनूपम-भूषन-बेष बनाये ।
तामधि श्री रघुराजा के नंद, अपार स्व-तेज सौं यौं छबि छाये ।
नन्दन के कलपद्रुम-कानन, बीच मैं ज्यौं परिजात सुहाये ॥

नेत्रव्रजाः पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्नृपतीन्निपेतुः ।
मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः ॥७॥
अथ स्तुते बन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके ।
संचारिते चागुरुसारयोनौ धूपे समुत्सर्पति वैजयन्तीः ॥८॥
पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ ।
प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्ताँस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मङ्गलार्थे ॥९॥
मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि ।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा ॥१०॥

७—पुर वासियों के नेत्रों के समूह सब राजाओं को छोड़ कर उसी के ऊपर पड़े, जैसे मद चूने के समय फूल के वृक्षों को छोड़ कर भौंरे बन के सुगन्धि वान हाथी के ऊपर ।

८—तिस पीछे वंशावली जानने वाले बन्दी जनों से चन्द्र सूर्यवंशी राज समूह की स्तुति होते हुए और फैली हुई अगरसार की धूप में पताकाओं के फहरते हुए ।

९—नगर समीपी उपवनों के बासी मोरों का बड़ा नाच कराने वाले शंखों के शब्दों से भरी हुई मंगल निमित बजने वाली तुरहियों की धुनि दिशाओं के अन्त तक छाते हुए ।

१०—मनुष्यों के कंधों पर चंडोल में, साथ चलने वाली से शोभा पाते हुए में, बैठकर पति को वरने वाली ब्याह के कपड़े पहनी हुई वह कन्या मचानों के बीच राज मार्ग में गई ।

(७)

श्री अज तेजसी के तन पै, तहाँ केते नरेसन कौं त्यौं बिहाई ।
सारे बिदर्भ-निवासिन की, हठि दीठि अचानक ही परी आई ।
ज्यौं मतवारे मलिन्दनि की, अवली फुलवानि के बृच्छन जाई ।
पै मद-बारि-की धार चुचात - मंतगज-गंडनि पैं गिरै आई ॥

(८-९)

ससी रवि-बंशज-भूपनि की, बिरुदावलि बन्दी चुके जब गाय ।
तथा अ गर-सार की धूप-सुगंधि में, चारु-पताका रहीं फहराय ।
सुनैं रव-संख को नाचै लगें, बरही पुर-बाटिका मैं सुखपाय ।
सुमंगल काज मिली तिन सौं, तुरही-धुनि फैली दिगन्तन जाय ॥

(१०)

तौ लगि दीसी तहाँ सिविका, जेहिं चारु कँहार स्वकंधनि लाये ।
तापर राजै बिदर्भ-धराधिप-दारिका मंजु महा छबि छाये ।
धारैं विवाह के दिव्य-दुकूल, बिभूषन अंगनि-अंग सजाये ।
मंचनि की अवली-मधिमारग, लै गमनी जयमाल उठाये ॥

८ व ९—इन श्लोकों का आशय दसवें में खुलेगा ।

तस्मिन्विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये ।
निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमासनेषु ॥११॥

तां प्रत्यभिव्यक्त मनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः ।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥१२॥

कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम् ।
रजोभिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयांचकार ॥१३॥

११—विधाता की उस उत्तम करतूत कन्या रत्न में, सौ आँखों के एक बेझे में, राजा लोग अन्तःकरण से गए आसनों में देह मात्र बैठे रहे ।

१२—उसके सामने मनोरथ प्रगट करने वाले राजाओं की शृंगारचेष्टा, प्रार्थना में उत्तम दूती, बहुत प्रकार की हुई, जैसे वृक्षों की पल्लव शोभा ।

१३—किसी ने दोनों हाथ से पकड़ी हुई नालवाला, हिलते पत्तों से भौरों को दूर करता हुआ, मध्य में पराग का चक्र बाँधता हुआ, खेलने का कमल फिराया ।

(११)

बनाय विदर्भ सुता कौं मनौं, रचना सौं लिये बिधि हाथ उठाय ।
कितेकन आये महीपनि की, तेहि पै परी दीठि अचानक आय ।
दियौ तेहि के अवलोकत ही, सबही सुधि औ' बुधि कौं बिसराय ।
रहे तनसौं निज मंचनि बैठे, मनौं बहु चित्र - लिखे नरराय ॥

(१२)

राज सुता कौं बिलोकत ही, नरनायक-बृन्द महा अनुरागे ।
लाखन लौं अभिलाखनि कौ, निज ही-तल के प्रगटावन लागे ।
पादप-पुंजन माहिं नये-नये, पल्लव मानौ कढ़ै सब आगे ।
दूत-प्रनै के यथा अपने, ये सिंगार-बिकार दिखावन लागे ॥

(१३)

धारे सुकोमल हाथन माहिं, मृनाल की नालिका चारु सुहावन ।
जासु के पत्रनि आपु हलाय, लगै अलि बृंदनि हू कौं भगावन ।
त्यौं ही परागनि कौ परिबेष, बनायकैं मंजु महा मनभावन ।
भूपसुताकौं दिखाय दिखायकैं, 'लीला सरोजहिं' लागै फिरावन ॥

१२—प्रार्थना में चेष्टा ही उत्तम दूती कहलाती है ।

विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम् ।
प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः ॥१४॥
आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततोऽन्यः किंचित्समावर्जितनेत्रशोभः ।
तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम् ॥१५॥
निवेश्य वामं भुजमासनार्धे तत्संनिवेशादधिकोन्नतांसः ।
कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत ॥१६॥

१४—दूसरे सुन्दर रसिक ने तिरछा मुख करके कंधे से सरकी हुई, रत्नजटित भुजबंध की कोटी से लगी हुई, माला उठाकर अपने स्थान पर रक्खी ।

१५—उससे दूसरे किसी ने उधर कुछ आँखों की छब दिखला कर सकोड़ी हुई अँगुलियों वाले, तिरछी फैली हुई नख की चमक वाले, पैर से सोने की पीढ़ी पर (कुछ) लिखा ।

१६—कोई बाईं भुजा को आधे आसन पर रखकर उसके रखने से ऊँचे कँधे वाला, पीठ पर पड़े हार वाला, मित्र से बात करने लगा ।

(१४)

काहू बिलासी-नरेस के कंध तैं, केहूँ खसी मनि-माल सोहाई ।
त्यौंही जराय-जरे-भुजबन्द के, कोटि मैं सो अटकी हठि जाई ।
लै अपनैं कर-कंजनि सौं, तेहि लाग्यौ सुधारन सो नरराई ।
आनन कीन्हैं कछू तिरछौ, जबै राजसुता तेहि के ढिग आई ॥

(१५)

दूजौ धराधिप कुंचित कै, अँगुरी अपनैं पद-पंकज केरी ।
फैलि रही जेहि के नख-नौल सौं, चारु तिरीछी प्रभा बहुतेरी ।
लाग्यौ कुरेदन हेम-बिमंडित-पाद के पीठिहिं पै तिन्हैं फेरी ।
मंजु कटाक्ष बिलोचन सौं कियौ, आवत भूप सुता कहँ हेरी ॥

(१६)

आधेइ आसन पै अपनैं भुज, बाम कौ टेकि कोऊ नरराई ।
या लगि बायेंहि कंधर माहिं, लसी तेहिकैं कछु आनि ऊँचाई ।
कंठ की मंजु मनीन कि माल, परी येहि तैं नृप पीठ पै जाई ।
लाग्यौ रसीली करै बतियाँ, निज मीत सौं राजसुता कौं सुनाई ॥

१५—पीढ़ी=पैर रखने की मुढ़िया ।

विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रमापाण्डुरं केतकबर्हमन्यः ।
प्रियानितम्बोचितसंनिवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रैः ॥१७॥
कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन ।
रत्नाङ्गुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान् ॥१८॥
कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसंनिवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव ।
वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे ॥१९॥

१७—किसी युवान ने केतकी के कुछ पीले पत्ते को, स्त्रियों के विभ्रम निर्मित दन्त पत्र बने हुए को प्रिया के नितम्बों पर पडने वाले नखों से नोचा ।

१८—किसी ने कमल समान लाल हथेली वाले हाथ से, ध्वजा की रेखा चिन्ह वाले से, रत्नजटित अँगूठियों की चमक वाले पासों को खेल करके उछाला ।

१९—किसी ने अपने ठौर पर रक्खे हुए मुकट में एक हाथ हीरे की दमक से भरे हुए अँगुली रंध वाला रक्खा, मानो अपने स्थान से हटे हुए हों ।

(१७)

मंजु महीरुह केतकी कौ, इक पत्र गयौ पियरौ परि जोई ।
त्यौं बनितानिके स्रौनकी चारु बिभूषन कौ पद पावत सोई ।
आपनैं ही नखनौल सौं ताकहँ, नौंचन लाग्यौ महीपति कोई ।
जानैं प्रिया के नितंबनि पै, नख के छद की सिगरी बिधि जोई ॥

(१८)

राते सरोरुह-सी काहू भूप की, मंजु हुती अरुनारी हथेरी ।
औ' नृप-चिन्ह बतावन के हित, रेखा परी ज्यहिं मैं ध्वज केरी ।
धारैं जराय-जरीं-मुँदरी कर, फैली प्रभा जिनतैं बहुतेरी ।
लाग्यौ उछावन पाँसन कौ, अपनी दिसि आवत बालहिं हेरी ॥

(१९)

मंजुल-मौलि पै राजत चारु, किरीट अपार प्रभा बिसतारन ।
ताहि मनौं खसक्यौ कछू जानि, जुबा अपनैं कर लाग्यौ सुधारन ।
ता-रतनानि-प्रभा अँगुरीन के, बीच-सौं लागी बिभौ बरसावन ।
हाथ धरयौ निज सीस महीस, नरेस-सुता कौं दिखायबै कारन ॥

१७—दन्त पत्र=करनफूल ।

ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी ।
प्राक्संनिकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा ॥२०॥

असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः ।
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परंतपो नाम यथार्थनामा ॥२१॥

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥२२॥

२०—तिस पीछे राजाओं के वंश और वृतान्त सुनी हुई पुरुष के समान बोलने वाली सुनन्दा नाम द्वारपालनी कुमारी को पहले मगध देश के राजा के निकट ले जाकर बोली ।

२१—यह शरणागती को शरण देने वाला, गम्भीर स्वभाव वाला, मगधदेश की प्रतिष्ठा प्रजा रंजन सीखा हुआ, यथार्थ नाम परन्तप राजा है ।

२२—और राजा सहस्त्रों हैं भूमि को राजावती इसी से कहते हैं, रात्री नक्षत्रों और तारों और ग्रहों से भरी हुई भी ज्योतिमती चन्द्रमा ही से है ।

(२०)

बन्दिन के मुख सौ जवहीं, बिरुदावलि कौं नृप-बंसनि की भली ।
आप सुन्यौं नरलौं अति ढीठ, 'सुनन्दा'—बिदर्भ-नरेस-सुता-अली ।
संगही राज-सुता कौं लियैं पहिलैं मंगधाधिप के नियरैं चली ।
औ' तेहि सौं मुसुकाय कछू, यहि भाँति सौं बोली अली बचनावली ॥

(२१)

आवत जे सरनागत हैं, तिन्हैं रच्छनि की जिन बानि गही है ।
धारै महाबल ख्याति भई, जिनहीं सन मागध मंजु मही है ।
पालि प्रजा को पिता लौं नितै, किती या जग में जिन कीर्ति लही है ।
भूप 'परंतप' हैं जे वही, जिनकौ अरि-तापी-प्रताप सही है ॥

(२२)

होयँ भलै ही हजारन भूप, बड़े-बड़े बीर बड़े धनुधारी ।
ह्वै 'पतनी'पै 'परन्तप' की, वसुधा या भई पति की अधिकारी ।
ज्यौं ग्रह-तारन की अवली नभ सौं तम-तोम सकैं नहिं टारी ।
होत उदै पैं जबै निसानाथ, तबै हीं कहावति 'रैनि उज्यारी' ॥

२१—परन्तप=बैरियों को तपाने वाला ।

क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः ।
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकाँश्चकार ॥२३॥

अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे ।
प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम् ॥२४॥

एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला ।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा ॥२५॥

२३—निरन्तर यज्ञों की क्रिया से इन्द्र के नित्य बुलाने वाले ने इन्द्रानी के पीले कपोलों पर लटकते हुए अलकों को मन्दार पुष्पों से बहुत काल तक सूना रक्खा है ।

२४—इस श्रेष्ठ के साथ जो तू पाणि ग्रहण किया चाहती है तो प्रवेश के समय भवनों के झरोंखों में बैठी हुई पटने की स्त्रियों के नेत्रों को उत्सव करेगी ।

२५—ऐसे उसके कहने पर उसकी ओर देखकर इस पतले अंगवाली ने, दूध लगी हुई महुए की माला कुछ नीची करती हुई ने, बिना बोले ही उसको सीधेपन के प्रणाम से नाहीं का उत्तर दिया ।

(२३)

याही महीप नैं केतिक बार, धरा पै नितै नये मेध रचाये ।
औ' मख-भाग कौ दान के हेतु, सुरेसै इतै किती बार बुलाये ।
तासु बियोग मैं पीरे परे, वै पुलोम-सुता के कपोल सुहाये ।
गूँथि मँदार-कली-केस-पास, सकी न सजाय सदा मन-भाये ॥

(२४)

होय कुमारि परंतप के सँग, ब्याह की साध मनैं सोच लीजियौ ।
दीठि प्रबेस-समै पटना के बड़े बड़े भौननि पै डारि लीजियौ ।
बैठी गवाछनि माहिं तहाँ, बनितानि के बृन्दनि कौं लखि लीजियौ ।
आयत-लोचन कौं तिनके, सुखमा दिखराय सखी फल लीजियौ ॥

(२५)

राजसुता नै जबै यहिं भाँति, सुनी बतियाँ प्रतिहारिनि केरी ।
लंक लची-सी परै कचभार-सौं, भूप की ओर छनै इक हेरी ।
मंजु-मधूक की माल कछूक, नवाय कै दीठि सखी दिसि फेरी ।
कीन्हौं प्रनाम न बोली कछू, मनौं आगैं चलौ तेहिं सौं कह्यौ एरी !

२३—पति घर न हो तब स्त्री सिंगार नहीं करती ।

तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय ।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम् ॥२६॥

जगाद चैनामयमङ्गनाथो सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्रीः ।
विनीतनागः किल सूत्रकारैरैन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते ॥२७॥

अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमान्स्तनेषु ।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हाराः ॥२८॥

२६—(फिर) वही द्वारपालनी उस राज सुता को दूसरे राजा के निकट ले गई, जैसे मान सरोवर की राजहंसनी को पवन की उठाई हुई तरंग दूसरे कमल के निकट ।

२७—और उसको बोली यह अंग देश का स्वामी अप्सराओं की चाही हुई यौवन कान्ति वाला, ऋषियों के सिखाए हाथियों वाला, पृथ्वी पर रहता हुआ भी इन्द्र के से ऐश्वर्य भोगता है ।

२८—इसने बैरियों की स्त्रियों के स्तनों पर पड़े हुए हार उतार कर बड़े मोतियों के समान आँसू की बूँद गिरवा कर मानों बिना डोरे के हार ही फेर दिये ।

(२६)

बेतकौं धारनिवारी सँकेत, बिदर्भ-नरेस-सुता-सन पाई ।
अन्य महीपति बैठे जहाँ, यहि भाँति गई तहँ ताहि लेवाई ।
मान-सरोबर मैं जिमि पौन, उतंग-तंरगनि काहि उठाई ।
जो पुनि राजमरालिनि कौं, काहू दूजे सरोज पै देति पठाई ॥

(२७)

"देव-तिया, सुनौं राजसुता ! जेहिं के सदा जोबन-श्री कौ सराहैं ।
त्यौं गज-सास्त्र-बिचच्छन जाके, मतंगन-मंजु सिखावत राहैं ।
भूतल पै रहि कैं, न सुरेस-सिँघासनहूँ की करैं हिय - चाहैं ।
अंग-धरा के सिगार के हार, महा बलसालि बड़ी-बड़ी बाहैं ॥

(२८)

बैरिन की बनितानि कठोर उरोजन पै रहै भार सदाई ।
या लगि सूत-गुहे-बड़ेरे - मोतियानि की मालहिं यौं उतराई ।
औ' तिनहीं के बिलोचन-वारि के बुन्द, बिना - गुन हार बनाई ।
होइ न पीर उरोजन मैं, यह जानि कैं मानौं दिये पहिराई ॥

२७—इस राजा की कथा है कि एक समय इन्द्रलोक को गया था वहाँ इसके रूप पर सब अपसरा लुभा गईं ।

निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेवकल्याणि तयोस्तृतीया ।।२९।।

अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी ।
नासौ न काम्यो नच वेद सम्यग्द्रष्टुंनसा भिन्नरुचिर्हि लोकः।।३०।।

ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्भिर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ ।
निदर्शयामास विशेषदृश्यमिन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै ।।३१।।

२९—स्वभाव ही से अलग रहने वाली इसके पास दो इकट्ठी हैं, लक्ष्मी और सरस्वती, और हे कल्याणी कांति से और सुन्दर वाणी से उनकी तीसरी होने की तू ही योग्य है।

३०—तब अंगेश्वर से नेत्र फेरकर कुमारी ने सखी को "आगे चल" यह कहा, न वह चाहने के अयोग्य था और न वह यथार्थ देखने में अज्ञान थी (परन्तु) मनुष्य न्यारी-न्यारी रुचि के होते ही हैं।

३१—फिर द्वारपालनी ने इन्दुमती को बैरियों का न सहा हुआ एक और रुपवान राजा दिखलाया, मानो नया उदय हुआ चन्द्रमा।

(२९)

बानी-रमा ह्वै स्वभाव सौं भिन्न, रहैं इक ठौर न बात कहूँ या !
दोऊ पुरातन-बैर-बिसारि, भई अनुराग सौं याकी द्वि-तीया।
आपहू क्यौं न कृपा करतीं, बिनती इतनी करि कान मदीया।
रूप की रासि सुधा-सम बैन सौं प्यारी बनौं उन बीच तृतीया ।।

(३०)

यौं प्रतिहारिनि की सुनि बातनि, अंग-नरेस सौं-दीठि हटाई।
"आगे चलौ" तेहिं सौं तबहीं, नरनाह-सुता कह्यौ बैन सुनाई।
है कमनीय न भूपति सो, अथवा तेहि पै गुन जाँचि न जाई।
बात नहीं यह, 'लोगन की जग मैं रुचि भिन्न सदा चलि आई ।।'

(३१)

याके अनन्तर इन्दुमती कहँ, लै गई दूजे महीपति पाहीं।
जाकौ ज्वलन्त प्रताप औ' तेज, अरातिनहूँ सौं सह्यौ गयौ नाहीं।
जोबन-रूप मैं जो केहूँ भाँति, नवोदित चंद हू सौ कम नाहीं।
आय दिखायौ नरेस सुता कहँ, सुन्दर ऐसे महीपति काहीं ।।

२९—लक्ष्मी और सरस्वती अर्थात द्रव्य और विद्या।

अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ।।३२।।

अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि ।
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि ।।३३।।

असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ।।३४।।

३२—यह अवन्तिका का राजा बड़ी भुजा वाला, चौड़ी छाती वाला, पतली गोल कटि वाला विराजमान है, जैसे सान पर चढ़ाकर विश्वकर्मा का उजाला हुआ सूरज ।

३३—इस सर्व शक्तिवान के आगे चलने वाले घोड़ों की उठाई हुई धूलि राजाओं में शिरोमणियों के तेज का अंकुर अस्त करती है ।

३४—महाकाल निवासी चन्द्र शेखर के निकट बसता हुआ यह अँधेरे पाख में भी प्यारियों के साथ चाँदनी रातों का सुख लेता है ।

(३२)

"बच्छ बिसाल लसै कटि छाम, सुबीर बड़ी-बड़ी बाँहनि वारौ ।
है यह नाथ अवन्तिका कौ, तिहूँ लोकनि मैं जस-धौल बगारौ ।
मानहुँ बिश्व-बनावनहार नैं, सान पै याहि चढ़ाय उतारौ ।
जो दिननाथ लौं आपनैं चंड प्रताप और तेज कौ पुंज पसारौ ।।

(३३)

साजि चमू चतुरंग समोद, अवन्तिका-नाथ जबै निकरै है ।
याके सवारनि के बर-बाजिन - टाप सौं धूरि खरी उखरै है ।
सो जबहीं नभ मैं चहूँ ओरनि फैलिकैं, भूपनि सीस परै है ।
तौ वह मौलि-किरीटि-मनीनि की, मंजु-प्रभानि कौं मंद करै है ।।

(३४)

भूप अवन्तिका कौ महाकाल - महेस-समीप निवास करै है ।
सम्भु-लिलार-सौं मंजु-मयंक - सुधा-मई-धौल-प्रभा बगरै है ।
यातैं अँधेरी-बिभावरी मैं, तमतोम कौ जौम न जानि परै है ।
रूपवती-जुबतीनि के साथ, सदा उजियारिहि मैं बिहारै है ।।

अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते ।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥३५॥
तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के ।
बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम् ॥३६॥
तामग्रतस्तामरसान्तराभामनूपराजस्य गुणैरनूनाम् ।
विधाय सृष्टिं ललितां विधातुर्जगाद भूयः सुदतीं सुनन्दा ॥३७॥

३५—हे कदली समान जाँघों वाली ! क्या तेरे मन की रुचि इस युवान राजा के साथ सिपरा की तरंगों की पवन से हिलने वाली उद्यान पंक्तियों में बिहार करने की है ?

३६—उस बन्धु रुपी कमलों के खिलाने वाले में, तेज से बैरी रूपी कीच के सुखाने वाले में, उस उत्तम सुकुमारि ने चित्त न लगाया, जैसे कमोदिनी ने सूर्य में ।

३७—उस कमल के उदर समान कान्ति वाली को, गुणों की पूरी को, विधाता की ललित सृष्टि को, सुन्दर दाँतों वाली को, अनूप देश के राजा के आगे ले जाकर फिर सुनन्दा ने कहा ।

(३५)

याही जुवा नरनाथ के साथ, बिबाह की साधजु पै मन लाये ।
तौ पुर बाहिर की बगियानि मैं, कीजौ बिहारनि चाव चढ़ाये ।
छिप्रा नदी की तरंगनि सौं मिले, पौन-झकोरै जहाँ सुखदाये ।
पादप-पुंज की डारनि औ', फुलवानि के जूहनि मंजु कँपाये ॥

(३६)

सरोरुह-बन्धुन कौं अपनैं, करतैं परसैं हीं दियौ बिकसाय ।
प्रताप के तीखन ताप सौ त्यौंहीं अरातिन-पंक कौं डारयौ सुखाय ।
अवन्ति-नरेस-दिनेसहू माहिं, दिखायौ न नैसुकहू रति-भाय ।
कुमोदिनि-इन्दुमती जेहिं देखि, सँकोचनि सौं रही नैन नवाय ॥

(३७)

राते-सरोज के कोषहू कौं, जेहि की तन आभा लजावनिहारी ।
त्यौं चतुरानन नैं जेहिंकौ, अपनैं कर-कंज सौं मंजु सँवारी ।
राजत कुंद-कली-रद-पाँति, सबै गुनखानि बड़ी सुकुमारी ।
लै गई राजसुता कौं लिवाय, सुनन्दा 'अनूप' नरेस अगारी ॥

सङ्ग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः ।
अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी किल कार्त्तवीर्यः ॥३८॥

अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवँश्चापधरः पुरस्तात् ।
अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता ॥३९॥

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन लंकेश्वरेणोषितमाप्रसादात् ॥४०॥

३८—संग्राम में सहस्त्र भुजा प्राप्त होने वाला, अठारह द्वीपों में यज्ञस्तम्भ गाड़ने वाला, विशेषता से राज शब्द लेने वाले, कार्त्तवीर्य नाम ब्रह्मवेत्ता हुआ ।

३९—जिस न्याई ने बुरे कर्म की चिन्ता उत्पन्न होने के साथ ही धनुष धरे हुए सामने प्रगट होकर प्रजाओं के अन्तःकरण में भी अन्याय मिटा दिया ।

४०—जिसके बन्दीघर में लंकेश्वर ने, प्रत्यंचा में बाँह रुके हुए ने, ऊँचे स्वास लेते हुए मुखों की पंक्ति वाले ने, इन्द्र के जीतने वाले ने, उसकी प्रसन्नता तक बास किया ।

(३८)

"जुद्ध-क्रिया की बिचच्छनता महँ, है जोइ बाहु-हजार कहायौ ।
और अठारहु दीपन मैं, अपनै मख जूपनि कौं गड़वायौ ।
पालि प्रजा कौं पिता-सम आपु, जथारथ ही नृप कौ पदुपायौ ।
'कारत बीर्ज',भयौ कोऊ जोगी, दिगन्तनि लौं जेहि कौ जसु छायौ ॥

(३९)

राजमैं जाके जो कोऊ कहूँ, मनहूँ मैं बिचार बिकार के लावत ।
तौ तहाँ बान-सरासन धारै छिनैक ही मैं तेहि सामुहैं आवत ।
या विधि सौं तिनके हिय तैं, कुबिचारनि कौं सहसा बिचलावत ।
यौं ही प्रजाजन कौं सबभाँति, सुसासन ही सौं बिनीत बनाबत ॥

(४०)

मौरबी के दृढ़ बन्धन मैं, जकरे जेहिके भुज-दंड सुहाये ।
छाँड़त दीरघ स्वासनि कौं, दसौं आनन तैं अतिही दुख पाये ।
कारा अगार में जाके निवास कै, तौ लगि केतिक बर्ष बिताये ।
जौ लगि वा नृप-पुंगव कौं, बली -राकसराज रिझाय न पाये ॥

४०—प्रसन्नता तक अर्थात् जब उसकी इच्छा हुई तब रावण बन्धन से छूटा ।

तस्यान्वये भूपतिरेष जातः प्रतीप इत्यागमवृद्धसेवी ।
येन श्रियः संश्रयदोषरूढं स्वभावलोलेत्ययशः प्रमृष्टम् ॥४१॥

आयोधने कृष्णगतिं सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम् ।
धारां शितां रामपरश्वधस्य संभावयत्युत्पलपत्रसाराम् ॥४२॥

अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम् ।
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः ॥४३॥

४१—उसी के वंश में यह वेद ज्ञानियों का सेवक प्रतीप नाम राजा जन्मा है। जिसने लक्ष्मी स्वभाव ही से चंचल है, इस अयश को, आश्रितों के गुणों से उत्पन्न होने वाले को, दूर किया।

४२– जिसने युद्ध में अग्नि सहाई पाकर परसराम के फरसे की पैनी धार को क्षत्रियों की काल रात्री को, कमल पत्र के समान तेज वर्ती माना।

४३—जो रनवास के झरोखों से सहिषमती (नगरी) के परकोटे रुपी नितम्ब को रेवा रूपी तागड़ी को, जलों के प्रवाह से रमनीक को देखने की चाह है तो इस बड़ी भुजा वाले की अक की लक्ष्मी बन।

(४१)

"सामुहैं सोहैं 'प्रतीप'-महीप, ज्यौं हीं वाही बंस कौ सौर्ज बढ़ाये।
त्यौं इन आगम-वृद्धनि के, पद-सेवन मैं किते बर्ष बिताये।
सिन्धु-सुता कौ गह्यौ दृढ़ पानि, तिन्हैं गृह मैं थिर-थापि बसाये।
ताकी सुभावज - चंचलता, गृह मैं थिर थापि यौं दूरि भगाये॥

(४२)

पाय सहाय दुसासन कौ, इन बैरी-प्रबीरनि सौं रन ठान्यौं।
छत्रिय-बंस की काल-निसा - भृगु राम हूँ सौं नहिं नेकु सकान्यौं।
वाके कराल-कुठार की धार कौं, जानै सरोज के पात सौ जान्यौं।
याहि बनाय बिरंचि मनौं, अपनी रचना कौं कृतारथ मान्यौं॥

(४३)

सोहति है अलका-सी सदा, नगरी महिषामती मंजु जहाँ की।
कूल-नितम्ब पै जाकै लसै, रसना - सम रेवा धरैं गति बाँकी।
बारि-प्रवाह के बाके जो सौंध-गवाछनि बैठि लियौ चहौं झाँकी।
बात हमारी पै कान दै तौ तुम अंग-लसौ कमला बनि याकी॥"

४१—आश्रितों के गुणों से उत्पन्न होने वाला अयश इसलिए कहा कि लक्ष्मी में खोट नहीं है उसके पाने वाले खोटे हो जाते हैं।

तस्याः प्रकामं प्रियदर्शनोऽपि न स क्षितीशो रुचये बभूव ।
शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः शशीव पर्याप्तकलो नलिन्याः ॥४४॥
सा शूरसेनाधिपतिं सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम् ।
आचारशुद्धोभयवंशदीपं शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी ॥४५॥
नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण ।
सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः ॥४६॥

४४—देखने में वह यथार्थ सुघड़ राजा भी उसकी रुचि में न भाया, जैसे कमलनी की रुचि में शरद के मिटाए बादलों से निर्मल पूरी कला प्राप्त किया हुआ चन्द्रमा ।

४५—सूरसेन देश का सुषेण नाम राजा, लोकान्तरों में गाई हुई कीर्ति वाला, शुद्ध आचार से दोनों कुलों का दीपक, दिखलाकर द्वारपालनी ने उस कुमारी से कहा ।

४६—यह यज्ञ करने वाला राजा नीप के वंश का है जिस में पहुँच कर गुणों ने आपस का स्वाभाविक विरोध भी छोड़ दिया, जैसे सिद्धों के शान्त आश्रम में जाकर पशु पक्षियों ने ।

(४४)

भूप-'प्रतीप' नैं रूप अनूप, मनोभव लौं बिधि सौं हुतौ पायौ ।
पै नहीं कारन जानि पर्‌यौ, वह 'इन्दुमती' के मनै नहिं भायौ ।
सारद-मेघ - घटा-सौं छुट्‌यौ, जिमि पूरन - चन्द लखात सुहायौ ।
पूछियै पै नलिनी हियतैं, तेहिं देखत ही मुख जानैं दुरायौ ॥

(४५)

गावतीं देव तिया हूँ सदा, जेहि कौं जस-धौल दिगन्त लौं छायौ ।
वा मथुरा को महीप 'सुखेन', दुहूँ कुल को जो प्रदीप कहायौ ।
चारु बिसुद्ध पवित्र चरित्रहिं–इन्दुमती कहँ आपु दिखायौ ।
तासन मन्द कछू मुसुकाय कैं या बिधि सौं पुनि बैन सुनायौ ॥

(४६)

"नीप'-महीप कौ बंसज है, मख केते जथा-बिधि यानैं कराये ।
या कहँ पाय सबै गुन आपु, स्वभाव-असेष-बिरोध भजाये ।
सिद्ध के आश्रम माहिं बसैं, बनचारी अहिंसक-हिंसक आये ।
आपुस मैं मिलि जैसें स्वभाविक, बैर-बिरोध सबै बिसराये ॥

४६—सिद्धों के आश्रम में बाघ बकरी एक घाट पानी पीते हैं ऐसे ही सुषेण राजा में ज्ञान मौनादि गुणों ने आपस का विरोध त्यागा था ।

यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमांशोरिव संनिविष्टा ।
हर्म्याग्रसंरूढतृणाङ्कुरेषु तेजोऽविषह्यं रिपुमन्दिरेषु ॥४७॥

यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले ।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्त जलेव भाति ॥४८॥

त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः ।
वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् ॥४९॥

४७—जिसका चन्द्रमा का सा मनोहर उजाला निज घर में (और) असह्य तेज बैरियों के मन्दिरों में, आँगनों में घास जमे हुओं में, फैला है।

४८—जिसके रनवास की स्त्रियों के स्तनों का चन्दन जल क्रीड़ा में धुल जाने से जमना मथुरा में भी गंगा की तरंगों से मिले हुए जल वाली सी भासती है।

४९—जो गरुड़ से डरे हुए जमना वासी कालीय की दी हुई कान्तिमान मणि को छाती पर धारण करता हुआ कौस्तुभ पहनने वाले विष्णु को लजाता सा है।

(४७)

आपने गेह के चौकनि-चारु-ज्यों, लोचन-मंजु जुड़ावनिवारी ।
चाँदनी-धौली-सुधाधर की, इनहीं निज तेज-प्रताप प्रसारी ।
त्यौं ही अराति-प्रचंडनि के, बरभौंननि कौं यहि भाँति उजारी ।
लागि रही अंगनानि में घास, न बैभव की रही नेकु चिन्हारी ॥

(४८)

या नृप के अवरोध-निकेत-निवासिनी-बालनि नैं जबै न्हायौ ।
पीन-पयोधर पै तिनके, लग्यौ-चन्दन-स्वेत छुट्यौ मन-भायौ ।
स्यामल-नीर-कलिन्दिजा कौं, तेहि या बिधि सौं मिलि धौल बनायौ ।
मानौं इतै मथुरा मंहँ गंग की धार कौ बारि कहूँ बहि आयौ ॥

(४९)

वास करै जमुना मैं नितै, तबहूँ खगनायक सौं भय पावत ।
कालिया-नाग नै दीन्हीं इन्हैं मनि, केते बिनीति के भाव दिखावत ।
सोहत धारैं हिये मँह ताहि, चहूँ दिसि चारु छटा-छिटकावत ।
कौस्तुम कौं पहिरैं गर-माहि, मुरारीहु कौ मनौं आपु लजावत ॥

संभाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये ।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः ॥५०॥

अध्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि ।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोबर्धनकन्दरासु ॥५१॥

नृपं तमावर्त्तमनोज्ञनाभिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री ।
महीधरं मार्गवशादुपेतं स्रोतोवहा सागरगामिनीव ॥५२॥

५०—इस युवान को भर्त्ता मान कर हे सुन्दरी ! कोमल पत्तों की पुष्प सय्या पर वृन्दावन में, कुवेर के उद्यान समान में यौवन के फल भोग ।

५१—और जल की बूँदों से छिड़की हुई शिलारस की गन्धि वाली चटानों पर बैठकर बरसा ऋतु में सुन्दर गोवरधन की कन्दराओं में मोरों का नाच देख ।

५२—उस राजा को वह भमर समान मनोहर नाभि वाली दूसरे की बधू होने वाली, छोड़ गई, जैसे समुद्र की ओर जाती हुई नदी मार्ग में पड़ते हुए पर्वत को ।

(५०)

याही जुवा नृप कौं निज नाथ, बनाइवे की जौ हियै रुचि कीजौ ।
तौ फुलवानि की कोमल सेज पै, सोइबे कौ नितही सुख लीजौ ।
जो सुर-कानन सौं कम नाहिं, बृन्दावनैं हूँ तुम जाइबे कीजौ ।
मेलि गरैं मृदु-बेलि-सी-बाँह, बिहारनि कौ सिगरौ रस लीजौ ॥

(५१)

बैठियौ स्वच्छ सिलानि पै जाइकैं, जे जल-सीकर-जालनि धोई ।
त्यौं मनभावती मन्द सदा, सिलाजीत सुगन्धि कौ देति हैं सोई ।
श्री गिरि-राज-गुहानि मैं मंजुल, नृत्य मयूरनि को जहँ होई ।
पावस में लखियौ छटा जाय, घटा-घन की उनये नभ जोई ॥

(५२)

आगै चली तबै राजकुमारि, मनोहर भौंरसी-नाभि है जाकी ।
ह्वै है बधू काहु अन्य नरेस की, यातैं 'सुखेन' की ओर न ताकी ।
सागर-पीतम की दिसि जात, मनोरम धार जबै सरिता की ।
मारग मैं परै भूधर और तौ, कैसेहूँ दीठि न जाति है वाकी ॥

अथाङ्गदाश्लिष्टभुजं भुजिष्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम् ।
आसेदुषीं सादिशत्पक्षं बालामबालेन्दुमुखीं बभाषे ॥५३॥

असौ महेन्द्राद्रिसमानसारः पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च ।
यस्य क्षरत्सैन्यगजच्छलेन यात्रासु यातीव पुरो महेन्द्रः ॥५४॥

ज्याघातरेखे सुभुजो भुजभ्यां बिभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः ।
रिपुश्रियां साञ्जनवाष्पसेके वन्दीकृतानामिव पद्धती द्वे ॥५५॥

५३—तब भुजबन्द धारण की हुई भुजा वाले, बैरियों के समूह का नाश करने वाले, कलिंग देश के हेमागंद नाम राजा के निकट पहुँची हुई को पूर्ण चन्द्र समान मुख वाली को, दासी ने कहा ।

५४—यह महेन्द्र पर्वत के समान बलवान महेन्द्र और महोदधि का स्वामी है जिसकी यात्राओं में मानो सेना के मद चूते हुए हाथिओं के मिस से महेन्द्र ही आगे चलता है ।

५५—जो सुन्दर भुजा वाला धनुष धारियों का मुखिया, दोनों भुजाओं में दो ज्याघात रेखा धारण किए है, मानो पकड़े हुए बैरियों की लक्ष्मी के कज्जल सहित आँसुओं से छिड़के हुए दो मार्ग ।

(५३)

भूप - 'सुखेन' कौ छाँड़ि निरास, नरेस-सुता कहुँ वा प्रतिहारी ।
लै गई बैठ्यौ कलिंग-नरेस, 'हिमांगद' नाम जहाँ बलधारी ।
बाहुनि मैं पहिरै भुजबन्द, अरातिन कौ जेहिं डार्‌यौ उजारी ।
पूरन-चन्द-मुखी सन आपु सुनन्दा कह्‌यौ इमि बैन उचारी ॥

(५४)

"राज सुता ! लखौ या नृप कौं जो, महेन्द्र-महीधर लौं बलधारी ।
त्यौंही महेन्द्र महोदधि कौ, यह ही महाबाहु भयौ अधिकारी ।
काहू पै भूप चढ़ाई करै जनै साजि चमू चतुरंग प्रचारी ।
तौ मदमाते मतंगन के मिसु मानौं महेन्द्र ही जात अगारी ॥

(५५)

मौरवी-घात की रेखा दुऔ, जेहि की बर बाहुनि माहिं सुहाई ।
त्यौं धनुधारनि मैं सब सौं पहिले जेहिं रेख-बिरंचि खँचाई ।
बन्दी अरातिनि की कमला नैं, बिलोचनि - बारि मनौ बरसाई ।
काजर हीं सौं मिले अँसुवानि, दियौ दुऔ रेखनि मंजु बनाई ॥

५५—ज्याघात रेखा=कमान की डोरी की रगड़ से चिन्ह कलाई पर हो जाता है ।

यमात्मनः सद्मनि संनिकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः ।
प्रासादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम् ॥५६॥

अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु । तालीवनमर्मरेषु ।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥५७॥

प्रलोभिताप्याकृतिलोभनीया विदर्भराजावरजा तयैवम् ।
तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात् ॥५८॥

५६—निज मंदिर में जिस सोते हुए को गम्भीर शब्द से पहर पहर की तुरही की धुनि का चुप करने वाला, रनवास के झरोखों से दीखती हुई लहरों वाला, समीपवर्ती समुद्र ही जगाता है ।

५७—मर्मर शब्द करते हुए तालीबन वाले समुद्र तीर पर द्वीपोन्तरों से लौंग के फूल लाने वाली पवनों से पसीने की बूँद सुखाती हुई तू इसके साथ बिहार कर ।

५८—उस (दासी) की इस प्रकार लुभाई हुई भी विदर्भ नाथ की छोटी बहन, लुभावने रूप वाली, उसको छोड़ गई, जैसे दैव के कोपे हुए को नीति करके दूर से लाई हुई लक्ष्मी ।

(५६)

जो समै - सूचक-बाजनि कौ अपने रव-घोर - सौं मन्द करै है ।
सौध-गवाच्छ सौं जाकौ उतुंग - तरंग - समूह दिखाई परै है ।
सोवत आपनैं मन्दिर मैं, जो बन्यौं रतनाकर के नियरै है ।
सागर ही एहि भूपति की, निदिया अँखियानि सौं दूरि करै है ॥

(५७)

तालनि सौं छई सागरभूमि-सौं, मर्मर सब्द है देत सुनाई ।
याही जुवा सँग वा बन-भूमि मैं, कीजियौ मंजु-बिहारनि जाई ।
दूसरे दीपनि मैं लगे लौंग-प्रसूननि कौ परसैं चलि आई ।
स्वैदै, लवंग कौ सीत-समीरन, आनन-कंज सौं देत सुखाई ॥

(५८)

ऐसी लुभावनी हूँ-बचनावली, इन्दुमती के मनैं नहिं भाई ।
रूप की रासि सबै गुन-खानि-नरेसहिं या बिधि छाँड़ि सिधाई ।
ज्यौं हत-भागी काहू जन पै, चतुराननहूँ मनमाखि-रिसाई ।
दूरि सौं लाई गई बड़ी नीति सौं, सिन्धु-सुता कहँ देइ फिराई ॥

अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं दौवारिकी देवसरूपमेत्य ।
इतश्चकोराक्षि विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाद भोज्याम् ॥५९॥
पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥६०॥
विन्ध्यस्य संस्तम्भयिता महाद्रेर्निःशेषपीतोज्झितसिन्धुराजः ।
प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः ॥६१॥

५९—फिर नागपुर के देव सरूप राजा के समीप ले जाकर द्वारपालनी ने "हे चकोर नैनी इधर देख", ऐसे पहले कह कर इन्दुमती को कहा ।

६०—यह कंधे पर लटकते हुए हार वाला, हरिचन्दन से रचे हुए अँगराग वाला, पांडु देश का राजा विराज मान है, जैसे सवेरे की घास से लाल शिखर वाला, झिरते हुए झिरनों वाला, गिरिराज ।

६१—अश्व मेध के अन्तस्नान पर जिस भीगे हुए का प्रीति से कुशल पूछने वाला विन्ध्याचल का सिक्षक, समस्त समुद्र को पीकर उगलने वाला, अगस्त होता है ।

(५९)

याके अनन्तर इन्दुमती कहँ, नागपुरी-पति के ढिग लाई ।
रूप अनूपम सौं नित देव-कुमारनिहूँ सौं करै समताई ।
"देखौ चकोर-बिलोचनी ! या दिसि," यौं कहि मन्द कछू मुसकाई ।
मेलियै याके गरैं बर मालहिं, मानौं कह्यौ इमि भौंह-भ्रमाई ॥

(६०)

"है यह पांड्य-नरेस महाबली, धारैं गरैं बनमाल सुहायौ ।
त्यौं हरिचन्दन सौं जेहि कौ, चरिचौ सबै गात महा-मन-भायौ ।
राजत है नगराज-समान सो बालपतंग-मयूखनि छायौ ।
हार लसै कल-कंठ मैं या बिधि, ज्यौं झरना नग-सौं बहि आयौ ॥

(६१)

है यह भूप महाबली बिन्ध्य-पहारहूँ कौ जो निबारन वारौ ।
पूरन कै हय-मेधनि आपु, जबै होत ठाढ़्यौ अन्हाय सुखारौ ।
पूछत है 'सौसनातिक' रूप मैं, छेम नृपै सोइ बच्छल-धारौ ।
अंजुलि मैं भरि पान कर्‌यौ जाही-कुंभज सागर कौ मद-झारौ ॥

६१—अर्थात् यज्ञ के अन्त पर अगस्त ही इस राजा से कुशल पूछता है ।

अस्त्रं हरादाप्तवता दुरापं येनेन्द्रलोकावजयाय दृप्तः ।
पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की संघाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे ॥६२॥

अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी ।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः ॥६३॥

ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु ।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥६४॥

६२—महादेव से जिस दुर्लभ अस्त्र पाने वाले के साथ मिलाप करके आगे अभिमानी लंकापति जन स्थान के नाश का शंकावान, इन्द्रलोक जीतने के लिये गया था ।

६३—इस महाकुलीन के साथ तू अमोल पृथ्वी की नाईं विधि पूर्वक ब्याही होकर रत्नों से भरे हुए समुद्र की मेखला वाली दक्षिण दिशा की सौत बन ।

६४—मलयागिरि की भूमियों में, पान की बेलों से ढके हुए पूंग वृक्ष वालियों में, इलायची की लताओं से लपटे हुए चन्दन वालियों में, तमाल पत्र के बिछौने वालियों में सदा रमन करने को प्रसन्न हो ।

(६२)

के तप घोर मयंक-लिलार कौ, भूपति नैं भली-भाँति रिझायौ ।
त्यौंहीं महेस्वर सौं बरदान के, रूप मैं दुर्लभ अस्त्रहिं पायौ ।
जीतिवैं कौं अमरेस कौ लोक, जबै दस-आनन नैं मन लायौ ।
तौ जन-थान-बिनास की भीति कै, या नृप सौं करि संधि सिधायौ ॥

(६३)

याही महा-कुल-सम्भव सौं, सखी, आपु जथा-बिधि भावरैं फेरी ।
सौति तहाँ बनियौं तुम जायकैं, भूमि की वा दिसि दच्छिन केरी ।
सोहत जाके नितम्बनि पै सुठि, मेखला-सागर मंजुल है री !
जामैं परी ही रहैं नितही मनि मानिक औ' मुकतानि की ढेरी ॥

(६४)

या नृप के संग राज-सुता, मलियाचल पै रमियौं नित जाई ।
चारु सुपारी की बृच्छनि की, अवली जौ तमोल की बेलिनि छाई ।
चन्दन की तरु-राजि पै मंजु, इलायची की लता देति दिखाई ।
स्याम-तमालनि के दल-सौं, रुचि कैं तहाँ कोमल-सेज बिछाई ॥

६२—रामायण में कथा है कि जब रावण इन्द्र लोक जीतने के लिए जाने लगा तो उसको डर हुआ कि पीछे देव स्वरुप राजा जन स्थान को लूट लेगा इसलिये देव स्वरुप से मिलाप करके रावण इन्द्रपुरी को गया ।

इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः ।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥६५॥
स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः ।
दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे ॥६६॥
संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥६७॥

६५—यह राजा नील कमल के समान श्याम शरीर है तू गोरोचन के समान गोरे अंग वाली है इससे तुम्हारा योग एक दूसरे की शोभा बढ़ाने के लिये बिजली और बादल का सा हो ।

६६—विदर्भ नाथ की बहन के मन में उसकी सीख ने ठौर न पाया, जैसे सूरज के देखने से मुँदी हुई पंखड़ियों वाले कमल में चन्द्रमा की किरन ने ।

६७—उस दुलहिन ने रात में चलती हुई दीप शिखा की नाईं जिस जिस को पीछे छोड़ा वही वही राजा बड़ी सड़क के अट्टे की भाँति मैला पड़ता गया ।

(६५)

या नरनाह कौ सुन्दर गात, लखात है स्याम-सरोज-सौ कारौ ।
त्यौं गऊरोचन रंग-सौं गौर मनोहर रावरौ अंग सँवारौ ।
दोहुनि की सुखमा कौ बढ़ावन—काज भलौ बिधि जोग बिचारौ ।
दामिन औ' घन कौ जिमि संग, तथा येहि भूप सौं होय तुम्हारौ ॥

(६६)

वा प्रतिहारिनि की बतियाँ बहु, जामैं भरी उपदेस-निकाई ।
त्यौं कछु कारन सौं वहि राज-सुता के मनैं नहिं रंचक भाई ।
जैसे दिवाकर के अथयैं जबै, कोष सरोज कौ बन्द ह्वै जाई ।
तौं तेहिं माहिं निसाकर की, किरनैं काहू भाँति सकैं न समाई ॥

(६७)

राति में घूमती दीप-सिखा - सम, इन्दुमती-सुखमा-बगराई ।
जाही धराधिप कौं तजि बाला, स्वयंबरा आगे जबै बढ़ि जाई ।
ह्वै कैं बिबर्न महीपति ताखन, या बिधि सौं तहँ देत दिखाई ।
ज्यौं राज-मारग-बारी अटारी, मलीन कछू तम पाय लखाई ॥

तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलाऽभूत ।
वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ॥६८॥

तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यवर्त्ततान्योपगमात्कुमारी ।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ॥६९॥

तस्मिन्समावेशितचित्तवृत्तिमिन्दुप्रभामिन्दुमतीमवेक्ष्य ।
प्रचक्रमे वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा ॥७०॥

६८—उस सामने आई हुई में रघु का पुत्र, मुझे बरेगी कि नहीं, ऐसा संदेह करने वाला हुआ, उसकी दाहनी बाँह ने भुजबन्द की फड़कनों से उसका यह संदेह मिटा दिया ।

६९—उस समस्त निर्दोष अंगों वाले के पास पहुँच कर औरों के पास जाने से कुमारी निवटी, क्योंकि फूले हुए आम के मौर में जाकर भौंरों और रूखों पर जाने की आकांक्षा नहीं करती ।

७०—उसमें चित्त की वृत्ति लगाई हुई को, चन्द्रमा की किरन इन्दुमती को देखकर आगा पीछा जानने वाली सुनन्दा विस्तार पूर्वक यह बचन कहने लगी ।

(६८)

ठाढ़ी भई जबहीं वह भूप-सुता रघु-सूनु समीप सभागी ।
मोहि बरै-कि-बरै यह नाहिं कुभावना वाके हियैं महँ जागी ।
तौ लगि दाहिनी बाहु-बिसाल-बँधी-भुज-बंदहिं सौं अनुरागी ।
संसय वाकौ निवारन कै, सगुनौती दियैं फरकै मनौ लागी ॥

(६९)

'सुंदरता-गुन'-खानि ऐसे अजै पाय नरेस सुता बड़-भागी ।
औरहूँ भूपनि के ढ़िग जानकौं, दीन्ह्यौं बिचार हिये-सन त्यागी ।
बौरे रसाल की मंजरी पै, मधुपावली जैसें रही अनुरागी ।
सो फिरि दूसरे पादप-पुंज समीप कबौं उड़िकै नहिं लागी ॥

(७०)

वा नृप मैं अपनी चित-बृति, लगाये हुतो वह राजकुमारी ।
आनन-ओप-सौ मंजु मयंक-समान-छटा-छिटकावनि वारी ।
या बिधि ताहि बिलोकि कै बंस-परम्परा कौ क्रम जाननि हारी ।
दैन लगी परिचै बिसतार सौं, मंजुल बैननि आपु उचारी ॥

इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत् ।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोशलेन्द्राः ॥७१॥

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥७२॥

ऐरावतास्फालनविश्लथं यः संघट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन ।
उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्यामर्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ ॥७३॥

७१—राजाओं के मुखिया ककुत्स्थ नाम इक्ष्वाकुवंशी सर्वगुण संयुक्त हुआ जिससे उत्तर कौशल के बड़े साहसी राजा अच्छी काकुत्स्थ पदवी रखते हैं ।

७२—युद्ध में बैल रूप इन्द्र पर चढ़कर जिस महादेव की लीला प्राप्त किए हुए ने वाणों से असुरों की स्त्रियों के कपोल सिंगार रहित कर दिये ।

७३—जो ऐरावत के ठमकारने से सिथिल भुजबन्द को (अपने)भुजबन्द से रगड़ता हुआ फिर निज चेष्ट मूर्ति पाने वाले, पहाड़ काटने वाले (इन्द्र) के भी आधे आसन पर बैठा ।

(७१)

"भूप-इच्छ्वाकु के बंसिन माहिं, 'ककुत्स्थ' भयौ एक भूप अगारी ।
भूप - मनी तेहिं की जग मैं छिटकी जश-चंद - कला उजियारी ।
उत्तर - कौसल-राजन की, बर-सन्तति उन्नति चाहनि बारी ।
गौरव अपनौं मानति है, इमि पाय कै वा पदवी की चिन्हारी ॥

(७२)

वा के आदेसहिं मानि सुराधिप, आपु बली वृष-कौ बपु धार्‌यौ ।
तापै अरुढ़ ह्वै वा नृप नैं, रन-कौसल सम्भु समान बगार्‌यौ ।
तीखे - नराचनि कौ नरपाल, अरातिन ऊपरि या बिधि डार्‌यौ ।
राकस-बाम-कपोल-सिंगार, बहाय बिलोचन बारि बिगार्‌यौ ॥

(७३)

ऐरावतै थपकारि चलावत अंगद जाकौ भयौ कछू ढीलौ ।
बेष बिहाय महावृष कौ, फिरि कैं अपनौ बपु धारि गठीलौ ।
वा इन्द्र बाहु बिभूषन सौं, रगरौ अपनौं भुजबन्द रसीलौ ।
आधे सिंघासन पै जो लस्यौ, तिनहूँ सँग बैठि सुभाव जसीलौ ॥

७२—महादेव की लीला=बैल पर चढ़ कर युद्ध करना ।

७३—ऐरावत को बार बार ठुमकारने से इन्द्र का भुजबन्द ढीला हो जाता था । गौतम ऋषि के शाप से इन्द्र का शरीर कुरुप हुआ था देवताओं ने फिर श्रेष्ठ किया ।

जातः कुले तस्य किलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः ।
अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः ॥७४॥

यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथेगतानाम् ।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥७५॥

पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता ।
चतुर्दिगावर्जितसंभृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम् ॥७६॥

७४—उसके कुल में निश्चय बड़ा कीर्तिमान कुलदीपक दिलीप राजा जन्मा जो इन्द्र की ईर्शा निवारने के निमित निन्यानवह यज्ञ करने वाला रह गया ।

७५—जिसके पृथ्वी पर राज करते हुए बिहार स्थान के आधे मार्ग में सोती हुई वैश्याओं के कपड़े पवन ने भी न हटाए, चोरी के लिये कौन हाथ फैला सकता था ।

७६—उसका पुत्र रघु महा यज्ञ विश्वजित का करने वाला (पिता के) पद का पालता है । जिसने चारों दिशा में लाकर बढ़ाई हुई विभूति मट्टी का पात्र बची हुई कर दी ।

(७४)

वाही महा अभिनन्दन जोग, सुबंस मैं जन्म भयौ सुनौं वाकौ ।
ह्वै अपनें कुलकौ सो प्रदीप, 'दिलीप' महीपति नाम हो जाकौ ।
सौ-हय मेधनि कौं करतौ, हरिहू सकतौ करि बार न बाँकौ ।
पै मख एकै न कीन्ह्यौं नरेस, निवारन कौं हरि की ईरषाकौ ॥

(७५)

आधे-बिहार-थली-मग में, निदिया जिन्ह वारबधूनि कौं आई ।
सोवती हू गनिकागन गात सौं, अंसुक, पौन सक्यौ न हटाई ।
सासन मैं वा दिलीप महीप के, सोही ही ऐसी प्रबन्ध निकाई ।
तौ फिर कौन समर्थ हो जो, उनके हरिबे-हित हाथ उठाई ॥

(७६)

तासु तनै रघुराज नै राज - सिंघासन वाकौ बिभूषित कीन्हौं ।
'बिस्वजिता-मख' कै जग मैं जेहिं, बिप्रनि दान अनेकनि दीन्हौं ।
सम्पति जो तिहुँ लोकनि की, नृप मंडली सौं लरिकैं तेहि लीन्हौं ।
जन्य मैं ताहि लुटाय सबै, अपनैं कर मृन्मय - भाजन लीन्हौं ॥

७४—इन्द्र ने दिलीप को पूरे सौ यज्ञ न करने दिए ।

आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम् ।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेतुमियत्तयालम् ।।७७।।
असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः ।
गुर्वीं धुरं योभुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं बिभर्ति ।।७८।।
कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ।।७९।।

७७—जिसका पर्वतों पर चढ़ा हुआ, समुद्रों के पार गया हुआ, सर्पों की नगरी (पाताल) में प्रवेश किया हुआ, ऊपर पहुँचा हुआ और तीनों काल में न टूटा हुआ यश नापने में नहीं आ सकता कि इतना है ।

७८—उस से यह अज कुमार हुआ है, जैसे स्वर्ग के स्वामी (इन्द्र) से जयन्त, जो सीखतर बछड़ा (होकर) ही पृथ्वी के भारी बोझ को धुरन्धर पिता की नाईं उठाता है ।

७९—कुल करके कान्ति करके नई वैस करके और जिनमें नम्रता प्रधान है ऐसे गुणों करके इस अपने तुल्य को तू वर ले, रत्न सोने में मिले (तो अच्छा है) ।

(७७)

या नृप की धवली जसरासि, अरुढ़ भई गिरि सृंगनि पाहीं ।
त्यौं फबि फैलि रही चहुँ ओर, जहाँ लगि सागर के जल जाहीं ।
नागन की नगरी महँ ब्यापि, पधारी बहोरि रसातल माहीं ।
तीनिहूँ लोकनि मैं अबलौं, परिमान लग्यौ येहि कौ कछू नाहीं ।।

(७८)

वाही नरेस कौं नन्दनु है यहु, श्री 'अज' नाम महाबल-धारी ।
जैसैं भयौ अमरावती माहिं, सुरेस को सूनु जयन्त अगारी ।
धारतु है अपनैं पितु साथ, धुरी गरुई जग की बड़ी भारी ।
कंठ मैं याके मयंक-मुखी, अब दीजै स्वयम्बर माल कौं डारी ।।

(७९)

बंस - परम्परा मैं, तनु - कान्ति मैं, औ' बय सौं सबै भाँति सुहाई ।
त्यौहीं बिनीति - प्रधान-नवीन नये, गुन गौरव की समुदाई ।
अपनैं ही अनुरूप कुमार की, मंजु बनौं ललना हरखाई ।
राजकुमार औ' राउर कौ, मनि - कांचन-जैसौ सँजोग लखाई ।।

ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या ।
दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत्संवरणस्रजेव ॥८०॥
सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम् ।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्वानिराक्रामदरालकेश्याः ॥८१॥
तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे ।
आर्ये व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ॥८२॥

८०—तब सुनन्दा का वचन समाप्त होने पर राजकुमारी ने लाज छोटी करके कुमार को प्रसन्नता की दृष्टि से ग्रहण किया, मानो स्वयंवर की माला से ।

८१—लाज के मारे वह उस युवान में (अपनी) प्रेमगाँठि के कहने को समर्थ न हुई, घुँघराले केशों वाली के शरीर को बेध कर वह (प्रेमगाँठि) रोमांच के मिस से बाहर निकल आई ।

८२—तब इस अवस्था में पहुँची हुई उस सखी को छेड़ी रखने वाली सखी ने हँसी से कहा, "हे चतुरी और किसी के समीप चल," दुलही ने उसको रोस से तिरछा देखा ।

(८०)

या बिधि सौं प्रतिहारिनि नैं, बतियाँ जबै इन्दुमती कौं सुनाई ।
लाज - सँकोच सँकेलि कै बाल प्रसाद की डीठि कछूक उठाई ।
खंजन-मंजु तिरीछे सुनैंननि, दीन्ह्यौं सुनंदहिं भाव बताई ।
यौं मन-भावति माल-स्वयंबर, मानौं दई अज कौ पहिराई ॥

(८१)

लाज मनोज के पालैं परी, सहसा महिपाल-सुता तेहिं ठाईं ।
या लगि सो अज सौं अपनैं अभिलाष के 'बन्ध' कौं ना कहि पाई ।
दीरघ-केसी के गातनि पै, उठि कैं तहँ रोम की राजि सुहाई ।
या मिसु ही तल कौ सिगरौ, अनुराग कढ़्यौ मनौं बाहिर आई ॥

(८२)

देखी जबै प्रतिहारिनि नैं, यहि भाँति दसा वाहि राजसुता की ।
मंद ही मंद कछू मुसकाय कैं, या बिधि कीन्ही हँसी पुनि ताकी ।
आगैं चलौ सखी देखैं बरै, इतै देखिबे कौं न रह्यौ कछु बाकी ।
यौं सुन इन्दुमती तेहि ओर, लख्यौ कछू भौंह चढ़ाइ के बाँकी ॥

८२—छेडी रखने वाली अर्थात् द्वारपालनी सुनन्दा ।

सा चूर्णगौरं रघुन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः ।
आसज्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्त्तमिवानुरागम् ।।८३।।

तथा स्रजा मङ्गलपुष्पमय्या विशालवक्षःस्थललम्बया सः ।
अमँस्त कण्ठार्पितवाहुपाशां विदर्भराजावरजां वरेण्यः ।।८४।।

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा ।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्रपौराः श्रवणकटुनृपाणामेकवाक्यं विवब्रुः ।।८५।।

८३—उस सूँड समान जाँघों वाली ने धाय के हाथ रघुनन्दन के गले में जहाँ उचित थी मंगल के चूर्ण से स्वेत माला पहनाई, मानो मूर्तिमान अनुराग ।

८४—चौड़ी छाती पर पड़ी हुई उस मंगल पुष्पों की माला से उस चतुर ने विदर्भनाथ की बहन को गले में, बाँहों का जाल डाले हुए माना ।

८५—"यह बादलों के छोड़े हुए चन्द्रमा में मिली चाँदनी है, तुल्य रूप समुद्र में पहुँची हुई गंगा है" समान गुण मिलने से प्रसन्न नगर निवासियों ने वहाँ राजाओं के कान को कड़वा यही एक वचन कहा ।

(८३)

मंगलचूरन सौ मिलि राती, बनी जो स्वयम्बर-माल सुहाई ।
ताहि कछू मुसुकाय दई, निज धाय के हाथनि माहिं गहाई ।
औ' तेहि के कर-कंजनि सौं, अज के कल-कंठहि मैं पहिराई ।
मूरतिमन्त मनौं अनुराग कौ, लीन्ह्यौं नरेसहू यौं उर-लाई ।।

(८४)

मंगल - पुष्प - मई वह मंजु, स्वयम्बर-माल गरैं निज देखी ।
बच्छ-बिसाल पै लम्बित जौन, सबैं सुख की परमावधि लेखी ।
मान्यौं विदर्भ-नरेश - सुता - भुज - मंजुल - पास मनौं सबिसेखी ।
आय परी अपनैं कल-कंठ मैं, यौं अज भाग उदै अवरेखी ।।

(८५)

"मेघनि के अवरोधनि सौं छूटी, चन्द सौं चन्द्रिका यौं मिली आई ।
औ' अपने अनुरूप ही गंग, मिली प्रिय सागर सों उमगाई ।"
यौं अज-इन्दुमती कौ सँजोग, रहे पुरवासी अनन्द सौं गाई ।
पै यह बानी नरेसन-कान मैं, सूल समान चुभी मनौ जाई ।।

प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम् ।
उषसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥८६॥

८६—राजाओं का वह समाज एक ओर प्रसन्न वर पक्ष वाला दूसरी ओर उदास, सवेरे के खिले कमलों और सोती कमोदिनियों वाले सरोवर के समान हुआ ।

(८६)

कवित्त

एक ओर हरषित-बर-मंडली है सबै, देखि-अज-गोद राज-लच्छिमी सुहाई है ।
दूजी दिसि बैठी राजमंडली उदासभई कालिमा विषाद की मुखन जिन छाई है ॥
सोहत बितान वह बिमल-सरोवर-सौ, जामैं प्रात बिकसौ सरोज समुदाई है ।
कुमुदि-कलापनि की सोभा सब छीन भई, तिनकी दसा तौ कछू बरनि न जाई है ॥

———

॥ सप्तमः सर्गः ॥

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।
स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥१॥

सेनानिवेशान्पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दभासः ।
भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेषु वेषेषु च साभ्यसूयाः ॥२॥

सांनिध्ययोगात्किल तत्र शच्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः ।
काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोपि शशाम तेन क्षितिपाललोकः ॥३॥

सातवाँ सर्ग

१—साक्षात स्वामिकार्तिक समेत देवसेना की नाई बहन को उसी के समान दूलह समेत संग लेकर विदर्भनाथ नगर में प्रवेश करने चला ।

२—सवेरे के तारों की नाई मन्दजोति राजा लोग भी इन्दुमती में व्यर्थ मनोरथ होने से रूप और भेस की निन्दा करते हुए छावनियों को गए ।

३—कहते हैं कि इन्द्रानी की समीपता के कारण वहाँ स्वयंवर में विघ्न डालने वालों का अभाव था, इसलिये राजाओं का ईर्षा भरा हुआ समूह भी काकुत्स्थ को देख कर शान्त रहा ।

सतवाँ सर्ग

रोला

तबहिं बिदर्भ-नरेस समुद परु-दिसि पगु दीन्ह्यौं,
तथा सदृश्यबर अजहि इंदुमति के संग लीन्ह्यौं ।
सोभा अकथ-अनूप कछू बरनी नहि जाई,
जनु सन्मुख के संग देव-सेना चलि आई ॥१॥

तब नृपगन-हिय हारि सिबिर दिसि-कौं मग ताके,
अरुन-उदय जिमि होत नखत सब मंद-प्रभा के ।
बिफल-मनोरथ, जबहिं इंदुमति कहँ नहिं पाये,
तब निज-जौवन-रूप-बिभव धिरकारि लजाये ॥२॥

पूजा-बिधि-वत भई तहाँ अमरेस-तिया की,
तबहिं स्वयंबर महिं विघ्न-बाधा नहिं व्यापी ।
रघुनन्दहिं निहारि तऊ नृपगन मन-माखे,
पै निज रोष दबाय कछू कटु बैन न भाखे ॥३॥

१—देवसेना स्वामिकार्तिक की पत्नी थी ।

३—शास्त्र का लेख है कि स्वयंवर में विघ्न करने वालों को इन्द्रानी नाश करती है ।

तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥४॥
ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु ।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥५॥
आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥६॥
प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव ।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥७॥

४—तब नई मंगल सामग्रियों से रचे हुए, इन्द्र धनुष की नाईं चमकते हुए तोरणों वाले, ध्वजाओं की छाया से मिटी हुई घाम वाले, राज मार्ग में दुलहिन सहित वह दूलह गया ।

५—उस समय उसके देखने की अभिलाषमती पुरवासिनियों की चेष्टा सोने की खिड़कियों के भवनों में और काम त्याग कर इस प्रकार की हुई ।

६—देखने के मार्ग को शीघ्र जाने वाली किसी एक ने डोरा खुले हुए माला गिराते हुए और हाथ में लिए हुए भी जूड़े के बाँधने की सुध वहाँ पहुँचने तक न ली ।

७—किसी मन्द गति त्यागती हुई ने नायन का थामा हुआ पाँव आला महावर लगा हुआ ही खेंचकर मार्ग को झरोखे तक लाख के रंग से रच दिया ।

तौ लगि श्री अज-कुँवर इन्दुमति कौं सँग लीन्हैं,
चरन-कमल धरि, वाहि राज-मारग मन दीन्हैं ।
पुहपनि-बन्दनबारि-धुजनि, जो सौध सजायौ,
मंगल-चिन्हनि-बलित, तहाँ आयौ मन-भायौ ॥४॥

उच्च-कलित-कलधौत-सौध-बातायन माहीं,
पुर-पुरंध्रि सब चलीं तिन्हैं अबलोकन काहीं ।
तिन-बनितनि-तनु-दसा कछू बरनी नहिं जाई,
त्यागि सकल-गृह-काज अजहिं देखन जे आईं ॥५॥

सहसा जात गवाख ओर प्रमदा एक बाँकी,
बिखरी सुमन-सुमाल बँधी बैंनी नहिं जाकी ।
लीन्हें केस-कलाप - पानि देखन कौं धाई,
बाँधन की सुधि नेकु नाहिं बाके हिय आई ॥६॥

काहू तिय पद-कंज-ललित नाइन-कर तैं ही,
लियौ खैंचि लगि रह्यौ रुई-जावक जेहि मैं ही ।
मंथर-गति कौं त्यागि तुरत खिरकी-दिसि धाई,
लाखारस के रुचिर भूमि पै चिन्ह बनाई ॥७॥

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ।।८।।
जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम् ।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ।।९।।
अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती ।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ।।१०।।
तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ।।११।।

८—दाहनी आँख को काजल से शोभित करके कोई उससे (अर्थात कज्जल से) सूनी बाँई आँख वाली हाथ में सलाई लिए हुए ऐसे ही झरोखे के निकट गई।

९—झरोखे के बीच में दीठ लगाई हुई कोई एक चलते में टूटी हुई नीबी को बाँध न सकी नाभि पर गहने की चमक डालते हुए हाथ से वस्त्र थाम कर ठैर गई।

१०—किसी शीघ्र उठने वाली की अध गूँथी तागड़ी उलटी सीधी चाल से पग पग पर गिरती हुई उस समय अँगूठे की जड़ पर बचे हुए डोरे वाली रह गई।

११—उन बड़े चाव वालियों के मुखों से, आसव की गंध वालों से चलायमान नेत्र रूपी भोरों वालों से, भरे हुए भरोखे कमलों से सजाए हुओं के समान हो गए।

दायें-लोचन माहिं बाल अंजनहिं लगाई,
बायें रंजन-काज सकल सुधि-बुधि बिसराई।
अजहिं बिलोकन-काज तुरत खिरकी-दिसि धाई,
लीन्हैं पंकज-पानि माहिं तिय सुघर सराई ।।८।।
हरबराय तिय एक चली खिरकी-दिसि ज्यौंहीं,
सत्वर-गति सौं खस्यौ नीबि-कौ बंधन त्यौंहीं ।
कर-कंजनि सौं दाबि बसन-बर रही सँभारी,
फबी नाभि लौं फैलि जासु भूषन-उजियारी ।।९।।
तगरी-पोहन-काज तगहि अँगुठा महँ बाँधी,
पोहि न पाई बाम गई रहि पै वह आधी ।
सहसा उठिकैं बाल आपु खिरकी-दिसि धाई,
रह्यौ सूत अवसेष गिरे मोतिया महिं आई ।।१०।।
बिकसे बनितन-बनज-बदन सोहत बातायन,
मनहुँ सहस-दल फूलि रहे तिन-दृग सुखदायन ।
निवसी आसव-गंधि रुचिर बगरत-चहुँ राजत,
लोचन-ललित-निमील-भ्रमरअवलीछबि-छाजत।।११।।

१०—अर्थात् मोती गिर पड़े केवल डोरा रह गया।

ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
तथाहि शेषेद्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥१२॥
स्थाने वृता भूपतिभिः परोक्षैः स्वयंवरं साधुममँस्त भोज्या ।
पद्मेव नारायणमन्यथासौ लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् ॥१३॥
परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ॥१४॥
रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथाहि बाला ।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम् ॥१५॥

१२—राघव को आँखों से पीती हुई स्त्रियों ने और इन्द्रियों का सुख न देखा क्योंकि उनकी और इन्द्रियों की वृत्ति मानो सब प्रकार आँखों में आ गई थी ।

१३—बिना देखे राजाओं की चाही हुई इन्दुमती ने स्वयंवर (कराना श्रेष्ठ माना, यह उचित था नहीं तो जैसे लक्ष्मी ने नारायण पाया वह अपने समान पति और भाँति कैसे पाती ?

१४—जो इस अति शोभायमान जोड़े को परस्पर न मिलाता तो प्रजापति का इन में रूप रचने का यत्न व्यर्थ होता ।

१५—निस्सन्देह ये रति मनोज के औतार हैं इसी से सहस्त्रों राजाओं में दुलहिन ने इस अपने ही समान को पाया, मन ही जन्मान्तर की संगति का जानने वाला होता है ।

सोभा अकथ अनूप रुचिर रघु-सुत-अज हेरी,
अन्य-इन्द्रियन-बिषय तज्यौ अबलनि बहुतेरी ।
या लगि उनकौ ध्यान गयौ अनतै कहुँ नाहीं,
रही सकल गो-बृत्ति सिमिट तिय-नैननि माहीं ॥१२॥
चाह्यौ भूप-सुतहिं सबै राजन बिनु देखे,
तऊ स्वयंबर भयौ उचित मानहुँ तेहि लेखे ।
जो न होति यह बात सुभग तेहि की मन-भावति,
सिंधु-सुता वह कहौं कंत हरि-सौं किमि पावति ॥१३॥
सब गुन-गौरब खानि मिलति नहिं जो यह जोरी,
बय-कुल-जोबन-सरिस प्रभा की रासि अथोरी ।
तौ सब-रूप-बिधान चतुर-चतुरानन केरौ,
होतौ अबसिहि ब्यर्थ, कौन करतौ निरबेरौ ?१४॥
ये रति - मनमथ हुते अबसि पहिलैं ही दोऊ,
या लगि निज अनुरूप लह्यौ तियनै पिय सोऊ ।
नहितौ नृपगन माहिं बाल कैसे तेहिं पावति,
पूर्व-जन्म-संबंध-बात मनमें गुनि आवति ॥१५॥'

इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।
उद्भासितं मङ्गलसंविधाभिः संबधिन्नः सद्म समाससाद ॥१६॥
ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥१७॥
महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥१८॥
दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥१९॥

१६—इस भाँति पुर की स्त्रियों के मुख से कही हुई कानों को सुख देने वाली कथा सुनता हुआ कुमार मंगल रचनाओं से शोभित किए हुए सम्बन्धी के घर में पहुँचा ।

१७—फिर वह कामरूप के राजा का हाथ पकड़ कर हथिनी से तुरन्त उतर विदर्भनाथ के दिखलाए हुए मन्दिर में गया, मानों स्त्रियों के मन में ।

१८—बड़े मोल के सिंघासन पर बैठकर उसने भोज का दिया हुआ मधुपर्क मिला हुआ रत्नों सहित अर्घ और कपड़े का जोड़ा स्त्रियों के कटाक्षों के साथ लिया ।

१९—उस मखतूली वस्त्र पहने हुए को चतुर द्वारपालों ने दुलहिन के समीप पहुँचाया, मानो चन्द्रमा की नई किरनों ने चमकते हुए फेन पंक्ति वाले समुद्र को तट के समीप ।

नगर-तियन-मुख-कमल सुनत बतियाँ सुखदानी,
लहत स्रवन-आनन्द सुधा-रस-सौ जनु सानी ।
तब 'अज'-राजकुमार मोद मन मैं बहु पायो,
मंगल-कलसनि-वलित भोज-नृप-मन्दिर आयो ।१६।।

दीन्ह्यौ तुरतहिं त्यागि मतंगिनि-रुचिर सवारी,
कामरूप-महिपाल - पानि - पंकज - कर धारी ।
भूप - भोज - संकेत पाय अंतःपुर माहीं,
कीन्ह्यौं मनहुँ प्रवेस, तियनि-उर अन्तर माहीं ।१७।।

राजत मंडप माहिं धर्‌यौ बहुमूल्य सिंघासन,
तहँ अज सोभित भयौ मारि अपनौं दृढ़ आसन ।
रत्न-अर्घ्य-मधु-पर्क-मिश्रित नृपभोज कौ दीन्ह्यौ,
कामिनि-कुटिल कटाच्छ सहित पट-दोउ अज लीन्ह्यौं ।।१८।।

येहि बिधि दिव्य दुकूल धरे रघु-सुत-अज काहीं,
सेवक-परम-बिनीत गये लै तब बधु पाहीं ।
ताकी उपमा कहत नाहिं मोपै बनि आवत,
जनु बेला-दिसि चंद-किरन सिंधुहि पहुँचावत ।।१९।।

तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः ।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये बधूवरौ संगमयांचकार ॥२०॥
हस्तेन हस्तं परिगृह्य बध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे ।
अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥२१॥
आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नांगुलिः संववृते कुमारी ।
तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥२२॥
तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्त्तितानि ।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥२३॥

२०—वहाँ भोजराज के पूज्यमान अग्नि तुल्य पुरोहित ने अग्नि को घी इत्यादि की आहुति देकर और उसी को विवाह साक्षी करके वर कन्या को मिलाया, (अर्थात गठ जोड़ा किया) ।

२१—दुलहिन का हाथ हाथ में लेकर वह राजकुमार अधिक शोभायमान हुआ, जैसे निकट की अशोक लता के प्रवालों को डालियों से पकड़े हुए आम का वृक्ष ।

२२—दूलह का पहुँचा पुलकित दुलहिन की अँगुली पसीजी, उस छन मानो कामदेव ने अपना बर्ताव उन दोनों में तुल्य बाँट दिया ।

२३—कोयों तक फैली हुई, कामना की प्राप्ति से निवटी हुई, परस्पर की तृष्णावाली, उन दोनों की आँख लाज से सुन्दर संकोच को पहुँची ।

पूजनीय भोजाधिराज के तबहिं पुरोहित,
अनल-समान-प्रतापवान जजमान-निष्ठ-हित ।
करि प्रज्वलित कृषानु घृतादि-आहुतिहि दीन्ह्यौं,
साखी ताहि बनाय बधू-बर संगम कीन्ह्यौं ॥२०॥
पकरि बधू कौ पानि राजनन्दन निज कर सौं,
सोह्यौ एही भाँति, मनोहर अज-बर हरसौ ।
जिमि असोक-बल्लरी-कलित-किसलय सौं सरसे,
सोभित होत रसाल ताहि निज पल्लव परसे ॥२१॥
पुलकित भयौ प्रकोष्ठ, तबहिं नृप-सुत को सोई ।
राजसुता की आँगुरियाँ, सब स्वेद-समोई ।
निज चितबृत्तिहिं मनहुँ, आपु रतिनाथ नवीनी ।
ताखन करि सम-भाग, बाँटि दोहुनि महँ दीन्हीं ॥२२॥
फिर दोहुनि के नयन स्रवन कौं परसनि हारे ।
हिय-अभिलाष पुजाय, सकल चिन्ता निरवारे ।
अवलोकन की प्यास परसपर पै न बुझाई ।
अमित लाज-संकोच, रह्यौ तिन माहिं समाई ॥२३॥

२२—कामदेव का बर्ताव सात्विक भाव होता है जिसका गुण काँपना और पसीना आना इत्यादि है ।

प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥२४॥
नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥२५॥
हविःशमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः ।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥२६॥
तदञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्लानबीजाङ्कुरकर्णपूरम् ।
वधूमुखं पाटलगण्डलेखमाचारधूमग्रहणाद्बभूव ॥२७॥

२४—उठी हुई लौ की अग्नि की प्रदक्षिणा करने से वह जोड़ी शोभायमान हुई, जैसे सुमेरू के आस पास फिरते हुए एक दूसरे से बँधे हुए दिन रात।

२५—उस ब्रह्मा सदृश गुरू की आज्ञा की हुई, बड़े नितम्बों वाली, मत्त चकोर के से नेत्रों वाली, उस लज्जावती वधू ने अग्नि में अक्षत डाले।

२६—हव्य और शमी और अक्षत की सुगन्धि लिए हुए पवित्र धुआँ अग्नि से उठा वह कपोलों पर फैली हुई चोटी वाला छन मात्र उसके कानों को नील कमल बन गया।

२७—आचार का धुँआ लगने से उस दुलहिन का मुख कज्जल मिले हुए आँसुओं से चलायमान नेत्रों वाला, कुम्हलाए हुए जवांकुर के कर्ण फूलों वाला, लाल कपोलों वाला हुआ।

तहँ पावक प्रज्वलित चहूँ-दिसि ताके फेरी।
प्रमुदित भाँवरि - भरति बधू-वर दुंदहिं हेरी।
ताखन दम्पति-जुगल सुघर सोहत यहि भाँती।
मनहुँ मेरु चहुँ ओर फिरत सन्तत दिन-राती ॥२४॥

तब चतुरानन-सरिस स्वगुरु कौ आयसु पाई।
गुरु-नितम्ब के भार जासु गति सिथिल सुहाई।
सुखमा मत्त-चकोर नैन जाके दृग-छीनी।
डारि इन्दुमति 'लाज' तबै पावक महँ दीनी ॥२५॥

तब हवि-पल्लव-समी-लाज-गंधनि सौं रूरौ।
उठि कृसानु कौ धूम फैलि चारहुँ दिसि पूरौ।
फैली वाकी सिखा कुँवरि - गालनि लौं जाई।
रही नील-अरिबिन्द-सरिस स्रुति-निकट सुहाई ॥२६॥

लगे, ब्याह-संस्कार-धूम मुख-ऊपर छाये।
कज्जल-कलित सुनैन बारि बिलुलित ह्वै आये।
जब अंकुर के ललित-स्रवन - भूषण कुँमिलाये।
त्यौंही जुगल कपोल मंजु राते छबि छाये ॥२७॥

तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरंध्रिमिश्र क्रमशः प्रयुक्तम् ।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्रक्षितारोपणमन्वभूताम् ॥२८॥
इति स्वसुर्भाजकुलप्रदीपः संपाद्य पाणिग्रहणं स राजा ।
महीपतीनां पृथगर्हणार्थं समादिदेशाधिकृतानधिश्रीः ॥२९॥
लिङ्गैर्मुदः संवृतविक्रियास्ते ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः ।
वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाच्छलेन ॥३०॥
स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम् ।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानगजस्य तस्थौ ॥३१॥

२८—सोने के आसन पर बैठे हुए उन दूल्हा दुलहिन ने स्नातकों का और बान्धवों सहित राजा का और पति पुत्र वालियों का बारी बारी से आले धान बोना देखा ।

२९—इस प्रकार उस भोज कुल दीपक श्रीमान राजा ने बहन का ब्याह करके राजाओं में एक एक के आदर सत्कार निमित अधिकारियों को आज्ञा दी ।

३०—वे (राजा) छुपे हुए मगरों वाले निर्मल ताल की नाईं प्रसन्नता के चिन्हों से ईर्षा ढकते हुए विदर्भनाथ से पूछकर उसकी दी हुई वस्तुओं को भेंट के मिस से फेर कर चल दिए ।

३१—कार्य सिद्धि के निमित अच्छा दाव पाकर पहले सम्मति किया हुआ राजाओं का वह समूह, उस प्रमदा रूपी पदार्थ के छीनने का इच्छामान अज का मार्ग रोक के खड़ा हुआ ।

कनकासन-आसीन वधू-बर तबहिं सुहाये ।
कुलजन बोवत धान लखत तेहिं दीठ लगाये ।
प्रथम स्नातक बोये, बहुरि नृप अरु कुल-भाइन ।
सधवा बहुरि सुपुत्रवती बहु सुघर लुगाइन ॥२८॥
भोज-बंस-अवतंस-भूप यहि बिधि स- उछाहू ।
समारोह सौं अमित कियौ भगिनी कौ ब्याहू ।
बहुरि समागत अतिथि-नृपनि के आदर हेतू ।
सचिवन दीन्ह निदेस हरखि नरपति कुलकेतू ॥२९॥
कपट-नेह-दरसाय कुटिल निज भाव दुराये ।
छिपे नक्र-सर-सरिस मन्द - महिपाल सुहाये ।
पाय नरेस रजाय, भेंट-मिसु धन लौटाई ।
निज-निज देसन चले सकल पुनि साज सजाई ॥३०॥
तब नरपति समुदाय प्रथम जिन मत करि राख्यौ ।
अरु 'प्रमदामिष'-हरन-हेतु निज मन अभिलाख्यौ ।
या बिधि कारज-सिद्धि-काज अतिसय हिय दाढ़े ।
अज-मारग अवरोधि सबै पथ मैं मिलि ठाढ़े ॥३१॥

२८—स्नातक उस गृहस्थी को कहते हैं जो थोड़े ही दिन से गृहस्थ आश्रम में आया हो ।

भर्त्तापि तावत्क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः ।
सत्वानुरूपाहरणीकुतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥३२॥
तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुषित्वा ।
तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥३३॥
प्रमन्वयः प्रागपि कोशलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः ।
अतो नृपाश्चक्षमिरे समेताः स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य ॥३४॥
तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः स दृप्तः ।
बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः ॥३५॥

३२—तब क्रथकौशिक देशों के स्वामी (भोज) ने पीठ पर की बहन का ब्याह समाप्त किये हुए ने, उत्साह के अनुसार दायजे में लक्ष्मी दिये हुए ने, भी राघव को विदा किया और आप पीछे गया।

३३—तीन लोक में जाने हुए अज के साथ मार्ग में तीन रात बस कर कुंडिनपुर का नाथ उससे लौटा, मानों अमावस के अन्त में सूर्य से चन्द्रमा।

३४—कौशलेश (रघु) में पहले ही एक एक राजा धन छिन जाने के कारण वैर मानता था इसलिये सब मिलकर उसके पुत्र का स्त्रीरत्न पाना न सह सके।

३५—उस गर्वित राज समाज ने भोज कन्या को लिए जाता हुआ वह रोका, जैसे इन्द्र शत्रु ने बलि की दी हुई लक्ष्मी को हरता हुआ बावन का पाँव।

इमि बिदर्भ नरनाह ब्याह भगिनी कौ कीन्ह्यौ ।
औ' दहेज हू जथा जोग रघु-पूतहिं दीन्ह्यौ ।
तिनहिं पठावन-काज आपु पुर-बाहिर आयौ ।
करि भगिनी की बिदा,भूप तिन संग सिधायौ ॥३२॥
बिस्व-बिदित रघु-सुवन संग अतिसै सुख पाई ।
आपु बिदर्भ-नरेस-निवसि-त्रय-राति बिताई ।
इमि तिनकौं पहुँचाइ आपु मग तै फिरि आयौ ।
जिमि मावस-अवसान सोम, रवि सौं बिलगायौ ॥३३॥
कौसल पति-रघु-सौं जो भूप पहिलेहिं हे हारे ।
या लगि बैर अपार हुते तेहिं के प्रति धारे ।
अब अवसर अनुकूल पाय क्रोधित मन माहीं ।
ता-सुत-तिय-धन-लाभ सके कैसेहुँ सहि नाहीं ॥३४॥
लीन्हैं राजसुताहि जात अपने संग माहीं ।
दरपित राज-समूह रोकि ठाढ़्यौं अज काहीं ।
जिमि बावन पग-बढ़त इन्द्र-अरि हुतो निवार्‌यौ ।
जिनबलि कौ सब-हरन-काज निजहीय बिचार्‌यौ ॥३५॥

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः ।
प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरंगः ॥३६॥
पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढम् ।
यन्ता गजस्याभ्यपतद्गजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम् ॥३७॥
नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान् ।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः ॥३८॥
उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः सान्द्रीकृतः स्यन्दनवंशचक्रैः ।
विस्तारितः कुञ्जरकर्णतालैर्नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्यम् ॥३९॥

३६—उस (इन्दुमती) की रक्षा के लिए बहुत योद्धाओं सहित बाप के मन्त्री को आज्ञा देकर उस कुमार ने राजाओं की वह सेना रोकी, मानो बढ़ी हुई तरंग वाले सोनभद्र ने भागीरथी ।

३७—पैदल से इस भाँति पैदल, रथों से रथी, घुड़ चढ़े से घुड़ चढ़ा, हाथी चढ़े से हाथी चढ़ा भिड़ा, तुल्य जोड़ों का युद्ध हुआ ।

३८—ध्वनि करती हुई तुरहियों में बोली न समझे हुए धनुषधारियों ने कुल के नाम उच्चारण न किए; वाणों के अक्षरों ही से एक ने दूसरे का (अपना) विख्यात नाम जताया ।

३९—युद्ध में घोड़ों की उठाई हुई रथ समूह के पहियों की गहरी की हुई हाथियों के कर्ण तालों की फैलाई हुई धूल ने सूरज कपड़े की नाईं ढक दिया ।

सचिव-सुभट रखि कुँवर, इन्दुमति-रच्छन हेतू ।
अजहु चले लै सैन, नृपन-दलिबे रनखेतू ।
बढ़ि आगे गहि चाप सकल-नृप-सैनहिं साध्यौ ।
तुंग तरंगित-सोनभद्र जिमि गंगहिं बाध्यौ ॥३६॥

तहँ पदचर करि कोप पदातिन प्रबिसि प्रचार्यौ ।
तथा रथी-रथवन्तहिं सौं रन-करन बिचार्यौ ।
गजारूढ़ ललकारि लरे गजारूढ़नि कौं हीं ।
त्यौं चंचल-गति लरे सवार, सवारनि सौंहीं ॥३७॥

बाजत अनगिन तूर कढ़त जिनसौं रव भारी ।
कहि न सके कुल नाम किते अपनौं धनुधारी ।
पै सहि बिसिष-अघात कछू निज मन अनुमानी ।
प्रतिबीरनि कौं नाम सके या बिधि सौं जानीं ॥३८॥

हय-टापनि महिं-खोदि दई बहु रेनु उड़ाई ।
घनीभूत सो भई पाय रथ-चक्र सहाई ।
छाई, गजन के कान–हिलत सौं जो नभ माहीं ।
लियौ ढाँकि पट-सरिस फैलि रवि बिम्बहिं काहीं ॥३९॥

मत्स्यध्वजा वायुवशाद्विदीर्णैर्मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि ।
बभुः पिबन्तः परमार्थमत्स्याः पर्याविलानीव नवोदकानि ॥४०॥
रथो रथाङ्गध्वनिना विजज्ञे विलोलघण्टाक्वणितेन नागः ।
स्वभर्तृनामग्रहणाद्बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः ॥४१॥
आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य ।
शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा बालारुणोऽभूद्रुधिरप्रबाहः ॥४२॥
स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः ।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाबभासे ॥४३॥

४०—मत्स्याकार धुजाओं ने पवन के खोले हुए मुखों से सेना की गहरी रज पीते हुए शोभा पाई, मानो सच्ची मछलियों ने नया गदला जल पीते हुए ।

४१—पहियों की ध्वनि से रथ जाना गया, हिलते हुए घण्टे के टहनाने से हाथी, गहरी धूल में अपने पराए का बोध स्वामी का नाम लेने से हुआ ।

४२—युद्ध में नेत्रों का मार्ग रोकने वाली फैली हुई धूल के अँधेरे को शस्त्रों से छिदे हुए घोड़ों और हाथियों और बीरों के लोहू का प्रवाह सवेरे का सूरज बना ।

४३—लोहू से जड़ कटी हुई वह धूल उसी के ऊपर पवन से हिलती हुई (ऐसे) दिखलाई दी मानो अंगार मात्र बची हुई आग के ऊपर आगे उठा हुआ धुआँ ।

तहाँ मत्स्य इव धुजा बायु-गति निज-मुख बाये ।
सैन-बेग सौं उड़त रेनु कौं गहत सुहाये ।
मनु प्रतच्छ ही मच्छ-निकर पैरत सरि माहीं ।
मटमैले जल काहिं पिवत चहुँ ओर लखाहीं ॥४०॥
भई सघन रज-रासि परत कछुहू नहिं सूझी ।
निज पराय कौ भेद जात कैसेहु नहिं बूझी ।
स्यन्दन-रव सौं रथहिं, हलत घंटनि सौं हाथिहिं ।
स्वामि-नाम-उच्चारन सौं जानहिं तिमि साथिहिं ॥४१॥
अस्त्र घात-रन-परे सुभट-गज-बाजिन केरौ ।
निसरौ रुधिर-प्रवाह चलौ बहि जो बहुतेरौ ।
लोचन-मग-अवरोधि-रेनु तिन कौ बल पाई ।
प्रात-काल-नव-भानु मनहुँ सोइ पर्‌यौ लखाई ॥४२॥
तहाँ रुधिर सौं बलित अवनि-मंडल इमि राजै ।
मनु फैलो अंगार भूमि-तल पै छबि छाजै ।
पवन-प्रकम्पित-रेनु जबै तहि पै उड़ि आवत ।
तबै हुतासन उठयौ धूम-लौं सो उठि धावत ॥४३॥

४३—जड़ कटी हुई अर्थात् जहाँ पृथ्वी पर लोहू गिरा वहाँ धूल का उठना मिट गया उसी लोहू पर छाई धूल ऐसी दीखी मानों अँगार पर धुआँ ।

प्रहारमूर्च्छापगमे रथस्था यन्तृनुपालभ्य निवर्तिताश्नान् ।
यैः सादिता लक्षितपूर्वकेतूँस्तानेव सामर्षतया निजघ्नुः ॥४४॥
अप्यर्धमार्गे परबाणलूना धनुर्भृतां हस्तवतां पृषत्काः ।
संप्रापुरेवात्मजवानुवृत्त्या पूर्वार्धभागैः फलिभिः शरव्यम् ॥४५॥
आधोरणानां गजसंनिपाते शिरांसि चक्रैर्निशितैः क्षुराग्रैः ।
हृतान्यपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः ॥४६॥
पूर्वं प्रहर्ता न जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी ।
तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकाङ्क्ष ॥४७॥

४४—प्रहार की मूर्च्छा मिटने पर रथियों ने घोड़े हटा ले जाने वाले सारथियों को धिक्कार देकर जिन्होंने प्रहार किया था उन्हीं को पहले देखी हुई ध्वजाओं से चीन्ह कर रोस से मारा ।

४५—निपुण धनुषधारियों के बाण आधे मार्ग में बैरियों के बाणों से कटे हुए भी अपने बेग की गति के कारण भाल वाले अगले आधे भाग से बेझे ही पर पहुँचे ।

४६—गज युद्ध में हाथी पर चढ़ने वालों के सिर छुरे के समान पैनी धार के चक्रों से कटे हुए भी चील्हों के नखों में केश फंस कर बहुत देर में गिरे ।

४७—पहले प्रहार किए घुड़चढ़े ने प्रहार करने में असमर्थ बैरी को, घोड़े के कंधे पर देह रक्खे हुए को, फिर न मारा उसके जीने की आकांक्षा की ।

आयुध-छत कोऊ बीर जबै मूर्छागत भयऊ ।
निज सूतहिं धिरकारि फेरि जेहिं बाजिन दयऊ ।
रथ-केतुहिं पहिंचानि रोष सौं ताहि प्रचारी ।
बहुरि लौटि इमि ताहि हत्यौ करि-रन-भयकारी ॥४४॥
प्रतिभट कोऊ बीर कोप करि बिसिष प्रहार्‌यौ ।
पै तिन निज सर छाँड़ि काटि तेहिं बीचहिं डार्‌यौ ।
बिपुल बेग सौं तदपि बान फल ही उड़ि जाई ।
अरि-तन कौं छत कियौ, भई इमि घोर लराई ॥४५॥
गजारूढ़-प्रतिभरन बीच भई घोर लराई ।
छुराधार इव-निसित चक्र सिर-धर बिलगाई ।
पै कच निज-नख दाबि सेन ऊपर लै भागे ।
या लगि विपुल विलम्ब अवनि आवन मैं लागे ॥४६॥
मूर्छित भयौ सवार अस्त्र यहि भाँति प्रहार्‌यौ ।
पै तेहि पै प्रति-बीर भूलि आयुध नहिं डार्‌यौ ।
पर्‌यौ तुरँग की पीठि, घाय-घालन-बल नाहीं ।
बहुरि लेय यह स्वाँस चह्यौ याही मन माहीं ॥४७॥

४४—सारथी का धर्म है कि जब रथी घायल हो, उसे रथ में घोड़ों समेत युद्ध से बाहर ले जाय ।

तनुत्यजां वर्मभृतां त्रिकोर्बृशैहत्सु दन्तेष्वसिभिः पतद्भिः ।
उद्यन्तमग्निं शमयांबभूवुर्गजा विविग्नाः करशीकरेण ॥४८॥
शिलीमुखोत्कृत्तशिरः फलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव ।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः ॥४९॥
उपान्तयोर्निष्कुषितं विहंगैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि ।
केयूरकोटिक्षततालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार ॥५०॥
कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य ।
वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श ॥५१॥

४८—तन के निस्पृही कबचधारियों के नगे खड्गों के बड़े दाँतों में लगने से उठी हुई आग भय-भीत हाथियों ने सूँड के जल से बुझाई ।

४९—बाणों से कटे हुए सीसरुपी फलों वाली, गिरे हुए टोपों रूपी कटोरे आगे रक्खी हुई, लोहू रूपी मदिरा की नदी वाली, रनभूमि मृत्यु की पान भूमि के समान दीखी ।

५०—दोनों सिरों पर पक्षियों का कुरेदा हुआ बाँह का टुकड़ा उन्हीं (पक्षियों) से गिरवा कर भुजबन्द की नोक से तालू की छिदी हुई मास की लोभिन स्यारनी ने भी छोड़ दिया ।

५१—बैरी के खड्ग से किसी सिर कटे हुए ने, तुरन्त देवता पन पाकर बाएँ अँग में सुरांगना लिए हुए ने, रन में अपना नाचता हुआ धड़ देखा ।

तन कौ, तनिक न लोभ कबच दृढ़ गातन धारै ।
तमकि कठिन करबाल दोह गज-दंत प्रहारैं ।
तिन के लगतै प्रबल-ज्वाल-माल-रन छाई ।
करि-कर-सलिल गिराय दियौ पुनि ताहि बुझाई ॥४८॥
सर-काटे-सिर जहाँ-तहाँ फल मनहुँ लखाहीं ।
त्यौं उलटे-सिर-त्रान चषक-सम कहुँ दरसाहीं ।
स्रोनित-महा-प्रवाह, जहाँ सरि-सरिस सुहाई ।
रन-छिति हीं जनु पान-भूमि की बनि आई ॥४९॥
छिन्न कोऊ भुज दण्ड पर्‌यौ पच्छिन सौं खायौ,
तेहिं नभ-पथ लै जाय मही-दिसि बहुरि गिरायौ ।
पुनि तेहि छन एक सिवा मुदित मन भच्छन कीन्ह्यौं ।
छिद्‌यौ तालु-भुज-बन्द-कोटि तबही तजि दीन्ह्यौं॥५०॥
कट्‌यौ कठिन-करबाल सीस काहू कौ सोह्‌यौ ।
सुर-बिमान पै जाय तुरत सोइ भट अवरोह्‌यौ ।
देवांगनैं दिसि-वाम कियैं अतिसय अनुराग्यौ ।
नाचत अबनि कबन्ध आपनौं देखन लाग्यौ ॥५१॥

४९—सीस हैं सोई नारंगी इत्यादि फल हैं, टोप है सोई प्याले हैं, लोहु की नदी है सोई मदिरा है, ऐसी रन भूमि, मृत्यु की मदिरा पीने की भूमि के समान दिखलाई दी ।

अन्योन्यसूतोन्मथनादभूतां तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित् ।
व्यश्वौ गदाव्यायतसंप्रहारौ भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ ॥५२॥
परस्परेण क्षतयोः प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तवाय्वोः समकालमेव ।
अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरःप्रार्थितयोर्विवादः ॥५३॥
व्यूहावुभौ तावितरेतरस्माद्भङ्गं जयं चापतुरव्यवस्थम् ।
पश्चात्पुरोमारुतयोः प्रवृद्धौ पर्यायवृत्त्येव महार्णवोर्मी ॥५४॥
परेण भग्नेऽपि बले महौजा ययावजः प्रत्यरिसैन्यमेव ।
धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत एव वह्निः ॥५५॥

५२—कोई दो (योद्धा) परस्पर सारथियों के मारे जाने से आप ही रथी और सारथी बने, घोड़ों के बिना रह कर बड़ी गदाओं से लड़े, हथ्यार टूट जाने पर बाँह युद्ध करते हुए मरे ।

५३—आपस में प्रहार करके कटे हुए, एक साथ प्रान छोड़े हुए, एक ही अपसरा में चाह रखते हुए, किन्हीं दो योद्धाओं का विवाद देवतापन में भी हुआ ।

५४—उन दोनों सेनाओं ने एक दूसरों से अनिश्चय जीत और हार पाई, जैसे बारी बारी से आगे पीछे की पवन की बढ़ाई हुई महासमुद्र की दो लहरों ने ।

५५—बैरी का सेना भंग किया हुआ भी महाबली अज बैरी की सेना ही की ओर गया । धुँआ पवन से हट जाता है (परन्तु) अग्नि जहाँ काठ है वहाँ (जाती) है ।

निधन दुहुन के सूत, बनैं सारथि पुनि दोऊ ।
बहुरि महारथि बनैं समर कीन्हैं पुनि सोऊ ।
गिरे जबहिं दोऊ वाजि तबहि तिन गदा सँभारी ।
भग्न-अस्त्र, करि मल्ल युद्ध दोऊ गिरे पछारी ॥५२॥

करि द्वै बीरन जुद्ध, प्रान एकहिं सँग त्यागे ।
लह्यौ दुहुँन देवत्व अतिहि हिय मैं अनुरागे ।
पै एकहि अपछरा माहिं दोउ प्रीति दृढ़ाये ।
लागे करन बिबाद अमित मन रोष बढ़ाये ॥५३॥

प्रथम दियौ अज बीर सत्रु-सैनाहिं भजाई ।
दीन्ह्यौं कौसल वीर बहुरि अरिदल बिचलाई ।
पाय पवन कौ बेग सिन्धु-जुग-बीचि सुहाई ।
कहुँ आगैं बढ़ि चलत, कबहुँ पाछैं फिरि आई ॥५४॥

जदपि बिरोधी-अरिन, सैन अज की मथि डारी ।
तदपि महाबल बढ़्यौ आपु रिपु ओर अगारी ।
प्रबल-प्रभंजन देत धूम कौ पुंज हटाई ।
होत जहाँ तृन-रासि अनल उतही चलि जाई ॥५५॥

रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान्दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः ।
निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भ ॥५६॥
स दक्षिणं तूणमुखेन वामं व्यापारयन्हस्तमलक्ष्यताजौ ।
आकर्णकृष्टा सकृदस्य यौद्धुर्मौर्वीव बाणान्सुषुवे रिपुघ्नान् ॥५७॥
स रोषदष्टाधिकलोहितौष्ठैर्व्यक्तोर्ध्वरेखा भ्रुकुटीर्वहद्भिः ।
तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुंकारगर्भैर्द्विषतां शिरोभिः ॥५८॥
सर्वैर्बलाङ्गैर्द्विरदप्रधानैः सर्वायुधैः कङ्कटभेदिभिश्च ।
सर्वप्रयत्नेन च भूमिपालास्तस्मिन्प्रहह्रुर्युधि सर्व एव ॥५९॥

५६—रथ पर चढ़े हुए, निषंग लिये हुए, कवच पहने हुए, धनुष धरे हुए, उस अकेले गर्वित वीर ने राजाओं का समूह हटाया, जैसे कल्प के अन्त में समुद्र का उठा हुआ जल महा वराह ने ।

५७—वह युद्ध में निषंग के मुख पर सुन्दर दाहिना हाथ रखता हुआ दिखलाई दिया, एक बार कान तक खेंची हुई उस योद्धा की प्रतिचा ने मानों बैरियों के मारने वाले बाण उत्पन्न किए ।

५८—उसने बैरियों के सीसों से, रोस करके दाँतों के चाबे हुए अधिक लाल होठ वालों से, उठी हुई प्रगट ऊर्ध रेखा सहित भोंह वालों से, भाल से गला कटे हुओं से, हुँकार करते हुओं से, पृथ्वी ढक दी ।

५९—जिन में हाथी मुख्य हैं ऐसे सेना के सब अंगों से कवच छेदने वाले सब हथ्यारों से और सब यत्नों से सब ही राजाओं ने उस पर लड़ाई के प्रहार किए ।

काछैं पीठ निषंग कवच दृढ़ गात सजाये ।
दरपित राजकुमार चौपि कर चाप चढ़ाये ।
जैसे महा-बराह सिन्धु जल-प्रलय निवार्‌यौ ।
तिमि इकलेहि अज-कुंवर सकल अरि सैनहिं टार्‌यौ ॥५६॥
धारैं दच्छिन-बाहु तून-मुख पै अज राज्यौ ।
तजत नराच-समूह समर-सिर पै छबि छाज्यौ ।
खिच्यौ स्रवन लौं चण्ड चाप इमि परत लखाई ।
जनु अरि-मारन-हार-बान-मौरवि उपजाई ॥५७॥
कियैं अरुन अति अधर, कोपि निज दसन चबाई ।
सिंघनाद सौं भौंह - रेख - ऊरध दरसाई ।
अरि-सीसन येहि भाँति भलुक बानन सौं काटी ।
दीन्हीं अज छन माहिं अखिल अवनीतर पाटी ॥५८॥
सकल मतंग-समूह बाजि की राजि चढ़ाई ।
तथा रथिन कौ ब्यूह दियौ अज और बढ़ाई ।
कबच-बिदारन-हार अस्त्र-चय-बिपुल चलाई ।
पचि हारे सब भूप सके नहिं तेहिं बिचलाई ॥५९॥

सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथः परेषां ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्यः ।
नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किंचित्प्रकाशेन विवस्वतेव ॥६०॥
प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनुः ।
गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः ॥६१॥
ततो धनुष्कर्षणगूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम् ।
तस्थौ ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥६२॥
ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः ।
तेन स्वहस्तार्जितमेकवीरः पिबन्यशो मूर्तमिवाबभासे ॥६३॥

६०—बैरियों के अस्त्रपुंज से ढके हुए रथवाला वह केवल ध्वजा के अगले भाग से जाना जाता था, जैसे कुछ चमकते हुए सूरज से कुहर में डूबा हुआ प्रभात ।

६१—(निदान) उस महाराज कुमार ने, कामदेव की कान्ति वाले ने, निद्रा छोड़े हुए ने, प्रियंवद से पाया हुआ निद्रा उपजाने वाला गन्धर्वी अस्त्र राजाओं पर छोड़ा ।

६२—तब धनुष खेंचने में सिथिल हाथों वाली, एक कंधे पर पगड़ियों के पेच पड़ी हुई, ध्वजा के बाँसों से शरीर लगाई हुई, राजाओं की सेना निद्रा के बस खड़ी रह गई ।

६३—फिर प्यारी के रस लिए हुए होठों पर रखकर कुमार ने शंख फूँका, जिससे अकेला वीर अपने हाथों प्राप्त किया हुआ मूर्तिमान यश पीता हुआ सा दिखलाई दिया ।

दीन्ह्यौं सरनि-प्रहारि अरिन अज कौ रथ ढाँकी ।
पहिचान्यौं तेहि तबहुँ धुजा वाकी लखि बाँकी ।
जिमि नीहार-निमग्न प्रात शुभ कला बिहाई ।
रंचक भानु-प्रकास पाय सो परत लखाई ॥६०॥

मार-लजावनहार कुँवर अज, उठि जनु जाग्यौ ।
निज गंधर्व-सु अस्त्र अरिन-दिसि डारन लाग्यौ ।
जाहि प्रियम्बद दियौ जबहिं अज ताहिं हरायौ ।
याके प्रबल प्रभाव सकल रिपु-चमुहिं सोवायौ ॥६१॥

खैंचत कोउ कोदंड स्रमित-भुज पर्‌यौ लखाई ।
पाग पेंच खसि पर्‌यौ काहु कंधन पै आई ।
टेकी काहू देह धुजा-दंडहि सौं आनी ।
यौं निद्रा-बस सिथिल सकल अरिसैन लखानी ॥६२॥

तब निज अधरन धारि कम्बु कहँ कुँवर बजायौ ।
जासु सुधा-रस-स्वाद प्रिया अबलौं नहिं पायौ ।
रघु-सुत-अज, तेहिं काल सबन येहि भाँति लखानौं ।
निज-भुज-अर्जित-मूर्तिमान-जस पीवत मानौं ॥६३॥

शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः ।
निमीलितानामिव पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम् ॥६४॥
सशोणितैस्तेन शिलीमुखाग्रैर्निक्षेपिताः केतुषु पार्थिवानाम् ।
यशो हृतं संप्रति राघवेण न जीवितं वः कृपयेति वर्णाः ॥६५॥
स चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः ।
ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुर्भीतां प्रियामेत्य वचो बभाषे ॥६६॥
इतः परानर्भकहार्यशस्त्रान्वैदर्भि पश्यानुमता मयासि ।
एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः ॥६७॥

६४—शंख ध्वनि की पहचान से लौटकर आए हुए उसके योद्धाओं ने वह सोते हुए बैरियों वाला देखा, मानो मुँदे हुए कमलों के बीच में प्रकाशमान चन्द्रविम्ब ।

६५—अब तुम्हारा यश रघु के पुत्र ने ले लिया दया करके जीव नहीं लिया, ये अक्षर उसने लोहू भरे मुख वाले बाणों की नोक से राजाओं की ध्वजाओं में लिख दिए ।

६६—वह धनुष की नोक पर एक हाथ रक्खे हुए, पगड़ी उतारने से ढीले जूड़े वाला, माथे पर पसीने की बूँद जमा हुआ, डरी हुई प्यारी के पास जाकर वचन बोला ।

६७—हे वैदर्भी ! मैंने तुझे आज्ञा दी अब तू बालकों के छीनने योग्य हथ्यारों वाले बैरियों को देख, ये इस प्रकार की युद्ध चेष्टा से तुझ मेरे हाथ लगी हुई को चाहते हैं ।

सुनत संख-धुनि-रुचिर प्रबल तहँ कौसल - बीरन ।
लौटि लख्यौ तिन अजहिं हन्यौं जिन रिपु-रन-धीरन ।
राजत राज-कुँवार सन्न-अरिदल महँ कैसे ।
सोम-बिम्ब-कर लसत बंद-कमलनि महँ जैसे ॥६४॥

"जद्यपि राजकुमार सकल तुम्हरौ जसु छीन्यौं ।
पै करि कृपा अपार प्रानधन कौं नहिं लीन्ह्यौं ।
भूप-धुजन पै सर-फलकनि, अरि-स्रोनित बोरी ।
लिखी मनहुँ निज बिजय भूप तिनु के चहुँ ओरी ॥६५॥

चंड-चाप अज-कुँवर बाम-भुज माहिं लसाये ।
बिखरे केस-कलाप कछु सिर-पैंच हटाये ।
औं' स्रम-सीकर-ललित-भाल जिनके ढूरि आये ।
जाय प्रिया ढिग तिन, तेहिकौं यौं बचन सुनाये ॥६६॥

"मेरौ मानि निदेस राज-नन्दनि ! सुकुमारी ।
निज नैननि सौं लेहु क्यौं न आरिसैन निहारी ।
बालक हू अब सकत छीनि आयुध इन केरे ।
यहि बल पावन चह्यौ तोहिं, जो कर-गत मेरे ॥६७॥"

तस्याः प्रतिद्वन्द्विभवाद्विषादात्सद्यो विमुक्तं मुखमाबभासे ।
निःश्वासवाष्पापगमात्प्रपन्नः प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः ।।६८।।

हृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद्वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत् ।
स्थली नवाम्भःपृषताभिवृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम् ।।६९।।

इति शिरसि स वामं पादमाधाय राज्ञामुदवहदनवद्यां तामवद्यादपेतः ।
रथतुरगरजोभिस्तस्य रूक्षालकाग्रा समरविजयलक्ष्मीः सैव मूर्त्ता बभूव ।।७०

प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं विजयिनमभिनन्द्य श्लाध्यजायासमेतम् ।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गेत्सुकोभूत् न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय ।।७१।।

६८—बैरियों के डर के दुःख से छुटा हुआ उसका मुख तुरन्त कान्तिमान हुआ, जैसे स्वास की भाप के पुछ जाने से अपनी निर्मलता पाया हुआ दर्पण ।

६९—प्रसन्न होकर भी उस लाज की जीती हुई ने प्यारे को स्पष्ट नहीं सराहा सखियों की वाणी से सराहा, जैसे नए जल की बूँदों से छिड़की हुई भूमि ने मेघ समूह को मोरों के शब्दों से ।

७०—इस प्रकार राजाओं के सिर पर बायाँ पैर रखकर वह निर्दोषी उस दोष रहित को ले गया, उसके रथी और घोड़ों की धूल से रूखें केशों वाली वही रण की मूर्तिमान विजय लक्ष्मी हुई ।

७१—आगे ही वृतान्त सुने हुए रघु ने अच्छी बधू समेत निकट आए हुए विजई को सराह कर (और) उसको कुटुम्ब सौंप कर शान्ति मार्ग चाहा । कुल का बोझ उठाने वाले (पुत्र) के होते हुए सूरजवंशी ग्रहस्थ आश्रम के लिये नहीं होते हैं ।

तबहिं प्रिया-बिधु-बदन बैरि-बाधा सौं छूट्यौ ।
ताखन या बिधि लस्यौ सकल सुखमा सौं जूट्यौ ।
मंजु मुकुर जिमि स्वास-भाप सौ लहि मलिनाई ।
पौंछत ही पुनि तुरत बहुत उजरौ ह्वै जाई ।।६८।।
बिजित-लाज सौं मुदित जदपि वह राजकुमारी ।
पिय समुहैं नहिं सकी आपु मुख बैन उचारी ।
तऊ अभिनन्दन निज सखि मुख सौं यौं करवायौ ।
नव-जल-सिंचित-अवनि, घनहिं केका ज्यौं सुनायौ ।।६९।।
या बिधि सील सनेह बिमल वर राजकुमारी ।
लै आयौ अज संग, सत्रु - सिर - चरन - प्रहारी ।
रथ - हय - टापनि- रेनु - रूखि - अलकावलि जाकी ।
समर-बिजय जनु मूर्ति-मती मंजुल कमला की ।।७०।।

सवैया

बैठें बिजै समाचार सबै, प्रथमैं-जिन-भूपति नैं सुनि लीन्ह्यौं ।
ता बिजयी निज पूत-बधूटी कौं, है उन नैं अभिनन्दन कीन्ह्यौं ।
सौंपि कुटुम्ब कौं भारि सबै तेहिं, आपु-निबृत्ति कौ मारग चीन्ह्यौं ।
पाये समर्थ-सुपूत काहू रघुबंसी नहीं गृह मैं मनु दीन्ह्यौं ।।७१।।

॥ अष्टमः सर्गः ॥

अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः ।
बसुधामपि हस्तगामिनीमकरोदिन्दुमतीमिवापराम् ॥१॥
दुरितैरपि कर्तुमात्मसात्प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत् ।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया ॥२॥
अनुभूय वशिष्ठसंभृतैः सलिलैस्तेन सहाभिषेचनम् ।
विशदोच्छ्वसितेन मेदिनी कथयामास कृतार्थतामिव ॥३॥

आठवाँ सर्ग

१—तब राजा ने उस सुन्दर विवाह कंकण पहने हुए ही को पृथ्वी भी दूसरी इन्दुमती की नाईं हस्तगत कर दी ।

२—जिसको अपनी करने के लिये राजपुत्र बुरे उपायों से भी यत्न करते हैं सो आप सामने आई हुई अज ने इसलिये अंगीकार की कि पिता की आज्ञा है न कि भोग की तृष्णा से ।

३—वसिष्ठ के पवित्र जलों से उसके साथ अभिषेक पाकर पृथ्वी ने मानो उज्ज्वल भाप से (अपना) कृतार्थ पन बताया ।

आठवाँ सर्ग

शोभन*

धरैं-ललित-बिबाह-कंकन-सुतहिं अति सुख पाय ।
दई दूजी इन्दुमति-लौं अवनि, नृपति गहाय ।
जाहि पावन-हेतु नृप-सुत करत बिबिधि-उपाय ।
मानि पितु-बच तेहिं लई अज भोग-लोभ बिहाय ॥१-२॥
तबहिं गुरु-सम्भृत-सलिल-अभिषेक अज, अनुभाय ।
भई कृतारथ मनु अवनि उच्छ्वास बिसद दिखाय ॥३॥

१—हस्त गत=हाथ आई अथवा प्राप्त ।

* 'शोभन' और 'रूपमाला' दोनों ही मात्रिक सम-छन्दों में—१४,१० के विराम से २४ मात्राएँ रहती हैं । अंतर केवल इतना ही है कि प्रथम के चरणान्त में जगण (। ऽ ।) के रूप में वर्ण रहते हैं । यथा - पद्य (१) में 'गहाय, उपाय' आदि । और दूसरे के चरणांत में तगण (ऽ ऽ ।) के रूप में वर्ण रहते हैं । यथा - पद्य (३) में – तीसरे चरण के अंत में 'सोभावान' के 'भावान' वर्णों में (ऽ ऽ ।) के रूप में वर्ण हैं ।

जहाँ दोनों ही छन्दों—'शोभन' और 'रूपमाला' - का मिश्रित प्रयोग होता है, वहाँ उसे 'उपजाति रूपमाला' संज्ञा दी जाती है और जहाँ चारों चरणों में एक ही छन्द के चरणांत वर्ण रहते हैं, उसे वही नाम दिया जाता है ।

उपर्युक्त पद्यों के जहाँ चारों चरणों के चरणान्त वर्ण समान हैं, वहाँ वही नाम दिया गया है, यथा, पहिले दूसरे छन्द का नाम 'शोभन' और तीसरे-चौथे-पाँचवें का 'उपजाति रूपमाला' । यही नियम इस सर्ग में इन दोनों पदों के नामों में बरता गया है ।

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः ।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥४॥
रघुमेव निवृत्तयौवनं तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः ।
स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान्गुणानपि ॥५॥
अधिकं शुशुभे शुभं युना द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम् ।
पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम् ॥६॥
सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति ।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥७॥
अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ॥८॥

४—अथर्व वेद जानने वाले गुरु का अभिषेक कराया हुआ वह बैरियों को अजित हुआ, ब्रह्म तेज सहित जो छत्री तेज है यही अग्नि पवन का संयोग है ।

५—प्रजा ने उस नए राजा को यौवन लौटा हुआ रघु ही माना, क्योंकि उसने केवल उसकी लक्ष्मी ही नहीं सब गुण भी लिये थे ।

६—अच्छे जोड़े के संग से दो ही अधिक शोभायमान हुए, अज के संग से बाप दादे की पदवी और उसकी नम्रता के संग से नया यौवन ।

७—"बलात्कार से यह डर जायगी" इसलिये उस बड़ी भुजा वाले ने नई पाई हुई पृथ्वी नवोढ़ा वधू की नाईं दया से भोगी ।

८—"राजा का प्यारा में ही हूँ" । ऐसा प्रजा मैं सबने जाना, उसकी अरुचि किसी में न थी जैसे नदियों के सैकड़ों में समुद्र की ।

रहे अरि-गन अब न नैकहु अजहिं जीतन - जोग ।
ब्रह्म-छत्रिय तेज मिलि भो अनिल-अनल सँजोग ॥४॥

उपजाति रूपमाला

लख्यौ नवल - निबृत्त-जोबन - अजहिं रघु-अनुरूप ,
लह्यौ जाकी संपदा - सँग सकल-गुन-गन-भूप ।
पाय जुगल-सँजोग दोऊ लसे सोभावान ,
नम्रता सँग, नवल जोबन - भूप-पद - रिधि-मान ॥५-६॥
भोग दीरघ-बाहु कीन्हौं अवनि, दया दिखाय ,
नबल - पानि-गृहीत-भामिन-सम न कहुँ डरि जाय ।
मोहिं अतिसय चहत, जानति प्रजा इमि मन माहिं ,
सिंधु-सौ, ज्यौं सरित-सत की अरुचि कबहूँ नाहिं ॥७-८॥

८—सैकड़ों नदी समुद्र में मिलती हैं वह किसी को अनादर नहीं करता ऐसे ही अज ने प्रजा में किसी का अनादर न किया ।

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहामिव ।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥९॥
अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया ।
विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥१०॥
गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः ।
पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे ॥११॥
तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः ।
पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः ॥१२॥
रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः ।
न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् ॥१३॥

९—न बहुत तीक्षण और न बहुत कोमल उस मध्यम परिपाटी स्वीकार किए हुए ने राजाओं को बिना उखाड़े झुका दिया, जैसे पवन ने वृक्षों को ।

१०—तब बेटे को अपने गौरव से राज सेवकों में प्रतिष्ठित देखकर रघु स्वर्ग के भी विनाशमान विषयों में निस्पृही हुआ ।

११—क्योंकि गुणवान पुत्र को लक्ष्मी सौंपकर पवित्र दिलीप वंशी अन्त में वृक्ष की छाल ओढ़ने वाले योगियों की पदवी लेते थे ।

१२—बनवास को चलते हुए उस पिता को बेटे ने शोभायमान चोरे वाले सिर से चरणों में प्रणाम करके अपना न छोड़ना माँगा ।

१३—बेटे पर प्यार करने वाले रघु ने उस रोते हुए का चाहा किया, परन्तु त्यागी हुई लक्ष्मी फिर न ली, जैसे साँप ने केंचली ।

रह्यौ मध्यम, कटुक-मृदुल महीप मो कहुँ नाहिं ।
बिनु उखारे पवन देत झुकाय ज्यौं तरु काहिं ।
निरखि गौरव सौं प्रतिष्ठित सुतहि मंत्रिन माहिं ।
स्वर्ग-नस्वर-सुखनि नरपति भूलि चाह्यौ नाहिं ॥९-१०॥

शोभन

जबहिं, गुन-गन-जुत-सुवन-कर सौंपि कमलहि देत ।
तबहिं, बल्कल - बसन-जति -जन-पद, अवध-नृप लेत ।
परसि पुनि पितु - चरन, गमनत करत जो बनवास ।
कह्यौ नृप-"इमि त्यागि मोहिं जनि करिय नाथ ! निरास" ॥११-१२॥
हरखि, बिलपत-सुवन-उर की करी पूरन चाह ।
पै तजी अहि-त्वचा-सम कमलहिं, न लियौ नरनाह ॥१३॥

९—मध्यम परिपाटी का सम्बन्ध राजा और पवन दोनों से है ।

स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहि ।
समुपास्यत पुत्रभोग्या स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रियाः ॥१४॥

प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम् ।
नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत् ॥१५॥

यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः ।
अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ ॥१६॥

अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युयुजे नीतिविशारदैरजः ।
अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ॥१७॥

१४—कहते हैं कि सन्यास आश्रम लेकर नगर से बाहर स्थान में रहते हुए उस जितेन्द्री को पुत्र भोग्या लक्ष्मी ने पुत्र वधू की नाईं सेवन किया ।

१५—शान्ति में बैठते हुए पहले राजा वाला और वैभव में उठते हुए नये राजा वाला वह वंश छुपते चन्द्रमा और निकलते सूरज वाले आकाश की तुल्यता को पहुँचा ।

१६—योगियों और राजाओं के चिन्ह धारण किए हुए रघु राघव प्रजा ने (ऐसे) देखे मानो मोक्ष और ऐश्वर्य रूपी दो अर्थ देने वाले धर्मों के दो अंश पृथ्वी पर आए हुए ।

१७—अजित पदवी पाने के लिये अज ने नीति जानने वाले मंत्रियों से संगत की, मोक्ष पदवी पाने के निमित रघु ने आप्त योगियों से मिलाप किया ।

नगर - बाहिर रहे लै सन्यास, आश्रम माहिं ।
सुत-बधूलौं सिंधु-कन्या सेवती रघु काहिं ॥१४॥

उपजाति रूपमाला

लस्यौ इमि कुल सांति-पोषित प्रथम जाकौ भूप ।
बैभव माहिं समुदित नवल नृपति अनूप ।
गगन सम, इक छोर जामैं अस्त हिमकर होत ।
तथा दूजी ओर जामैं अरुण-अरक उदोत ॥१५

यती-भूपति-चिन्ह धारे, प्रजा, रघु-अज, देखि ।
अवनि-गत धर्मांस - मोच्छैस्वर्ज - अर्थ - बिसेखि ।
अजित-पद-हित कियौ अज नैं निपुन-मंत्रिन साथ ।
मोच्छ-हित करि आस जोगिन मिल्यौ रघु-नरनाथ ॥ १६-१७

१४—पुत्र भोग्या अर्थात् पुत्र के भोगने योग्य ।

१६—राघव=रघु का बेटा अज । मोक्ष देने वाला निवर्तक धर्म और ऐश्वर्य देने वाला प्रवर्तक धर्म है ।

१७—यथार्थ देखने और यथार्थ कहने वाले को आप्त कहते हैं। अजित जो किसी से न जीता जाय ।

नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा ।
परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ॥१८॥
अनयत्प्रभुशक्तिसंपदा वशमेको नृपतीननन्तरान् ।
अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ॥१९॥
अकरोदचिरेश्वरः क्षितौ द्विषदारम्भफलानि भस्मसात् ।
इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना ॥२०॥
पणबन्धमुखान्गुणानजः षड्डुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम् ।
रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्ठकाञ्चनः ॥२१॥
न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः ।
न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् ॥२२॥

१८—प्रजा की परीक्षा निमित नए राजा ने धर्मासन लिया, और चित्त की एकाग्रता के अभ्यास के निमित बूढ़े ने एकान्त में पवित्र कुशासन ।

१९—एक ने प्रभुत्व और शक्ति की महिमा से आसपास के राजा वश किए, दूसरे ने योगाभ्यास से शरीर में फिरने वाले पाँच वायु ।

२०—नए राजा ने पृथ्वी में बैरियों के उद्योगों के फल भस्म किए, दूसरा ज्ञान की अग्नि से अपने कर्मों के जलाने में प्रवृत्त हुआ ।

२१—अज ने पण आदि ६ गुण इनके फल जानकर वर्त्ते, मिट्टी सोना समान जानने वाले रघु ने भी माया के तीन गुण जीते ।

२२—नया दृढ़कर्मा स्वामी फल के उदय तक उद्योग करने से न बैठ रहा और न शान्त बुद्धिवाला बूढ़ा परमात्मा के दर्शन तक योग की विधि से ।

प्रजा देखन हेतु नव नृप नीति-आसन लीन्ह,
वृद्ध-रघु लहि दर्भ-आसन चित्त निज-थिर कीन्ह ।
जीति कै अज बस किये निज निकटबर्ति-नरेस,
दमन कीन्हौं जोग सौं रघु पंच-पवन असेष ॥१८-१९॥

उपजाति रूपमाला

कीन्हैं नव-नृप अवनि-अरि-गन-जतन के फल छार ।
ग्यान-पावक-दहत-कर्मनि रघु न लाये बार ।
पन-प्रभृति-षट-गुननि के फल जानि जीत्यौ भूप ।
त्रिगुनैं बस कियौ रघुहु, जिन गुन्यौं हेम-मृन्मय-रूप ॥२०-२१॥

शोभन

रह्यौ रत-उद्योग मैं फल - उदय लौं नव-भूप ।
सांत-रघु नहिं बिरत भो, बिनु लखैं ब्रह्म - स्वरूप ॥२२॥

२१—छः गुण ये हैं—मिलाप, लड़ाई, चढ़ाई, विश्राम, छिद्र, आश्रय ।

इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ ।
प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः ॥२३॥
अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः ।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥२४॥
श्रुतदेहविसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः ।
विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ॥२५॥
अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित् ।
न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयार्जितपिण्डिकाङ्क्षिणः ॥२६॥
स परार्ध्यगतेरशोच्यतां पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः ।
शमिताधिरधिज्यकार्मुकः कृतवानप्रतिशासनं जगत् ॥२७॥

२३—इस प्रकार स्वार्थ भंग होने वाले बैरियों और इन्द्रियों में जगते हुओं ने, लक्ष्मी और मोक्ष के आसक्तों ने, दोनों सिद्धि पाईं ।

२४—फिर उस समदर्शी रघु ने अज की आकांक्षा पूर्वक कुछ बरस बिताकर योग समाधि के द्वारा अक्षय पुरुष को, माया से परे को, पाया ।

२५—पिता का देह त्याग सुने हुए राघव ने, अग्नि होत्र रखने वाले ने, बहुत काल आँसू गिरा कर उसकी अन्त क्रिया योगियों सहित अग्नि के बिना करी ।

२६—उस पितृकर्म के ज्ञानी ने भक्ति से उसके और्ध दैहिक कर्म किये, इस भाँति शरीर छोड़ने वाले लोग पुत्रों के दिये हुए पिंड़ों के आकांक्षी नहीं होते ।

२७—अच्छी गति पाए हुए पिता की अशोकता दिखलाकर परमार्थ ज्ञानियों के व्याधि मिटाए हुए ने, चढ़ी प्रतिंचा के उस धनुषधारी ने जगत को दूसरे की आज्ञा से रहित कर दिया ।

स्वार्थ-बृत्ति - अरीन, अरु तिमि इन्द्रियन महँ दोउ ।
रहे सदा सतर्क पायौ बिभव - मोच्छहु ओउ ॥२३॥
सुवन के अनुरोध सौं रघु कछुक बर्ष बिताय ।
साधि योग - समाधि पायौ ब्रह्म - दरस अघाय ।
निरत-पावक-होत्र-अज, जब पितु-निधन सुनि लीन्ह ।
अनल बिनु तिनकी क्रिया दुख सौं जतिन संग कीन्ह ॥२४-२५॥
पिंड-दानादिक किये पितु-भक्ति सौं नरनाह ।
तथा-बिधि तनुत्यागि सुत सौं करतु तासु न चाह ।
"सोचियै सतगति-पितहिं जनि" बुधन अस सिख दीन्ह ।
चंड-चाप चढ़ाय सब जग स्ववस तब अज कीन्ह ॥२६-२७॥

२७—ऐसी अच्छी गति पाए पिता के लिये शोक करना न चाहिए यह कह कर योगियों ने अज का शोक मिटाया था उसी अज ने पृथ्वी जीती अर्थात् किसी दूसरे की आज्ञा न चलने दी ।

क्षितिरिन्दुमती च भामिनी पतिवासाद्य तमग्र्यपौरुषम् ।
प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वीरमजीजनत्सुतम् ॥२८॥
दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम् ।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः ॥२९॥
ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः ।
अनृणत्वमुपेयिवान्बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः ॥३०॥
बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम् ।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥३१॥

२८—पृथ्वी और इन्दुमती भामनी उस महाप्रतापी पति को पाकर पहली बहुत रत्न उपजाने वाली हुई दूसरी ने वीर पुत्र जना ।

२९—जिस दस सौ किरण (सूरज) समान कान्ति मान को, यशों से दशों दिशा में सुने हुए को, दसकंठारि के पिता को, पंडित लोग नाम करके रथ से पहले दस जानते हैं (अर्थात् दसरथ) ।

३०—वेद और यज्ञ और सन्तान से वह राजा ऋषियों और देवताओं और पितृयों की अऋणता को पहुँच कर शोभायमान हुआ, जैसे परिधि से छुटा हुआ सूरज ।

३१—डरे हुओं का डर दूर करने के लिए बल, पंडितों के सत्कार निमित बड़ा शास्त्र ज्ञान, उस भाग्य मान का केवल धन ही नहीं गुणीपन भी पराए प्रयोजन साधने वाला था ।

उपजाति रूपमाला

अवनि-इन्दुमती-दुऔ तब अज-सरिस पति पाय ।
रतन औ' सुत दुहुँनि पैदा किये हिय हरषाय ।
दिपत-दस-सत-किरन लौं जस दसौ-दिसनि पसारि ।
बिदित दसरथ, जासु सुत भये राम दसकंठारि ॥२८-२९॥
पढ़ि जथाबिधि बेद, मख करि, अरु सुसन्तति पाय ।
दियौ रिषि सुर-पितर-गनकौं रिनहुँ भूप चुकाय ।
ह्वै उरिन येहि भाँति सबसौं लस्यौ सोभावान ।
ज्यौं परिधि सौं छूटि राजत ब्यौम-रवि दुतिमान ॥३०॥

निबल कौ भय मेटिबे-हित भयौ नृप बलवान ।
पंडितनि सनमानिबै कौं लह्यौ सास्त्रग्यान ।
पर-प्रयोजन साधिबे-हित धनहिं केवल नाहिं ।
रही सतगुन - ग्राहिताहू अतुल नरपति माहिं ॥३१॥

२९—दसकंठारि नाम रामचन्द्र का है ।

३०—सूरज के हाले को परिधि कहते हैं । मनुष्य पर तीन ऋण हैं—एक देवताओं का, दूसरा ऋषियों का, तीसरा पितृयों का । पहला वेद पढ़ने से चुकता है, दूसरा यज्ञ करने से, तीसरा सन्तान होने से ।

स कदाचिदवेक्षितप्रजः सह देव्या विजहार सुप्रजा ।
नगरोपवने शचीसखो मरुतां पालयितेव नन्दने ॥३२॥
अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम् ।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः ॥३३॥
कुसुमैर्ग्रथितामपार्थिवैः स्रजमातोद्यशिरोनिवेशिताम् ।
अहरत्किल तस्य वेगवानधिवासस्पृहयेव मारुतः ॥३४॥
भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः ।
ददृशे पवनालेबपजं सृजती बाष्पमिबाञ्जनाविलम् ॥३५॥
अभिभूय विभूतिमार्तवीं मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम् ।
नृपतेरमरस्रगाप सा दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम् ॥३६॥

३२—एक समय प्रजा को देखते हुए अच्छी सन्तान वाले ने रानी समेत नगर के उपवन में बिहार किया, जैसे नन्दन बन में शची के सखा देवताओं की रक्षा करने वाले (इन्द्र) ने ।

३३—उसी समय दक्षिण समुद्र के तट पर गोकर्ण में बसने वाले महादेव जी को गाना सुनाने के लिये सूरज के निकलने और घूमने के मार्ग होकर नारद जी गए ।

३४—कहते हैं कि दिव्य फूलों से गुँथी हुई उनकी वीणा के सिर पर रक्खी हुई माला बेगवान पवन ने ले ली मानों अपने को सुगन्धित करने के लिए ।

३५—फूलों के पीछे चलने वाले भौंरों से घिरी हुई मुनि की वीणा पवन के झोके से उपजे हुए, काजल से काले, आँसू गिराती हुई सी दीखी ।

३६—लताओं के ऋतु वैभव को मधु और गन्धि की अधिकता से तिरस्कार करके वह दिव्य माला रानी के स्तन की चोटी पर पड़ी ।

शोभन

एक दिन भूपति प्रजा की दसा-देखन-हेत ।
नगर-उपवन माहिं बिहरन गयौ रानि-समेत ।
इन्दुमति-सँग तहाँ सोह्यौ, यौंहि अज-सुभ-गाथ ।
मनहुँ नंदन-बन बिराज्यौ, लै सचिहिं सुरनाथ ॥३२॥
बसत दच्छिन सिंधु तट गोकरन माहिं गिरीस ।
तिनहिं बीन सुनाय नभ-पथ फिरे देव-मुनीस ।
सुरभि - इच्छा - बस - मनहुँ तेहिं लै गई हरि-बात ।
दिब्य-कुसुमन-गुही-माला तिनहिं सीस सोहात ॥३३–३४॥
अनुसरत इमि सुमन मालहिं भ्रमर-भीर लखात ।
मनहुँ कज्जल-कलित-आँसुनि, बीन छोड़ति जात ।
लता-गन-रितु-बिभव कौं मधु-गंध सौं निदराय ।
दिब्य माला गिरी नृपप्रिया-कुचन सौं टकराय ॥३५–३६॥

३३—सूरज के निकलने और घूमने का मार्ग आकाश है ।

क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला ।
निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचंद्रा तमसेव कौमुदी ॥३७॥
वपुषाकरणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत् ।
ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम् ॥३८॥
उभयोरपि पार्श्ववर्तिनां तुमुलेनार्तरवेण वेजिताः ।
विहगाः कमलाकरालयाः समदुःखा इव तत्र चुक्रुशुः ॥३९॥
नृपतेर्व्यजनादिभिस्तमो नुनुदे सा तु तथैव संस्थिता ।
प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते ॥४०॥
प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्त्वविप्लवात् ।
स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम् ॥४१॥

३७—सुन्दर स्तनों की उस छिन मात्र सखी को देखते ही नरोत्तम की प्यारी विहूल होकर दीर्घ निद्रा को गई, मानो राहु के ग्रसे चन्द्रमा की चाँदनी।

३८—इन्द्रियों के त्यागे हुए शरीर से उस गिरती हुई ने पति को भी गिराया। क्या टपकते हुए तेल की बूँद के साथ दीपक की शिखा धरती पर नहीं गिरती ?

३९—वहाँ दोनों के सेवकों के बड़े रोने से डरे हुए ताल के पक्षी भी समान दुखियों की नाईं रोए।

४०—राजा की मूर्छा बीजने इत्यादि से दूर हुई, परन्तु वह वैसी ही रही, औषधि का उपाय आयु के शेष रहते ही फल देता है।

४१—तब चैतन्यता मिट जाने से बिना तार चढ़ी हुई वीणा की नाईं उस प्यारी को अति प्रेमी ने उठाकर उचित गोद में रक्खा।

लख्यौ, सुंदर-कुच-सखी-नृप रानि, दीठि उठाइ।
राहु-ग्रसित-मयंक-मनु, सहसा गिरी मुरझाइ।
प्रान-गत-निज देह सौं, इमि दीन्ह पियहिं गिराइ।
तेल-बुंदन-स्रवत जिमि गिरै दीप - लौ महिं आइ ॥३७-३८॥
करुन-क्रन्दन परिजनन कौ सुनत अति-भय-खाय।
ताल के सब बिहँग रोवन लगे दुख-दरसाय।
तजी मूर्छा भूप नैं लहि बिजन की बर बायु।
पै जगी नहिं रानि, औषधि फलत रहतहिं आयु ॥३९-४०॥
तार - टूटे - बीना - सी, मृता - सुप्रियाहिं उठाय।
गोद-राख्यौ हिलकि - प्रेम - बिभोर ह्वै नरराय ॥४१॥

३७—दीघ निद्रा अर्थात् मरना।

३८—राजा मूर्छित हुआ।

४१—उचित गोद से तात्पर्य यह है कि जिस गोद में पहले बैठा करती थी अथवा जो उसके बैठने योग्य थी।

पतिरङ्कनिषण्णया तया करणापायविभिन्नवर्णया ।
समलक्ष्यत बिभ्रदाविलां मृगलेखामुषसीव चन्द्रमाः ॥४२॥
विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥४३॥
कुसुमान्यपि गात्रसंगमात्प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि ।
न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत्प्रहरिष्यता विधेः ॥४४॥
अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः ।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥४५॥
स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥४६॥

४२—उस गोद में रक्खी हुई से, इन्द्रियों के अभाव से रंग पलटी हुई से, पति (ऐसा) दिखलाई दिया मानो प्रभात समय मैली मृग लेखा लिए हुए चन्द्रमा ।

४३—आँसूओं से गदगद उसने स्वाभाविक धीरज भी छोड़ कर विलाप किया, तपाया हुआ लोहा भी कोमलता को जाता है फिर देह धारियों में क्या न कहना चाहिए ।

४४—जब फूल भी देह के संग से आयु का नाश करने को समर्थ हुए तो हाय मारने वाले दई का साधन और कौन सी वस्तु न होगी ?

४५—अथवा यम कोमल वस्तु को कोमल ही से मारता है इसमें पहला दृष्टान्त पाला लगने से नाश होने वाली कमलनी मैंने मानी है ।

४६—जो यह माला प्राण घातिनी है तो छाती पर पड़ी हुई मुझे क्यों नहीं मारती । ईश्वर की इच्छा से कहीं अमृत भी विष होता है कहीं विष अमृत ।

धरैं बिबरन प्रिया कौ 'सव' नृपति इमि निज-अंक ।
मलिन-मृग-रेखा लियैं जिमि लसत प्रात-मयंक ॥४२॥
दियौ गदगदबानि बिलपत सहज-धीर बिहाइ ।
नलिन-नैनन सौं नृपति अँसुवानि कौ बरसाइ ।
पाय तापहिं कठिन लोहहु द्रवित जब ह्वै जात ।
तब भला कोमल-हृदय-प्रानीन की का बात ॥४३॥
परसि गात प्रसूनहूँ जो प्रान कौं हरि लेत ।
हाय वा निदई दई कौं कौन काम न देत ।
देत कोमल बस्तु सौं इमि बस्तु कोमल मारि ।
जथा सर-अरबिंद-बृंदनि तुहिन डारत जारि ॥४४-४५॥
प्रान - हारी - सकति जो एहि पुहपुमाला-माहिं ।
परसि मेरौ हीय क्यौं यह मोहिं मारति नाहिं ।
दैव इच्छा सौं कबौं तौ अमिय बिष बनि जात ।
अरु हलाहल सौं कहूँ पीयूख-गुन सरसात ॥४६॥

अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा ।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता ॥४७॥

कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि ।
कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे ॥४८॥

ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते विदितः कैतववत्सलस्तव ।
परलोकमसंनिवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः ॥४९॥

दयितां यदि तावदन्वगाद्विनिवृत्तं किमिदं तया विना ।
सहतां हतजीवितं मम प्रबलामात्कृतेन वेदनाम् ॥५०॥

४७—अथवा मेरा भाग्य लोटने से ब्रह्मा ने यह (माला) बज्र करदी है, यद्यपि इसने वृक्ष नहीं गिराया परन्तु उसकी शाखा में लपटी हुई लता विनाश डाली ।

४८—जब तेंने मुझे नित्य अपराधों में भी अवज्ञा नहीं की तो एकाएकी अब इस निर अपराधी जन को सम्भाषन के योग्य क्यों नहीं मानती है ।

४९—हे सुन्दर मुसकानि वाली ! तेंने मुझे निश्चय अपना छल से प्यार करने वाला शठ जाना, इसी से मेरे पूछे बिना तू फिर न आने के लिये यहाँ से परलोक जाती है ।

५०—जब यह मेरा नष्ट जीव प्यारी के पीछे जा चुका था तो उसके बिना क्यों लौट आया, (अब) अपनी करनी से प्रबल दुःख सहो ।

दियौ मेरौ भाग्य या बिधि क्रूर बिधि पलटाइ ।
फूल की मालहिं दीन्ह्यौं कुलिस-कठिन बनाइ ।
जदपि ताहि प्रहारि डार्‌यौ बिटप कौं नहिं काटि ।
तऊ आस्रित-लता कौं ह्वै निदय डार्‌यौ छाँटि ॥४७॥

उपजाति रूपमाला

किये किते अपराध हौं, तुम नहिं अवग्या कीन्ह ।
निरपराधी आजु मो प्रति, मौन क्यों गहि लीन्ह ।
मन्द-बिहँसनि-सुन्दरी ! मोहिं कपट-छल-प्रिय मानि ।
गई बिनु पूछे सरग करि निपट मम-हित हानि ॥४८-४९॥

लखि परात-प्रियाहिं मोकहँ गई मुरछा आय ।
पै न जानी चेतना केहि हेतु गई जगाय ।
भयौ जीवन बिफल तुम बिनु अब सहारौ कौन ?
कियौ जैसौ प्रान ! पैहौ फलहु तैसौ तौन ॥५०॥

५०—तात्पर्य यह है कि जब रानी को मरी देखकर मेरा जी मूर्छा में जा चुका था तो फिर क्यों लौट आया यह मेरे जी का अपराध हुआ इसके पलटे दुःख पाने योग्य है ।

सुरतश्रमसंभृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते ।
अथ चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमां देहभृतामसारताम् ॥५१॥
मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ।
ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥५२॥
कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन्भृङ्गरुचस्तवालकान् ।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्त्तनशङ्कि मे मनः ॥५३॥
तदपोहितुमर्हसि प्रिये प्रतिबोधेन विषादमाशु मे ।
ज्वलितेन गुहागतं तमस्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः ॥५४॥
इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम् ।
निशि सुप्तमिवैकपङ्कजं विरताभ्यन्तरषट्पदस्वनम् ॥५५॥

५१—परिश्रम के पसीने की बूँद भी तेरे मुख पर वर्तमान है और तू आप अस्त को गई, धिक्कार है देह धारियों की इस असारता को ।

५२—तेरा अनचाहा मैंने (कभी) मन से भी न किया तू मुझे क्यों त्यागती है, पृथ्वी का पति तो मैं कहने ही को हूँ मन का अनुराग मेरा तुझी में है ।

५३—हे सूँड समान जाँघों वाली तेरी फूलों से गुँथी बल खाई हुई काली अलकों को हिलाकर पवन मेरे मन को तेरे फिर आने का आसावान करती है ।

५४—इसलिये हे प्यारी तू जगने से तुरन्त मेरा दुःख हरने को योग्य है, जैसे रात में हिमालय की गुफा के अंधेरे को चमकने से बूटी ।

५५—यह बिखरी हुई अलकों वाला, बोलने से रहित, तेरा मुख मुझे खेद करता है, जैसे रात में सोता हुआ भीतर भौंरे की ध्वनि मिटा हुआ, अकेला कमल ।

लसत मुख स्रम - बिंदु अरु तू अस्त हा करतार ।
मनुज - देह असार ताकौ है अमित धिक्कार ।
तजति मोहि, अनचाहतौ–तव मनहुँ तैं नहिं कीन्ह ।
कहन कौं महीपत रह्यौ पै सदा तव–आधीन ॥५१-५२॥

शोभन

पवन, हे करभोरु ! पुहपनि-ग्रथित-अलक हिलाय ।
तोहिं पावन-काज मो कहँ धीर देति बँधाय ।
चेतना-करि-लाभ, हे प्रिय ! हरिय मम दुख फेर ।
चमकि बूटी हरति जिमि गिरिराज - गुहा - अँधेरि ॥५३-५४॥

उपजाति रूपमाला

बोल-बिन-बर-बदन, जापैं छिटकि बिथुरे बार ।
निरखि-नैननि इमि ! प्रिये ! मोहिं होत दुःख अपार ।
रजनि के अरबिंद सौं यह कैसेहूँ कमि नाहिं ।
गुंजरत-मृदु-मंजु जिमि अलिबृन्द नहिं जेहिं माहिं ॥५५॥

शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्रिणम् ।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥५६॥

नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम् ।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु चिताधिरोहणम् ॥५७॥

इयमप्रतिबोधशायिनीं रशना त्वां प्रथमा रहःसखी ।
गतिविभ्रसादनीरवा न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते ॥५८॥

कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम् ।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥५९॥

५६—चन्द्रमा को रात्रि, चकवे को चकवी, फिर मिलती है इसने वे दोनों विरह का अन्त सहने को समर्थ हैं, सदा को जाने वाली तू मुझे क्यों न जलावेगी ?

५७—जो नए पत्तों के बिछाने पर भी आया हुआ तेरा कोमल शरीर दुखता था, सो हे मनोहर जाँघों वाली बतला इस चिता का चढ़ना कैसे सहेगा ?

५८—तेरी एकान्त की पहली सखी यह तागड़ी, विलास के अभाव में चुप होने वाली, क्या तुझ अबोध सोती हुई के साथ शोक से भरी हुई सी नहीं दीखती है ।

५९—मीठे आलाप कोयलों में, मन्द गति कलहंसियों में, चंचल दृष्टि हरिणियों में, हाव भाव पवन की हिलाई लताओं में ।

मिलत कोकहिं-कोकि, मंजु-मयंक-निसि सौं आय ।
सहत छनिक-बियोग पुनि इमि मिलन-आस लगाय ।
गई तू परलोक अब नहिं फेरि मिलि है हाय !
बिषम - बिरह - दवारि मैं अब रही मोहिं जराय ॥५६॥

नवल - पल्लव - सेज - पौढ़त दुखत तेरौ गात ।
चिता-रोहन बाम-उरु किमि तोहिं आजु ! सुहात ।
तव इकंत सखी अहै रसना बिलास - बिहीन ।
नींद-गत दुख-दही तो संग दिसति कहा मरी न ?५७-५८॥

शोभन

दई सालस मंद - गति प्रिये ! हंसिनिन-पग काहिं ।
मधुर-मंजु-अलाप बितस्यौ काक-पालिनि माहिं ।
दई प्यारी ! चपल-चारु-चितौनि हरिनिनि चौंपि ।
हाव-भाव-समीर-प्रेरित दये लतिकनि सौंपि ॥५९॥

५८—एकान्त की सखी=परदे की बात जानने वाली ।

५९—इस श्लोक का आशय अगले श्लोक में खुलेगा ।

त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया ।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलाम्बितुं क्षमाः ।।६०।।
मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत् इत्यसांप्रतम् ।।६१।।
कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति ।
अलमाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम् ।।६२।।
स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् ।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि शोच्यसे ।।६३।।

६०—सत्य है तेंने, स्वर्ग जाने की चाववती ने भी, मुझे देख कर ये गुण (मधुर आलाप इत्यादि) छोड़े हैं परन्तु मेरे हृदय तक, तेरे विरह में भारी विथा पाले तक पहुँचने को समर्थ नहीं है ।

६१—तेंने इस आम को और प्रयंगलता को जोड़ा माना था, इन का विवाह मंगल किये बिना तू जाती है यह अनुचित है ।

६२—तेरा प्रफुलित किया हुआ यह अशोक वृक्ष जिस फूल को उत्पन्न करेगा उस अलकों के गहने को मैं तेरी अन्त क्रिया में कैसे लगाउँगा ।

६३—तेरे बजते हुए नूपर वाले पैर के अन्य दुर्लभ अनुग्रह की सुधसी करता हुआ यह अशोक हे सुन्दरी ! फूलों के आँसू बरसाता हुआ तुझ को रोता है ।

जात-सुरपुर गईं गुन-गन इतैं मो - हित त्यागि ।
सकत पै मम बिरह-ब्याकुल-हियौ नहिं अनुरागि ।
आम और प्रियंगु*लतिका कौ सुभग सहकार ।
मानि जोड़ी, चली बिनु ब्याहे, न उचित विचार ।।६०-६१।।

ललित - बिटप असोक कौ, यह फूलिहै सुख पाय ।
परसि निज पद कंज सौं जेहिं दियौ तैं बिकसाय ।
साजतौ अलकावली तव, मंजु-कुसुमनि - पाँति ।
सलिल-अंजलि ताहि सौं, अब देहुँगौ केहि भाँति ।।६२।।

मृदुल-तव-पद कौ, रह्यौ जो कंज की छबि - छोरि ।
होति नूपुर-धुनि, स्रवन-सुख-दैनि मंजु अथोरि ।
परस्यौ पद सो असोक तरु तब, तेहि सुरति करि हाय ।
अब प्रसूननि-ब्याज सौं अँसुवा रह्यौ बरसाय ।।६३।।

६२—कहते हैं कि जब तक सौभाग्यवती स्त्री के पैर की ठोकर न लगे तब तक अशोक का वृक्ष फूलता नहीं है, इसी भाँति जब तक स्त्री के मुख से न छुआ जाय बकुल नहीं फूलता ।

* संक्षिप्त शब्द सागर के अनुसार—प्रियंगु=पीपल वृक्ष को कहते हैं ।

तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचितां समं मया ।
असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि सुप्यते ॥६४॥

सदुमःखसुखः सखीजनः प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः ।
अहमेकरसस्तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ॥६५॥

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः ।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीमद्य मे ॥६६॥

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥६७॥

६४—अपने स्वास के अनुकारी बकुल पुष्पों से मेरे साथ अध गूँथी सुन्दर तागड़ी पूरी किये बिना हे किन्नरों के से कंठवाली यह कैसा सोना है ?

६५—दुख सुख की साथिन ये सखियाँ हैं, दुतिया के चन्द्रमा समान यह पुत्र है, एक तेरा ही प्रेमी मैं हूँ, इस पर भी तेरा चरित्र निश्चय निठुर है ।

६६—मेरा अब धीरज अस्त हुआ, आनन्द मिटा, गाना गया, ऋतु निरुत्सव हुई, आभूषनों का प्रयोजन न रहा, सेज सूनी हुई ।

६७—तू मेरी स्त्री, मता करने में सहाई, एकान्त की सखी, अच्छी गान विद्या की प्यारी विद्यार्थिन, निर्दई मृत्यु ने हरी तो बतला मेरा क्या न हरा ?

दियौ हो बिकसाय जिन कहँ डारि आनन-बारि ।
जो रहे, निस्वास-तव-मधु-गंधि के अनुहारि ।
उन बकुल-पुहपानि की अधबनी तागरि-त्यागि ।
सुघर-किन्नर-कंठि ! कहु तूँ कहाँ सोवन लागि ॥६४॥

उपजाति रूपमाला

सुख-दुःख-साथनियाँ सबै साखियाँ तिहारी सोय ।
प्रिये, प्रतिपद चंद-सम वह सुवन ब्याकुल होय ।
हमहुँ तव-एकांत-प्रेमी रहे बहु दुख पाय ।
तदपि येहि बिधि निठुरता-तव ! कछु कही नहिं जाय ॥६५॥
भयौ धीरज-अस्त, मिट्यौ अंनद, गौन्यौं गान ।
रितुन के उच्छव सकल अब बिफल के उपमान ।
रहि गयौ आभरन सौं, मोंहि अब न कोऊ काज ।
हाय ! यह ह्वै गई सूनी सेज तो बिनु आज ॥६६॥

शोभन

रहीं गृहिनी अरु सचिव मत - देनि मोहिं स-भाय ।
अरु सखी एकांत की, सिष्या-कला-सुखदाय ।
काल अकरुण हाय हम सौं हरि लियौ जब वाहि ।
दैन को दुख का रह्यौ जेहिं दियौ नहिं हठि ताहि ॥६७॥

६४—अनुकारी अर्थात् होड़ करने वाले ।

मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे ।
अनुपास्यासि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ।।६८।।

विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गण्यताम् ।
अहृतस्य विलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषयास्त्वदाश्रयाः ।।६९।।

विलपन्निति कोशलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति ।
अकरोत्पृथिवीरुहानपि स्रुतशाखारसबाष्पदूषितान् ।।७०।।

अथ तस्य कथंचिदङ्कतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम् ।
विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे ।।७१।।

६८—हे मत्त आँखों वाली मेरे सुख की दी हुई रसीली मदिरा पीकर तू आँसूओं से दूषित जलांजली को, परलोक में मिलने वाली को, कैसे पियेगी ।

६९—वैभव में भी तेरे बिना अज का सुख यहीं तक गिनना चाहिए, मुझ अन्य विषय त्यागे हुए के सब भोग तेरे आसरे थे ।

७०—इस प्रकार शोक में फँसे हुए, प्यारी के लिये विलाप करते हुए, कौशलाधीश ने वृक्षों को भी शाखाओं से टपकते हुए रस के आँसुओं से भिगोया (अर्थात् रुलाया) ।

७१—फिर उसकी गोद से जैसे जैसे उस सुन्दरी को, उसी (माला) से अन्त समय आभूषित को, लेकर बान्धवों ने अगर चन्दन के ईंधन वाली अग्नि के निमित सौंपा ।

उपजाति रूपमाला

पियति मम-मुख-सों रही ही सरस-मदहिं सराहि ।
पान अब केहि भाँति करि है तू जंलाजलि काहिं ।
तप्त-लोचन-बारि दूषित दियौ जाहि बनाय ।
मिलि सकैगी तोहि सो परलोक मैं हीं हाय !६८।।
जदपि सुरपति - बिभव बिपुल-बिलास सकल नवीन ।
हुते सब सुख हे प्रिये ! बस, राउरेहि - आधीन ।
रह्यौ अज के भाग एतोहिं लिख्यौ सुख कौ साज ।
अन्य विषयिनि सौं बिरत ह्वै अति अनास्रित आज" ।।६९।।

शोभन

करत करुना-प्रथित-प्रियाहित अज विलाप - कलाप ।
इन्दुमतिहिं निहारि इमि हिय धारि अमित सँताप ।
रहे निज साखानि सौं मकरंद बिटप चुआय ।
सोक सौं जनु तिनहिं दीन्हौं कोसलेस रुआय ।.७०।।

उपजाति रूपमाला

स्वजन तब नृप-अंक सौं, प्रमदाहिं काहु प्रकार ।
दिब्य - स्रग सौं भयौ मानहुँ जासु रुचिर सिंगार ।
लियौ बरबस खैंचि, बाकी क्रिया - करिबे हेत ।
लै हुतासन मैं धर्‌यौ श्रीखंड - अगुरु - समेत ।।७१।।

६९—अन्य विषय त्यागा हुआ अर्थात् जो और किसी विषय में आसक्त न हो ।

प्रमदामनु संस्थितः शुचा नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात् ।
न चकार शरीरमग्निसात्सह देव्या न तु जीविताशया ॥७२॥
अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम् ।
विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः ॥७३॥
स विवेश पुरीं तया विना क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः ।
परिवाहमिवावलोकयन्स्वशुचः पौरवधूमुखाश्रुषु ॥७४॥
अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद्गुरुराश्रमस्थितः ।
अभिषङ्गजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥७५॥

७२—"राजा होकर भी शोक से स्त्री के पीछे मर गया" यह अपवाद देखकर उसने रानी के साथ शरीर अग्नि वश न किया न कि जीने की आसा से ।

७३—फिर दस दिन पीछे उस विद्वान ने गुण मात्र रही हुई प्यारी के निमित महा ऋषियों सहित नगर के उपवन ही में कर्म समाप्त किया ।

७४—उस प्रभात चन्द्र समान दर्शन वाले ने पुर वासियों के सुखों के आँसुओं में अपने शोक का प्रवाह सा देखते हुए उस (प्यारी) के बिना नगर में प्रवेश किया ।

७५—तब कहते हैं कि यज्ञ की दीक्षा लिए हुए आश्रम में बैठे हुए गुरु ने तप के प्रभाव से उस को शोक में अचेत जान कर शिष्य के द्वारा इस प्रकार समझाया ।

शोभन

'जर्यौ प्रमदा संग ही' एहि अजस कौ भय मानि ।
ह्वै धराधिप, धारि हिय-इमि अमित - सोक-गलानि ।'
कियौ नहिं निज-देह कौ नृप अनल मैं परि दाह ।
प्रान - धारन - साध पै राखी न कछु नरनाह ॥७२॥
तबहिं बैदिक-बिधिन मैं अति-निपुन भूप उदार ।
द्यौस-दसक बिताय धरि हिय-क्रिया-करन-बिचार ।
नगर-उपबन मैं समाप्यौ बिपुल-बिभव समेत ।
रहि गयौ गुन-नाथ जाकी सुधि दिवावन हेत ॥७३॥
सोक सौं कृस, कियौ कोसल-नाथ नगर-प्रवेस ।
मलिन अरु छबि-हीन जैसौ प्रात कौ राकेस ।
नगर-बासिन-तियनि-लोचन-नलिन मैं नरनाह ।
लख्यौ उमड़त-बारि अपनौं मनौं सोक-प्रवाह ॥७४॥
हुते आश्रम माहिं मख-दीछा-लिये मुनिराज ।
लियौ तौ हूँ जानि नृप कौ सकल तिन दुख-साज ।
सोक-कातर हैं बिमोहित अतिहिं अवध-नरेस ।
यौं, बसिष्ठ कहाय पठयौ सिष्य-मुख-संदेस ॥७५॥

असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्तव विद्वानपि तापकारणम् ।
न भवन्तमुपस्थितः स्वयं प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम् ॥७६॥
मयि तस्य सुवृत्त वर्तते लघुसंदेशपदा सरस्वती ।
शृणु विश्रुतसत्त्वसार तां हृदि चैनामुपधातुमर्हसि ॥७७॥
पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च ।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥७८॥
चरतः किल दुश्चरं तपस्तृणबिन्दोः परिशङ्कितः पुरा ।
प्रजिघाय समाधिभेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् ॥७९॥

७६—इसलिये कि यज्ञ पूरा नहीं कर चुके हैं गुरू जी, तुम्हारे शोक का कारण जान कर भी तुम मार्ग त्यागे हुए को मार्ग में लीन के निमित आप न आ सके ।

७७—हे अच्छी वृत्ति वाले उनकी थोड़े अक्षरों के संदेसे की वाणी मुझ में वर्तमान है, हे प्रसिद्ध धीरज वाले इसको सुन और इसको हृदय में धरने को तू योग्य है ।

७८—अजन्मा पुरुष के पदों में (अर्थात् त्रिलोकी में) भूत, भविष्यत, वर्तमान तीनों को ज्ञान की निर्मल दृष्टि से वे निस्सन्देह देखते हैं ।

७९—कहते हैं कि आगे घोर तप करने वाले तृणबिन्दु के शंकामान किए हुए इन्द्र ने उसके पास जोग भंग करने वाली हरिणी नाम अप्सरा भेजी ।

"भयौ मख-पूरन न या लगि गुरु प्रबल-दुख पाय ।
जानि राउर सोक पै, उत सके आपु न आय ।
दियौ धीरज-पंथ तजि, तुम सोक-सरि-परि-भूप ।
दै सके नहिं ब्रह्म-सुत उपदेस तुमहिं अनूप ॥७६॥

तासु 'लघु - अच्छर - पदा सन्देस' की बर-बानि ।
सत्व - सार - बिचार-पारग ! ताहि अति-हित-मानि ।
सुनिय बहुरि सुवृत्त ! नरपति-मुकुट-मनि, चित लाय ।
और लीजै वाहि निज-मन-माहिं समुद बसाय ॥७७॥

वे अजन्मा - पुरुष - पद - तिहुँ लोक कौं सब हाल ।
बर्तमान-भविष्य - भूतहुँ माहिं तीनिहुँ काल ।
होत, ह्वै है, भयो तेहि ग्यान - नैननि देखि ।
गुरु-तपोधन अवसि सब-कछु जानि लेत बिसेखि ॥७८॥

कह्यौ, कोउ तृनबिंदु नामी मुनि करत तप-घोर ।
निरखि तिनहिं, सुरेस-भय कौ रह्यौ ओर-न-छोर ।
भंग करिवे हेतु तिनके तपहिं सक्र स - त्रास ।
दयो हरिनी अपछरा कौं पठै मुनिबर पास ॥७९॥

स तपःप्रतिबन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम् ।
अशपद्भव मानुषीति तां शमवेलाप्रलयार्मिणा भुवि ॥८०॥
भगवन्परवानयं जनः प्रतिकूलाचरितं क्षमस्व मे ।
इति चोपनतां क्षितिस्पृशं कृतवाना सुरपुष्पदर्शनात् ॥८१॥
क्रथकैशिकवंशसंभवा तव भूत्वा महिषी चिराय सा ।
उपलब्धवती दिवश्च्युतं विवशा शापनिवृत्तिकारणम् ॥८२॥
तदलं तदपायचिन्तया विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता ।
वसुधेयमवेक्ष्यतां त्वया वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः ॥८३॥

८०—तपस्या भंग होने के क्रोध से, शान्ति रूप मर्यादा को (तोड़ने वाली) प्रलय की तरंग से, उसने सामने अच्छे हाव भाव दिखलाती हुई को यह शाप दिया तू पृथ्वी में स्त्री हो ।

८१—"और हे भगवान ! यह जन पराए आधीन है मेरा खोटा आचरन क्षमा करो" इस प्रकार विनती करती हुई को उसने दिव्य फूल के दर्शन तक पृथ्वी पर रहने वाली किया ।

८२—उन क्रथकैशिक वंश में जन्मी हुई ने तेरी रानी बन कर बहुत काल पीछे आकाश से गिरा हुआ शाप मोचन का कारण पाकर प्राण छोड़ा है ।

८३—इसलिये उसके मरने की चिन्ता से बसकर, जन्मधारियों के सन्मुख विपत्ति रहती ही है, तुझ को इस पृथ्वी पर दृष्टि चाहिए राजा लोग बसुधा ही से स्त्री मत होते हैं ।

जग्यौ मुनि कौं क्रोध जबहीं लख्यौ निज तप - भंग ।
तोरि दीन्हौं सांति-बेलहिं मनहुँ प्रलय - तरंग ।
दियौ ताकौं साप हो तू मानुषी महिं जाय—
रही जो मुनि सामुहैं बहु हाव-भाव दिखाय ॥८०॥
"है हमारी बृत्ति पर आधीन हे भगवान !
छमिय मम - अपराध जो कछु कियौ बस अग्यान ।"
देखि सरनागत, द्रवित ह्वै कह्यौ यौं मुनिराय—
"दिव्य-फूलन - दरस - लौं तुम रहौ छिति पर जाय ॥"८१॥
जनमि क्रम-कैसकन के बर - बंस, ह्वै तव - रानि ।
रही हिरनी-अपछरा मुनि - साप - भय - बस मानि ।
दियौ निज-तनु त्यागि यहि बिधि अमित-काल बिताय ।
गिरी नभ सौं 'दिव्य-कुसुमन-मालिका' कौं पाय ॥८२॥
मरन - चिन्ता प्रिया की अब देहु त्यागि नरेस ।
देह - धारिन - सामुहैं है रहति बिपति हमेस;
देखियै, निज - भूमि कौं अब सोक छाँड़ि नृपाल ।
'कहत बसुधा कौं महीपति - प्रिया' जन सब काल ॥८३॥

८१—तात्पर्य यह है कि जब तक स्वर्ग का फूल न देखेगी तब तक पृथ्वी पर रहेगी ।

८२—क्रथकैशिक अर्थात् विदर्भ ।

उदये मदवाच्यमुज्झता श्रुतमाबिष्कृतमात्मवत्त्वया ।
मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरक्लीवतया प्रकाश्यताम् ॥८४॥

रुदता कुत एत्र सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते ।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् ॥८५॥

अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः ।
स्वजनाश्रु किलातिसंततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥८६॥

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥८७॥

अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम् ।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥८८॥

८४—वैभव में तुझ मद अपवाद मिटाते हुए ने जो आत्म ज्ञान प्रकाश किया था उसी को (अब) मन के ताप में फिर पुरुषार्थ से प्रकाश कर ।

८५—रोने से क्या उसके पीछे मरने से भी वह तुझे नहीं मिल सकती, परलोक जाने वाले जीवों की गति अपने अपने कर्मों के अनुसार न्यारी होती है ।

८६—निशोक मन होकर कुटुम्बिनी को पिंड इत्यादि देकर उपकार कर, अपनों के बेर बेर के आँसू प्रेत को खेद करते हैं ऐसा प्रसिद्ध कहते हैं ।

८७—मरना प्रानियों का स्वभाव है जीना अनिश्चय है, ऐता पंडितों ने कहा है, जो जीव-धारी छन मात्र भी स्वासवान है सो निस्सन्देह लाभवान है ।

८८—प्यारे के मरने को मूर्ख लोग हृदय में गड़ी हुई भालि मानते हैं परन्तु पंडित लोग उसी को कुशलता का द्वार होने के कारण (हृदय से) निकली हुई (भालि) समझते हैं ।

चढ़त - जोबन माहिं मद कौ बिभव नृपति बिहाय ।
ग्यान अध्यातम लह्यौ जो आपनैं हरषाय ।
बढ़त - मन - संताप, तासौं करिय बेगि बिनास ।
धारि पौरुष - धीरता सौ करिय तासु प्रकास ॥८४॥
मरेहु तें नहिं मिलि सकति सो, बृथा करत बिलाप ।
कर्म-बस जन, भिन्न-पथ, परलोक - निवसत आप ।
देहु पिंडोदक बिसोकी अब प्रिया के हेत ।
सुजन को नित-रुदन कहियत दुःख मृतकहिं देत ॥८५–८६॥
'मरन' स्वाभाबिक जनन कौ, 'जियन' कहिय बिकार ।
समुझि सो सब सार बुधजन करत यहै बिचार;
या दसा मैं छिनक हू जो साँस प्रानी लेत ।
तबहुँ अतुलित लाभ कौं जन स्रेय वाकौ देत ॥८७॥
मूढ़ जानत प्रिय - निधन कौं हियैं लाग्यौ बान ।
गुनत तिथि - धीताहि, निसरत - मुक्ति-द्वार-समान ॥८८॥

८८—मरने को कुशलता का द्वार इसलिए कहा कि इससे सुकर्मियों को मोक्ष मिलती है।

स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा ।
विरहः किमिवानुतापयेद्वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम् ॥८९॥
न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम गन्तुमर्हसि ।
द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः ॥९०॥
स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम् ।
तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः ॥९१॥
तेनाष्टौ परिगमिता समाः कथंचिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥९२॥

८९—जब अपना देह और आत्मा भी संयोग वियोग वाले माने गए हैं तो कहो बाहर के विषयों से अलग होना बुद्धिवानों को कैसे संताप कर सकता है ?

९०—हे जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ साधारण मनुष्यों की नाईं शोकवश होने को तू योग्य नहीं है, पेड़ और पहाड़ में क्या अन्तर है जो पवन में वे दोनों भी चलायमान हों ।

९१—"ऐसा ही है" यह कहते हुए उसने बड़े बुद्धिमान गुरू का वचन स्वीकार करके मुनि को विदा किया, घने शोक वाले हृदय में वह (वचन) जगह न पाकर उसके गुरु के पास लौट सा गया ।

९२—उस यथार्थ और मीठी वाणी वाले ने पुत्र के बालपन के कारण आठ बरस जैसे तैसे काटे, प्यारी के चित्र दर्शनों से और स्वप्नों में छनमात्र समागम के उत्सवों से ।

जब सँजोग - बियोग आत्मा - देह कौ है आप ।
पुत्र - दार - बिछोह विदुषन देइ क्यौं संताप ॥८९॥
हे जितेन्द्रिय-मनि ! करिय जनि तुच्छ जन लौं सोक ।
हंस-बंस - प्रसंस - नरपति - तिलक के नहिं जोग ।
तब कहौ परबत - बिटप मैं भेद कौन लखाय ।
जब प्रबल - परचंड - मारुत दुहुँन देय हिलाय ॥९०॥

हरिगीतिका

सुनि तबहिं अज-महिपाल-मनि गुरुबर-बचन-गुनि मानिकैं ।
लौटाय दीन्हौं शिष्य कौं बहु भाँति सौं सनमानिकैं ।
पै परम - सोकाकुल - हिये - महँ ठौर तिन पायौ नहीं ।
यहि लागि मानौं लौटि आये हुते श्री गुरुबर जहीं ॥९१॥

सार

यह बिधि सत्य-बचन-मृदु-भाखी-अज, कछु धीरज पायौ ।
गुनि, सुत है लघु-बैस बिमन आठक बरसनहिं बितायौ ।
देखत रहे चित्र भामिनि कौ स्वपन-दरस कहुँ पाई ।
बहि छिन-मिलन महा-उच्छव लौं मानि लियौ नरराई ॥९२॥

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशंकुः प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद ।
प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने ॥९३॥
सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम् ।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ॥९४॥
तीर्थोतोयव्यतिकरभवे जह्नु कन्यासरय्वोर्दे
हत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥९५॥

९३—कहते हैं कि शोक का वाण बल से उसके हृदय को पार कर गया जैसे घर की छत को बड़ का वृक्ष, प्यारी के पीछे जाने के चाव में उसने उस मृत्यु के हेतू (शोक) को भी, वैद्यों के असाध्य को भी लाभ माना ।

९४—तब भले प्रकार पढ़ाए हुए हथ्यार बाँधने योग्य कुमार को प्रजा की शास्त्र पूर्वक रक्षा विधि में उपदेश करके रोग के बुरे बास वाले शरीर को छोड़ने के इच्छामान राजा ने अन्न त्याग का नियम लिया ।

९५—गंगा और सरजू के जलों के समागम तीर्थ में देह त्याग करने से तुरन्त देवताओं की गिनती में लेख पाकर वह पहले शरीर से अधिक कान्ति मती कान्ता के साथ फिर नन्दन बन के केलि मंदिरों में विलास करने लगा ।

रोला

प्रिया-सोक के सूल नृपति - हिय कौं इमि बेध्यौ ।
जथा सौध-तल लग्यौ छितिहि पीपर-तरु भेद्यौ ।
तब गत-जीवन-बाम-अनुगमन निज - मन - ठान्यौं ।
बैद्यन - परम - असाध्य मृत्यु हेतुहि सुख मान्यौं ॥९३॥

सवैया

कौच के धारनहार कुमारैं, बिनीत कियौ बहु भाँति सिखाई ।
दीन्हीं तबै दस-स्यन्दन कौं, प्रजा-पालन की सबै नीति बताई ।
लीन्हौ हुतौ जेहि, रोगनि नैं, अपनौं चिरथाई निवास बनाई ।
वा तन कौं परत्यागिबे-काज, लियौ ब्रत लंघन कौ नरराई ॥९४॥

मनहरण

देवधुनि-सरजू कौं संगम पुनीत जहाँ, ताही थल तब देह-त्यागि अज नै दई ।
वाही पुन्य-फल के प्रभाव सौं महीपति की, गिनती अमरबृन्द माहिं तुरतै भई ।
पाय पहिलैहूँ तैं अधिक कान्ति-वारी प्रियै, रूप-सुघराई मैं जो अति सुखमामई ।
ताही संग नन्दन-कलित-कुंज-पुंजनि में, लाग्यौ करै भूप काम-केलिनि नई-नई ॥९५॥

———

॥ नवमः सर्गः ॥

पितुरनन्तरमुत्तरकोशलान्समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः ।
दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः ॥१॥

अधिगतं विधिवद्यदपालयत्प्रकृतिमण्डलमात्मकुलोचितम् ।
अभवदस्य ततो गुणवत्तरं सनगरं नगरन्ध्रकरौजसः ॥२॥

उभयमेव वदन्ति मनीषिणः समयवर्षितया कृतकर्मणाम् ।
बलनिषूदनमर्थपतिं च तं श्रमनुदं मनुदण्डधरान्वयम् ॥३॥

जनपदे न गदः पदमादधावभिभवः कुत एव सपत्नजः ।
क्षितिरभूत्फलवत्यजनन्दने शमरतेऽमरतेजसि पार्थिवे ॥४॥

नवाँ सर्ग

१—बाप के पीछे उत्तर कौशल देशों को पाकर महारथी दशरथ ने, संयम करके इन्द्रियों के जीतने वाले ने, योगियों और राजाओं के मुखिया ने, मर्यादा में रक्खा ।

२—इसीलिए कि पाये हुए को अपने कुल के योग्य विधि पूर्वक पालन किया उस कार्तिकेय सरीखे तेजस्वी का नगर सहित प्रजा मंडल अधिक गुणवान हुआ ।

३—समय वर्षापन के कारण पंडित लोग दो ही को सुकर्मियों के परिश्रम मिटाने वाले कहते हैं, बल सूदन (इन्द्र) को और मनुराजा के वंश वाले पृथ्वी पति को ।

४—देवताओं के समान तेजस्वी शान्तिचित अजनन्दन के राजा होते हुए देश में रोग ने पाँव न रक्खा, पृथ्वी फलवती हुई फिर बैरियों का डर कहाँ था ?

नवाँ सर्ग

रूप घनाक्षरी

जनक-अनन्तर समाधि-जित-इन्द्रियनैं उत्तरीय-कौसल-प्रदेसनि कौ राज्य पाय ।
संजमी-नरेसनि मैं प्रथमहि रेख जाकी, सासन-सँमार्‌यौ महारथ-दसरथ-राय ।
कुल-अनुरूप बिधिवत-प्रतिपाल कीन्ह्यौं, नगर-समेत-प्रजा-मंडल सबै दबाय ।
यातैं षडानन-सम-बिक्रम-महीपति कौ, गुनगन-सौरभ-दिगंतनि लौं फैल्यौ जाय ॥१-२॥

मनहरण

जथा - समै सुखद सलिल बरसाय दोऊ, संतत सुकर्म्मिन के स्रम कौ हरत हैं ।
याही लागि सक्र, दसरथ मनुबंसज कौ, कीरति-कलाप लोक गाइबौ करत हैं ।
सम - रत अमर - समान तेज-धारी अज-नंदन के राज में रतन बरसत हैं ।
और बैरि-बृन्दनि की चरचा चलावै कौन, जनपद–भूलि-रोग–पद न धरत हैं ॥३–४॥

२—नगर से अभिप्राय अजुध्या से है और प्रजा मंडल सब देशों को कहा है ।

दशदिगन्तजिता रघुणा यथा श्रियमपुष्यदजेन ततः परम् ।
तमधिगम्य तथैव पुनर्बभौ न न महीनमहीनपराक्रमम् ॥५॥
समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्वनियमनादसतां च नराधिपः ।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥६॥
न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु ।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत् ॥७॥
न कृपणा प्रभवत्यपि वासने न वितथा परिहासकथास्वपि ।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता ॥८॥
उदयमस्तमयं च रघूद्वहादुभयमानशिरे वसुधाधिपाः ।
स हि निदेशमलङ्घ्यतामभूत्सुहृदयोहृदयः प्रतिगर्जताम् ॥९॥

५—जैसे दसों दिशा के जीतने वाले रघु से और उसके पीछे अज से पृथ्वी ने (अपनी) शोभा बढ़ाई वैसे ही अहीन पराक्रम स्वामी को पहुँच कर अशोभित रही ।

६—समदर्शीपन से और धन बरसाने से और दुष्टों को दंड देने से राजा वरुण सहित यम और कुवेर का और तेज से सूर्य का अनुयाई हुआ ।

७—उस वैभव निमित यत्न करने वाले को न आखेट की अति ने जीता, न जुए ने, न चन्द्रमा के प्रतिविम्ब के गहने वाली मदिरा ने, और न नए यौवन वाली प्यारी ने ।

८—उस रोस रहित ने दीनता का वचन प्रभू इन्द्र से भी न कहा न मिथ्या का हँसी की बातों में भी और न कठोर अक्षर का बैरियों में भी ।

९—राजाओं ते उस रघु कुलनायक से घटाव और बढ़ाव दोनों पाये, क्योंकि वह आज्ञा उल्लंघन न करने वालों को प्यारा और सामना करने वालों को कठोर हृदय था ।

दसहूँ दिसानि के बिजेता रघु-भूपति सौं, अज सौं तथैव जेहिं बहु सुखमा लही ।
वाही भाँति दसरथ परम पराक्रमी कौं, पाय कैं कहाँ न भई महिमा-मई मही ?
क्रूरनि दबाय, सम-धन कौ बिभाजन मैं, अनुपम नीति अज-नन्दन नैं यौं गही ।
मानौं जमराज-सँग बरुन-कुबेर सोहैं, तेज में अनूप मारतंड समता रही ॥५–६॥
उन्नति के सोचत उपाय नर-नायक कौं, द्यूत-मृगया नैं कबौं स्वबस कर्यौ नहीं ।
त्यौंहीं बिधु-बिम्ब-लौं-विभूषित-सुराकौ पान, बाला नवजोवनहूँ हियकौ हर्यौ नहीं ।
बोल्यौ दीन बैननि न कोऊ अमरेसहू सौं, हासहू मैं भूलिकै असत्य कौ भस्यौ नहीं ।
क्रुद्ध हीन होत ते अराति - बृन्दहू के प्रति, परुष-बचन कबौं मुख-निकस्यौ नहीं ॥७–८॥
बसुधा की सकल महीप–मंडली नैं इमि, उभै—अस्तौदयै, दसरथ नृप सौं लयौ ।
कियौ हो बिरोध मेयौ भूप तिनहीं कौ सत्रु, मित्र भयौ तिनकौ जो सबिनय ही नयौ ॥९॥

६—अनुयाई उसको कहते हैं जो दूसरे के पीछे चले अथवा जैसा काम दूसरे ने किया वैसा आप भी करे । दसरथ समदरसीपन में अर्थात् न्याय में यम के तुल्य था, धन कुवेर की नाईं देता था, दंड देने में वरुण के समान और तेज में सूरज के तुल्य था ।

अजयदेकरथेन स मेदिनीमुदधिनेमिमधिज्यशरासनः ।
जयमघोषयदस्य तु केवलं गजवती जवतीव्रहया चमूः ॥१०॥
अवनिमेकरथेन वरूथिना जितवतः किल तस्य धनुर्भृतः ।
विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसंपदः ॥११॥
शमितपक्षबलः शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरंदरः ।
सशरवृष्टिमुचा धनुषा द्विषां स्वनवता नवतामरसाननः ॥१२॥
चरणयोर्नखरागसमृद्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिरस्पृशन् ।
नृपतयः शतशो मरुतो यथा शतमखं तमखण्डितपौरुषम् ॥१३॥
निववृते स महार्णवरोधसः सचिवकारितबालसुताञ्जलीन् ।
समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवमां पुरीम् ॥१४॥

१०—उस चढ़े हुए धनुषधारी ने एक रथ से समुद्र परयंत पृथ्वी जीती, हाथियों और तीव्र बेग घोड़ों वाली उसकी सेना ने तो केवल जय प्रगट की ।

११—कहते हैं कि बादल की नाईं गरजते हुए समुद्र उस अकेले बरुथिमान रथ से पृथ्वी जीतने वाले धनुषधारी के, कुबेर समान धनवान के जीत के नगाड़े बने ।

१२—पहाड़ों का पक्ष बल इन्द्र ने सौ अनी वाले वज्र से नाश किया, बैरियों का उस नए कमल समान मुख वाले ने टंकार करते हुए बाण वर्षी धनुष से ।

१३—सैकड़ों राजाओं ने उस अंखड पौरुष को मुकट के रत्नों की किरनों से, नखों के रंग से बढ़ी हुई चमक वालियों से, चरनों में छुआ, जैसे देवताओं ने इन्द्र को ।

१४—मंत्रियों से हाथ जुड़वाए हुए बालकों वाली, बिना अलकों वाली, बैरियों की स्त्रियों पर दया करके वह महासमुद्र के तट से अलका समान पुरी को लौटा ।

एकै-रथ-चढ़ि जीति लीन्हीं सिंधु-कूल-मही, कोप मैं सरासन जबै ही कर मैं गयौ ।
त्यौंही बर-बारन औ' तीखन-तुरंग-वारी–बिकट बरूथिनी सों बिजै-घोष ही भयौ ॥१०॥
एकै रथ चढ़ि धनुधारी अलकाधिप लौं, जीति औनि-मंडल कौं जस सिगरौ लियौ ।
वाकी बिजै-दुन्दुभी बजाइबे के हेतु मानौं, घन-रव सागरै नियत बिधि नैं कियौ ।
जा बिधि कुलिस कोटि काटि गिरि-पच्छनि कौ, पहिलैं सुरेस निजबल-परिचै दियौ ।
त्यौं ही नव-कौल-मुख-दसरथ, अरिन कौ धनुधारि-बानन-बिनास जरतैं कियौ ॥११-१२॥
पद–नख-जोति की प्रभा-सौं दमकत मंजु,—मुकुट-मनीनि-छटा परसि चरन-जोरि ।
केतिक नरेस, बलसाली दस-स्यंदन कौं, पूजत सुरेस ज्यौं, अपर देवता निहोरि ॥१३॥
कीन्हीं कृपा अलकबिहीन बैरि-बामिन पै, सचिव-निदेस-बाल रहे दोऊ कर जोरि ।
या बिधि महीप अंबुरासि-लौं धरा कौं जीति, लौटि आयौ अलकापुरी-लौं, अबधैं बहोरि॥१४

११—बरुथिमान रथ वह होता है जिसमें बैठने वाले की रक्षा हो ।

उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातपवारणः ।
श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचलामभूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः ॥१५॥
तमपहाय ककुत्स्थकुलोद्भवं पुरुषमात्मभवं च पतिव्रता ।
नृपतिमन्यमसेवत देवता सकमला कमलाघवमर्थिषु ॥१६॥
तमलभन्त पतिं पतिदेवताः शिखरिणामिव सागरमापगाः ।
मगधकोशलकेकयशासिनां दुहितरोऽपितरोपितमार्गणम् ॥१७॥
प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्बभौ तिसृभिरेव भुवं सह शक्तिभिः ।
उपगतो विनिनीषुरिव प्रजा हरिहयोऽरिहयोगविचक्षणः ॥१८॥
स किल संयुगमूर्ध्नि सहायतां मघवतः प्रतिपद्य महारथः ।
स्वभुजवीर्यमगापयदुच्छ्रितं सुरवधूरवधूतभयाः शरैः ॥१९॥

१५—और चक्रवर्ती पन पाकर भी वह अकेले स्वेत छत्र वाला, चन्द्रमा और अग्नि के समान तेज वाला, लक्ष्मी को छिद्र द्वारा जाने वाली समझ कर आलस रहित हुआ ।

१६—कमल वाली पतिव्रता देवी (लक्ष्मी) उस याचकों के सन्मान करने वाले ककुत्स्थ वंशी कों और स्वजन्मा पुरुष (विष्णु) को छोड़कर और किस राजा को सेवन करती ।

१७—मगध और कौशल और केकय (देशों) के राजाओं की प्रतिव्रता बेटियों ने वह बैरियों में बाण मारने वाला पति पाया, जैसे पहाड़ों की बेटी नदियों ने समुद्र ।

१८—शत्रुनाश के उपाय में चतुर वह उन तीनों प्यारियों के साथ शोभायमान हुआ, मानों प्रजा की रक्षा निमित पृथ्वी पर तीनों शक्तियों समेत आया हुआ इन्द्र ।

१९—कहते हैं कि उस महारथी ने रण-भूमि में इन्द्र का सहाई होकर अपनी भुजाओं का बड़ा पराक्रम सुर बधुओं से, बाणों के प्रताप से डर मिटी हुइयों से, गवाया ।

द्वादस महीप-मंडली कौ अधिराज बनि धारैं, स्वेत-छत्र सोम-अनल-प्रभालौं-भाँति ।
चंचल त्यौं पुरुष-पुरातन-तिया कौं देखि, आरस बिसारि भयौ सजग सबैही भाँति ॥१५॥
या बिधि ककुस्थ-कुल-कुमुद-कला-धर कौं, अरु पुरुषोत्तममैं बिहाय जो पै इतराति ।
ऐसे प्रनतारत-हरनैं छाड़ि रमा कहौ, दूसरे महीपति की कैसै धौं सरनि जाति ॥१६॥
तीखन-नराचन-बिपुल बरसाय जानैं, बैरिन-समूहनि कौं रन बिचलायौ है ।
वाही दसरथ कौं मगध-कैकै-कौसलकी, राज-तनयानि सरि-सिन्धु-पति पायौ है ।
कौसिला-सुमित्रा अरु कैकेई कौ पानि-गहि, भूमिगत सक्तिजुत इन्द्र-लौं सुहायौ है ।
सत्रुन-बिनासन मैं चतुर–महीपति नैं या बिधि बिनीत निज प्रजहिं बनायौ है ॥१७–१८॥
महारथि-दसरथ, मघवा-सहायता मैं, रन-बीच बाननि की ऐसी झरि ल्यायौ है ।
जासौं भीति-सकल भजाय देव-दारनि की, अपनौं सुजस-गान तिनसौं गवायौ है ॥१९॥

१५—अकेले स्वेत छत्र से तात्पर्य यह है कि उसके सामने कोई दूसरा छत्रपती न था । लक्ष्मी दोष लगाकर मनुष्य के पास से जाती है इसलिए दशरथ ने आलस दोष छोड़ा ।

१८—तीन शक्ति अर्थात प्रभाव, मंत्र, उत्साह ।

क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना कृताः ।
कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसासरयूतटाः ॥२०॥
अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम् ।
अधिवसँस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ॥२१॥
अवभृथप्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितः ।
नमयति स्म स केवलमुन्नतं वनमुचे नमुचेररये शिरः ॥२२॥
असकृदेकरथेन तरस्विना हरिहयाग्रसरेण धनुर्भृता ।
दिनकराभिमुखा रणरेणवो रूरुधिरे रुधिरेण सुरद्विषाम् ॥२३॥
अथ समाववृते कुसुमैर्ननैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम् ।
यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरञ्चितविक्रमम् ॥२४॥

२०—यज्ञ में मुकट उतारे हुए ने, दिशाओं की सम्पति भुजाओं से इकट्ठी करने वाले ने, तमोगुण रहित ने, तमसा और सरजू के तटों को सोने के ऊँचे खम्बों से शोभायमान किया ।

२१—मृगचर्म और दंड रखने वाले, कुशा की मेखला वाले, बाणी जीते हुए, हिरण का सींग लिये हुए, यज्ञ की दीक्षा पाये हुए, (उसके) शरीर में प्रवेश करके महादेव जी ने उसको अनूपम कान्ति से शोभित किया ।

२२—उस (दशरथ) ने, यज्ञ के अन्तस्नान से पवित्रता पाए हुए ने, इन्द्रियों के जीतने वाले ने, देवताओं की सभा में बैठने योग्य ने, ऊँचा सिर केवल नमुची के बैरी जल बरसाने वाले (इन्द्र) ही को झुकाया ।

२३—एक रथी बलवान ने, इन्द्र के आगे चलने वाले धनुषधारी ने, अनेक वेर सूरज के सामने छाई हुई रण धूल दैत्यों के लोहू से निवारण करदी ।

२४—अब नए फूलों सहित बसन्त आया मानो यम और कुवेर और वरुण और इन्द्र के समान उस धुरंधर चक्रवर्ती को, प्रशंसा योग्य पराक्रमी को, सेवा करने के लिए ।

दीन्हौं मौलि-मुकुट बिहाय, मख-माहिं जेहिं, दसौं-दिसा सौं जो भुजबल-धन लायौ है ।
वा ही बिजै-सूचक अनेकन कनक-जूप, तमसा-सरजू-सरि-कूलनि गड़ायौ है ॥२०॥
धारैं स्याम-मृग कौं अजिन, दंड गूलर कौ, मूँज-मेखला, औ' बाच-संजम सुहायौ है ।
राजत कुरंग को बिषान मख-दीक्षा लिए, दसरथ-बपु-धारी सम्भु छबि-छायौ है ।
अवभृथ-न्हाये-पूत-भूपति-जितेन्द्रिय नैं, सुरन-समाज बैठि सोभै दरसायौ है ।
आपनौ समुन्नत लिलार त्यौं सुरेस ही कौं, समुद नवायौ जानैं नीर बरसायौ है ॥२१-२२॥
एकै-रथ सक्र के अगारी धनुधारी नृप, चलत अपार निज ओज दरसायौ है ।
बानन-प्रहारि, रबि-रुख-रन-रेनु-रासि, देव-अरि-रुधिर बहाय के दबायौ है ।
तेज माहिं बरुन-कुबेर-इन्द्र ही के सम, भूप बलसाली चक्रवर्ति जो कहायौ है ।
नूतन प्रसून-साज लीन्हैं ताहि पुजन कौ, मानौं सुद मानि रितु-राज चलि आयौ है ॥२३-२४॥

२०—अर्थात् यज्ञ खम्ब बनवाए ।

जिगमिषुर्धनपाध्युषितां दिशं रथयुजा परिवर्तितवाहनः ।
दिनमुखानि रविर्हिमनिग्रहैर्विमलयन्मलयं नगमत्यजत् ॥२५॥
कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम् ।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥२६॥
नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः ।
अभिययुः सरसो मधुसंभृतां कमलिनीमलिनीरपतत्त्रिणः ॥२७॥
कुसुममेव केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम् ।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥२८॥
विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः ।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरबका रवकारणतां ययुः ॥२९॥

२५—धनपति (कुवेर) के बसने की दिशा को चलने के इच्छामान सूरज ने, अरुण के रथ फेरे हुए ने, शीत मिटाने से प्रभातों को विमल करते हुए मलय पहाड़ छोड़ा ।

२६—(पहले) फूलों का जन्म तिस पीछे नई कोंपल फिर भोंरों और कोयलों का शब्द, इस क्रम से वृक्षों की बन भूमि में उतर कर बसन्त ने दिखाई दी ।

२७—बसन्त की पुष्ट की हुई सरोवर की कमलिनी के पास भोंरे और जल के पक्षी गए, जैसे नीति के गुणों से बढ़ाई हुई सत्पुरुषों के उपकार फल वाली राजा की लक्ष्मी के पास याचक लोग ।

२८—केवल ऋतु में लिखा हुआ अशोक का नया फूल ही नहीं नायका के नाप पर रक्खा हुआ, रसिकों को मद करने वाला, कोंपलों का गुच्छा भी काम का उद्दीपक हुआ ।

२९—उपबन की शोभा में बसन्त के रचाए हुए नए सिंगार सदृश कुरवक, मधु का दान देने में चतुर भोंरों की गुंजार के कारण हुए ।

धनद-दिसा कौं जाइबे की साध धारि-हिय,जाके बर - बाजिन अरुन पलटायौ है ।
हिमहिं निवारि द्यौस-मुखनि बनाय मंजु, त्यागि मलयाचल दिनेस चलि आयौ है ।
प्रथम प्रसून, पुनि पल्लव-नवल दीसे, षटपद-कोकिल मुदित-मन गायौ है ।
या बिधि जथा-क्रम अवनि द्रुम-संकुला पै, आय रितुराज नैं प्रभाव दरसायौ है ॥२५-२६॥

रूपघनाक्षरी

नीति-गुन-संचिता सुजन-उपकार-फला,राजलच्छिमी पै बहु जाचक यौं जान लगे ।
जिमि रितुराज-पुष्ट-सर-बर कंजनि पै, मुदित मलिंद औ' मराल मँडरान लगे ।
रितुराज-जानि वे अशोक-बिटपन वारे, नूतन-सुमन ही न ह्वै कै काम-बान लगे ।
कामिनी-करन-अवतंस किसलै के गुच्छ, अब मद-दायक अमित रसियान लगे ॥२७-२८॥

मनहरण

उपबन-सोभा-माहिं पत्र-रचना के सम, जिनकौं रुचिर रितुराज निरमायौ है ।
उन कुरबकनि कुसल-मधु-दान मैं ह्वै, मुखरित-मधुकर-बृंदनि बनायौ है ॥२९॥

सुवदनावदनासवसंभृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः ।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतङ्क्तिभिः ॥३०॥
उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके ।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयापितलज्जया ॥३१॥
व्रणगुरुप्रमदाधरदुसहं जघननिर्विषयीकृतमेखलम् ।
न खलु तावदशेषमपोहितुं रविरलं विरलं कृतवान्हिमम् ॥३२॥
अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा ।
अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥३३॥
प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः ।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मिता वनराजिषु ॥३४॥

३०—कामिनी के मुख की मदिरा से उत्पन्न होने वाले मौरे ने, उसी के से गुणों वाले ने, मधु के लोभी लम्बी पंक्ति वाले भौंरों से वकुल वृक्ष भर दिया ।

३१—शिशिरान्त (अर्थात बसन्त) को लक्ष्मी का दिया हुआ कलियों का गुच्छा पलास में शोभायमान हुआ, मानो मद से लाज छोड़ी हुई प्रमदा का प्यारे में दिया हुआ नखच्छद का गहना ।

३२—कामिनी के घायल होठों को दुःसह, जाँघों से तागड़ी दूर कराने वाला, शीत तब तक सूरज से सर्वथा मिटाया नहीं गया, घटा दिया गया था ।

३३—रिझावनियों के अभ्यास में परिश्रम करने वाली (कंचनी) की नाईं मलयागिर की पवन से हिलते हुए पत्तों वाली मौरी हुई आम की लता ने काम और कलह जीते हुओं को भी मन मत कर दिया ।

३४—पहले ही कुछ् कुछ कहे हुए कोयलों के छोटे छोटे आलाप मुग्धा नायका के वचनों की नाईं बन की फूली हुई सुगन्धित पंक्तियों में सुनाई दिए ।

लहि कै जनम कामिनी के मुख-आसव सौं, कुसुमनि जाके गंध ही सौं गुन पायौ है ।
बकुलहिं भौंर-मालिका मैं घेरि लीन्ह्यौं आनि, जिन मधु-हेतु लोभ अधिक दिखायौ है ॥३०॥
सिसिर-अपागम की सोभा सौं मुकुल-जाल,मंजुल-पलासनि मैं या बिधि सुहायौ है ।
मानौं लाज-त्यागी-माती कामिनी नखच्छदनि,नायक के अंगनि अमित-छबि छायौ है॥३१॥
भामिनी के छत अधरानि पै लगत तीखौ, कटि-तट करधनी कलित हटायौ है ।
वाही हिमरासि कौं न दिनमनि नास्यौ तौहूँ,ताकी चंडता कौ तानैं कछुक घटायौ है॥३२॥
अभिनय-काज मैं चतुर वार-अंगना-लौं, मंद-मलै-मारुत लगे तैं सिहरै लगी ।
मंजु-सहकार की लता हू मंजरीन जुत, कल-काम जेता हियैं मदन भरैं लगी ।
सुरभित कुसुमित बन-राजि माहिं कछु, कोकिला की मद-कल-कूजनि अरैं लगी ।
मुगधा-बहूनि की अलप बतियानि-सम, आय अब लोगनि के कानन परैं लगी ॥३३-३४॥

३०—कहते हैं कि जब तक सौभाग्यवती युवान स्त्री के मुँह का कुल्ला ऊपर न पड़े वकुल वृक्ष में फल नहीं आता है ।

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥३५॥
ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम् ।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ॥३६॥
शुशुभिरे स्मितचारुतराननास्त्रियइव श्लथशिञ्जितमेखलाः ।
विकचतामरसा गृहदीर्धिका मदकलोदकलोलविहंगमाः ॥३७॥
उपययौ तनुतां मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छबिः ।
सदृशमिष्टसमागमनिर्वृतिं वनितयानितया रजनीवधूः ॥३८॥
अपतुषारतया विशदप्रभैः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः ।
कुसुमचापमतेजयदंशुभिर्हिमकरो मकरोर्जितकेतनम् ॥३९॥

३५—भौंरों के मधुर गुंजार रुपी गीतों वाली, फूलों रूपी कोमल दन्तकान्ति वाली, उपवन तीर की लता पवन की हिलाई हुई कोंपलों से शोभायमान हुई, मानों भाव बताते हुए हाथों से ।

३६—अच्छे हाव भाव कराने में चतुर, सुगन्धि में वकुल पुष्प का जीतने वाला, कामदेव का सखा, प्यारों में रस भंग का वरजने वाला, मधु अंगनाओं ने पिया ।

३७—मुसकाहट से अधिक सुन्दरता पाए हुए मुखों वाली, बजती हुई ढीली तागड़ी वाली, स्त्रियों की नाईं खिले कमलों वाली, मधुर अलापी जल कलीली पक्षियों वाली घर की बावड़ियाँ शोभायमान हुई ।

३८—बसन्त की खंडित की हुई, चन्द्रमा के उदय में पीले मुखवाली, रात्रि रुपी नायका छीनता को पहुँची, जैसे प्यारे के समागम का सुख प्राप्त न होने वाली (खंडिता) स्त्री ।

३९—तुषार मिटने से उज्ज्वल चमक वाली, परिश्रम को दूर करने वाली किरनों से चन्द्रमा ने फूल के धनुष वाला मकर की ऊँची ऊँची ध्वजा वाला (कामदेव) दीप्तमान किया ।

स्रवन-सुखद भौंर गुंजन-मधुर गीत, कोमल-कुसुम - दल-दंत-पंक्ति जाकी हैं ।
त्यौं हीं तरु किसलै करनि पौन प्रेरित ह्वै, ताल देत उपबन लता-बेस-बाँकी है ।
विभ्रम बिलास दरसैबै मैं चतुर चारु, मद मधुगंध सौ बकुल छबि-नाकी हैं ।
नेह-भंग कीन्हैं बिनु-मैन-मीत सोई मधु,पियैं पति संग-बाम-प्रेम-रस छाकी हैं ॥३५-३६॥
बिकसे बनज, कल कूजत-सलिल-खग, सौही गृह बापिन अमित छबि धारि कैं ।
झनकत ढीली तागरी की कोऊ नारि मानौं, बिहँसत मद हास-सुमन बगारि कैं ।
छीन होति-जाति मधु-खंडिता-रजनि-बाम, चंद-उदै-पीत-मुख-सोभा निरधारि कैं ।
खंडिता-तिया-लौं अब छामता गहत जात,पीतम-समागम बिना हीं हिय हारि कैं॥३७-३८॥
करनि-हटावत सुरत-स्रम बामनि कौ, बिसद-प्रभाति-सौं तुषारहिं निवारि कैं ।
चंड करि देत झख-केतन, कुसुम-चाप, ससि सीत-मालिका मरीचिन की डारि कैं । ३९॥

३८—खंडित की हुई अर्थात् घटाई हुई ।

हुतड्डताशनदीप्ति वनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत् ।
युवतयः कुसुमं दधुराहित तदलके दलकेसरपेशलम् ॥४०॥
अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कित ।
नखलुशोभयति स्म वनस्थलींन तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥४१॥
अमदयन्मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसंगतया मनः ।
कुसुमसंभृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुबिलासिनी ॥४२॥
अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवांकुरैः ।
परभृताविरुतैश्च बिलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः ॥४३॥
उपचितावयवा शुचिभिः कणैरलिकदम्बकयोगमुपेयुषी ।
सदृशकान्तिरलक्ष्यत मंजरी तिलकजालकजालकमौक्तिकैः ॥४४॥

४०—जो फूल हवन की अग्नि के समान चमकता हुआ सुन्दर पत्तों और केसरों वाला बन की शोभा के लिये सोने के गहने की ठौर था वह युवतियों ने प्यारों से पाकर अलकों में रक्खा ।

४१—काजल की बूँद समान मनोहर भौंरों से, फूलों की पंक्तियों पर बैठे हुओं से, चिन्हत तिलक वृक्ष ने बन स्थल को अशोमित न किया, जैसे दिठौने ने कामिनी को ।

४२—वृक्ष की अच्छी बधू नवमल्लिका ने मधुर मुसकान से मधु की गंधि वाली से, किसलय रुपी होठों पर पड़ी हुई से, फूलों से रची हुई से, मन को मत्त किया ।

४३—अरुण के रंग को तिरस्कार करने वाले वस्त्रों ने और कानों में स्थान पाए हुए यवांकुरों ने और कोयलों के शब्दों ने कामदेव की (इस) सेना ने रसिये निरे स्त्री रस में आसक्त कर दिए ।

४४—पराग के उज्ज्वल कणों से भरी हुई, भौरों के समाज का साथ पाई हुई, तिलक वृक्ष की मंजरी मोतियों में गुथे हुए अलक जाल के समान कान्तिमान दिखाई दी ।

प्रतिनिधि ह्वै कैं बनस्त्री कौं स्रौंन-भूखन कौ, ज्वलत-हुतासन-समान प्रभा धारिकै ।
पल्लव-सुकेसर-बलित मंजु फूलनि सौं, भामिनी रही हैं केस-पासनि सँवारि कैं ।४०॥
कज्जल-कलित बर-बुंद-लौं भँवर-भीर, सुमन-समूहनि के अंकनि परै लगी ।
त्यौं हीं प्रमदानि भाल-मंजुल-तिलक-सम, तिलकावली हूँ सोभा अमित भरै लगी ।
अरु किसलै-से अधरानि पै सुमधु-गंधि मंजुल-सुमन-मुसकानि कौं धरै लगी ।
बिटप-बिलासिनी-नवल-मल्लिका-यौ मंजु,जन-मन-मानस कौं स-मद करै लगी ॥४१-४२॥
अरुन-प्रभा के चोर सुरँग-दुकूलन सौं, धारे जव-अंकुर स्रवनि छबि छाय कैं ।
पंचम सुताननि सौं त्यौं ही काक-पालिनकी, उरझ्यौ तिया मैं रसिया कौ मन आय कैं ॥४३॥
त्यों ही मकरंद-कन-बलित-तिलक-तरु-मंजरी मलिंदन की भीरनि कौ पाय कैं ।
राजत बिसद बनिता की बर-बैनी-सम, गूँथी मनौं मोतिन की मालनि बनाय कैं ॥४४॥

४१—तिलक एक प्रकार का वृक्ष होता है जिसको श्रीमान भी कहते हैं ।

४३—युवांकुर=जौ के अंकुर ।

ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छबिकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः ।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ॥४५॥

अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः ॥४६॥

त्यजत मानमलं वत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥४७॥

अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः ।
नरपतिश्चकमे मृगयारतिं स मधुमन्मधुमन्मथसंनिभः ॥४८॥

परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम् ।
श्रमजयात्प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ॥४९॥

४५—भौंरों के झुंड पीछे गए कुसुम केसर की रज के, उपवन में पवन के साथ उठी हुई के, धनुषधारी कामदेव की ध्वजा के, ऋतुश्री के मुख को शोभित करने वाले कुमकुम के ।

४६—झूले का नया ऋतु उत्सव करती हुई अवलाओं ने चतुर होकर भी प्यारे के गले लगने के चाव से रस्सी पकड़ने में बाँह लता ढीली कर दी ।

४७—"विरोध रहने दो, मान त्यागो, गई चतुर वैस फिर नहीं आती है" मानो इस प्रकार कामदेव का मनोरथ कोयलों के निवेदन करने पर बधू जनों ने विलास किया ।

४८—फिर आनन्द पूर्वक ऋतु उत्सव देखकर उस राजा ने, स्त्रियों के साथी ने, मधुसूदन और बसन्त और कामदेव के समान ने, मृगया बिहार की इच्छा की ।

४९—वह (मृगया) चलते हुए बेझों के मारने में चतुर करती है, उन में भय और रोस के चिन्ह दिखाती है, और श्रम जीतने से शरीर को अच्छे गुणों वाला करती है, इसलिए मंत्रियों के साथ मता करके वह चला ।

सोहत मदन-धनुधारी-धुज-पट-सम, करि रितु स्त्रिय-मुख-चूरन-प्रभा कौ मंद ।
त्यौं हीं पौन-जुत उपबन-जात-फूलनि के,केसरि की रेनु पीछूँ लागे फिरैं अलि बृन्द ॥४५॥

नूतन-हिँडोरनि की झूलनि-उछाह माहिं,बालम-हिये-सौं लागिवै की साध कै अमंद ।
पाटकी सुडोरि गहिबे मैं नौल नागरिन,दीन्हैं करि सिथिल मृनाल-सी भुजानि बंद ॥४६॥

बधूजन ! छाँड़ौं मान, त्यागहु बिरोध हू कौं आइ हैं नवल-बैस अब न बहौरि कैं ।
मदन-सँदेस यौं सुनत काक-पालिन सौं, कीन्हैं काम-केलि बाम पियहिं निहोरिकैं ॥४७॥

ऐसैं मनमान्यौं लै अनंद बसंतोच्छव कौं, प्रिय-बनितानि सौं अमित हित जोरि कैं ।
हरि-मधु-मन्मथ-सरिस दसस्यन्दन नैं, चाह्यौ मृगयानँद सबै सौं मुख मोरि कैं ॥४८॥

परिचय देत चल लच्छ के निपातन मैं, पसु-भय-रोस-रुख-बोधन जनावै है ।
सचिव-निदेस मानि गौन्यौं मृगया के हेतु, श्रम जय सौं जो तनु सुंदर बनावै है ॥४९॥

मृगवनोपगमक्षमवेषभृद्विपुलकण्ठनिषक्तशरासनः ।
गगनमश्वखुरोद्धतरेणुभिर्नृसविता स वितानमिवाकरोत् ॥५०॥
ग्रथितमौलिरसौ वनमालया तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः ।
तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलो विरुरुचे रुरुचेष्टितभूमिषु ॥५१॥
तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसंक्रमितेक्षणवृत्तयः ।
ददृशुरध्वनि तं वनदेवताः सुनयनं नयनन्दितकोशलम् ॥५२॥
श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतावलदस्यु विवेश सः ।
स्थिरतुरंगमभूमि निपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम् ॥५३॥
अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिङ्गतडिद्गुणसंयुतम् ।
धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोषितकेसरी ॥५४॥

५०—मृगों के बन में जाने योग्य भेस धरे हुए, मनोहर गले में धनुष डाले हुए, उस नर सूरज ने घोड़ों के पैरों की उठाई हुई धूल से आकाश को चंदोवा तना हुआ सा कर दिया ।

५१—वह बनमाला से गुथे हुए जूड़ेवाला, रूख के पत्तों के रंग के कवच वाला, घोड़े के कूदने से हिलते हुए कुंडल वाला, रुरु (जाति के) हरिणों की खूँदी हुई भूमि में सुशोभित हुआ ।

५२—पतली लताओं में शरीर रक्खे हुए, भौरों में आँखों की वृत्ति लाए हुए, वन देवताओं ने मार्ग में वह अच्छी आँखों वाला नीति करके कौशल को प्रसन्न रखने वाला देखा ।

५३—कुत्तों के रखवालों और जाल में चलने वालों के पहले पहुँचे हुए बन में, चोर और अग्नि से रहित में, घोड़ों के योग्य कड़ी भूमि वाले में, जलाशय वाले में, मृगों और पक्षियों और रोझों से भरे हुए में, वह पहुँचा ।

५४—तब उस नरोतम ने, टंकार से नाहरों को रोस दिलाने वाले ने, मन की विथा से रहित ने, चढ़ी प्रत्यंचा का धनुष लिया, जैसे भाद्रपद (महीने) ने पीला सुनहरी बिजली प्रत्यंचा वाला इन्द्र धनुष ।

मृग-बन-गमन-रुचिर-बर-बेष कीन्हैं, बिपुल-सुकंठ मैं सरासन सुहावै है ।
बाजि-टाप-रेनु सौं तनावत बितान नभ, नर-सविता-लौं भूप अति छबि छावै है ॥५०॥
बाँध्यौं सीस-केसति सँवारि बन-मालिनि सौं, बिटप-पलास-रंग पट छबि छावै हैं ।
आयौं रुरु-सेवित-अवनि दसरथ-भूप, हलत तुरंग-बेग कुंडल सुहावै हैं ॥५१॥
जोरै-लोला-लोयनि मलिंद-मलिकानि-दिसि,सूछम-लतानि तिज-गातनि छिपावै हैं ।
देख्यौं बन-देबिन नयन-भरि अज सुतैं, कोसलैं स्वनीति सौं जो मुदित बनावै हैं ॥५२॥
लीन्हैं स्वान-जालनि सिधारे पहिलैं हीं जन, डाकुन-अनल कौ न कहूँ जहाँ नाम है ।
बाजि-गौन-जोग-जल-संकुल-अवनि जहाँ, खग-मृग-गऊ-बन-जंतुन कौ धाम है ॥५३॥
भूप-मन-ब्याधि-हीन इमि चंड-चाप-घोष, रोष सौं जगायौ जहाँ सिंह बल-धाम हैं ।
धारैं भादौ-मास लौ रुचिर इंद्र-धनु जामैं, हेम, बिज्जु सिंचिनी लसत अभिराम है ॥५४॥

५०—धूल ऐसी छा गई मानो शामियाना तना है ।

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावै-र्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥५५॥

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्ति ।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः ॥५६॥

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी वाणंकृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार ॥५७॥

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः कर्णान्तमेत्य विभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः ।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरयत्सु नेत्रैः प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥५८॥

५५—थनों में प्यार रखने वाले बच्चों से बार बार चलना रुकी हुई हरिणियों वाला, घास भरे हुए मुखों वाला, अगाड़ी चलते हुए गर्वित करसायल वाला मृग झुंड उसके सामने दिखाई दिया ।

५६—तब बेगमान घोड़े पर चढ़े हुए निषंग के मुख से बाण निकालते हुए राजा का दपटा हुआ और पंक्ति टूटा हुआ वह (झुँड) आँसूओं से भीगी हुई भयभीत दृष्टियों से बन को स्याम करने वाला हुआ, मानो पवन के झकोरे हुए नील कमल की पंखड़ियों के ढेर से ।

५७—बेझे पर आए हुए हरिण का शरीर आड़ में लेकर खड़ी हुई हरिणी को देख उस इन्द्र समान बलवान धनुषधारी ने, कामीपन के कारण दयालु हृदय वाले ने कान तक खेंचा हुआ भी बाण उतार लिया ।

५८—डर के मरे अति चलायमान सुघड़ नेत्रों से चतुर प्यारी की आँखों का कटाक्ष सुध करके दूसरे हरिणों पर बाण छोड़ने के उस इच्छामान की कड़ी मुट्ठी भी कान तक जाकर ढीली हो गई ।

रौकै लगै गति मृग-छौनैं-छीर-पान-हित,हरिनीनि-जूहै,भूप भ्रमत बिलोक्यौ जाय ।
त्यौं हीं मुख-दाबै-कुस, दौरत कुरंग-गन,आगैं अभिमानी करसायल पर्‌यौ लखाय ॥५५॥

काढ़ि कैं निखंग सौं बिसिख तीव्र-बाजि-गामी,दपट्यौ महीप भाज्यौ मृग-कुल भहराय ।
कीन्ह्यौं बन स्याम भूप आतुर दृगन देखि,मानौं सीत-पौन-लगैं, इन्दीबर बिखराय ॥५६॥

देख्यौ लच्छ कीन्हैं-मृग-मृगियै अगाऊँ ठाढ़ी आड़े-निज-गातनि बचैवे काज नाह कौं ।
खैंचि चाप कानलौंन छाँड़्यौ बानबाकी ओर, सकल बिसारिताहि मारन की चाह कौं ।
स्रोननि लौ खैंचि बान दीन्हीं करि ढीली मुठी, अपर कुरंगनि-निपातन उमाह कौं ।
तिनके बिलोकि चारु-चंचल-चपल-नैन, आयें प्रिया-लोचन-सुरति नर-नाह कौं ॥५७-५८॥

उत्तस्थुषः सपदि पल्वलपङ्कमध्यान्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम् ।
जग्राह स द्रुतवराहकुलस्यमार्गं सुव्यक्तमार्द्रपदपङ्क्तिभिरायताभिः ॥५९॥
तं वाहनादवनतोत्तरकायमीषद्विध्यन्तमुद्धतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः ।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा वृक्षेषु बिद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु ॥६०॥
तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः ।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्खस्तं पातयां प्रथम मास पपात पश्चात् ॥६१॥
प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गान्खड्गाँश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः ।
शृङ्गं सदृप्तविनयाधिकृतः परेषामत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः ॥६२॥
व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान् ।
शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषात्तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान् ॥६३॥

५९—कुंड की कीच से निकल कर तुरन्त भागे हुए सूअरों के झुंड का मार्ग, मोथे के अंकुरों के ग्रास बिछा हुआ, भीगे खोजों की लम्बी लकीरों से सहज दिखाई देने वाला, उसने लिया ।

६०—घोड़े से अगला शरीर कुछ झुकाए हुए उस (राजा) पर, (वाणों से) बेघते हुए पर, धावा करने के इच्छामान खड़े केशों वाले सूअरों ने अपने को उसके वाणों से जाँघ रक्खे हुए वृक्षों में सहज बिधा हुआ न जाना ।

६१—मारने के लिये सामने आते हुए सूअर ने भैंसे की आँख के बीच में उसका खेंच कर छोड़ा हुआ बाण शरीर बेधकर पूँछ में लोहू लगे बिना ही पहले उसे गिराकर पीछे गिरा ।

६२—राजा ने पैने वाणों से सींग काट कर बहुतेरे गेंडे हलके सिर वाले कर दिये, अभिमानियों के दबाने में उद्यत वह बैरियों के अति ऊँचे पन को न सह सका न कि बड़ी आयु को ।

६३—उस निडर ने गुफाओं से सामने आते हुए सिंघ को पवन की गिराई हुई असन (वृक्ष) की फूली डालियों के समान हाथ के समान हाथ के हलके पन के अभ्यास से पल भर में बाणों से भरे हुए अभ्यास से पल भर में बाणों से भरे हुए मुख वाले निषंग बना दिये ।

लीन्हौं गहि मारगहिं कौलनि-कलापनि कौ, पोखरिन-पंक-त्यागि जौन अबै धाये हैं ।
भीजे बड़े पायन की पाँति दरसावै पथ, मौथनि के अंकुर चहूँघाँ बगराये हैं ।
कछुक बढ़ायें-पूर्ब-काया-बाजि-पीठि बैठौ, सरनि-चलावत, हनन-हिय-लाये हैं ।
ठाढ़ी-रोम राजि, जड़ी-सर सौं बिटप-जाँघ, सहसा बराह यह जानिहूँ न पाये हैं ॥५९-६०॥
तानि बान मारौ बन-महिख बिलोचन मैं, मारैं-काज भूपहिं करत जो बिचार हो ।
सोनित-न-लाग्यौ-पंख प्रथम गिराय ताहिं, भेदि-गात बिसिख परौ ही ओहिं पार हो ।
तीखन नराचनि-प्रहारि खंग-सीसनि तैं, काटि सृंग बृंदनि हटायौ कछू भार हो ।
कीन्हौं चिर-आयु-सौं न रंचक अनख भूप, दर्प-अभिमानिन को कीन्हौजारि छार है॥६१-६२॥
पौन-प्रेरी-सरज-बिटप-टूटी-फुनग-लौं, देख्यौ नृप, गुहनि-सौं बाघ जूह धायौ है ।
तिनके मुखनि-छन माहिं कर-कौसल सौं, बानन-सौं-पूरित-निखंग-लौं बनायौ है ॥६३॥

निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनाञ्जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान् ।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभूद्वीर्योदग्रे राजशब्दे मृगेषु ॥६४॥
तान्हत्वा गजकुलबद्धतीव्रवैरान्काकुत्स्थः कुटिलनखाग्रलग्नमुक्तान् ।
आत्मानं रणकृतकर्मणां गजानामानृण्यं गतमिव नार्गणैरमँस्त ॥६५॥
चमरान्परितः प्रवर्तिताश्वः क्वचिदाकर्णविकृष्टभल्लवर्षी ।
नृपतीनिव तान्वियोज्य सद्यः सितबालव्यजनैर्जगाम शान्तिम् ॥६६॥
अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णेरतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥६७॥
तस्य कर्कशविहारसंभवं स्वेदमाननविलग्नजालकम् ।
आचचाम सतुषारशीकरो भिन्नपल्लवपुटो वनानिलः ॥६८॥

६४—कुंजों में लेटे हुए नाहरों के मारने के इच्छामान निर्घात की नाईं भयानक शब्द करने वाली प्रत्यंचा की टंकारों में (उनको) रोस दिलाया, क्योंकि पशुओं में वीरता से पाई हुई उनकी राज पदवी पर ईर्षा मान था ।

६५—गज कुल में कठोर बैर रखने वाले उन नाहरों को मोती लगे हुए टेढ़े नख वालों को, वाण से मार कर दशरथ ने अपने तईं रण उपकारी हाथियों की अऋता को पहुँचा हुआ माना ।

६६—एक बेर चमरी मृगों पर घोड़ा दौड़ा कर उस कान तक खेंचे हुए वाण बरसाने वाले ने उनको राजाओं की नाईं स्वेत चमरों से रहित करके तुरन्त शांति पाई ।

६७—रंग बिरंगी माला से गुथे हुए, बिहार समय बन्धन खुले हुए, प्यारी के जूड़े पर तुरन्त ध्यान लाकर उसने सुन्दर पूँछ वाला मोर घोड़े के पास से उड़ा हुआ भी वाण का बेझा न बनाया ।

६८—कठिन परिश्रम से निकले हुए, मुख पर छाए हुए, उसके पसीने को पत्तों के मुँह खोलने वाली, शीतल जल के कणों वाली, बन की पवन ने दूर किया ।

असनि-निघात-लौं-सरासन-टँकोरनि-सौं, कुँज-गत-केसरिन क्रोध भरकायौ है ।
पायौ भुज-बल-सौं बिजय बनचारिन पै, तिन-राज-पद पै अनख यौं दिखायौ है ॥६४॥

रूपघनाक्षरी

जिनके नखानि-बक्र लागे गज-मोती बहु, करि-कुल-बुद्ध-बैर-सिंघनि कौं बिनसाय ।
कृत-रन-काज तिन-बारन-समूहनि सौं, मान्यौं उपकार-सौं उरिन दसरथ-राय ॥६५॥
बाजिहिं बढ़ाय कहूँ चमर-कुरंगनि पै स्रौन लगि तानि सर-भल्लुकनि-घाल्यौ धाय ।
भूपति-लौं तिनके गिराय स्वेत चामरनि, कछुक-बिराम लीन्हौं याहि बिधि सांति पाय ॥६६॥

मनहरण

तुरँग-समीप आय उड़न मयूर लाग्यौ, रुचिर-कलापिहिं न मार्‌यौ लच्छ करिकैं ।
बिबिध-प्रसूननि की मालनि सौं गूँथी रति-बिगलित-बेनी प्रिय-बामा की सुमिरि कैं ।
या बिधि कठिन-मृगया के स्रम-कारन हीं, आये स्वेद-बिंदु भूप आनन पै ढरि कैं ।
सीत-जल-कन-जुत-बन-पौन सेयौ ताहिं, पल्लव-कलिन जो खिलावै मोद भरिकैं ॥६७–६८॥

६४—बिजली कड़क को निर्घात कहते हैं। नाहर ने अपने पराक्रमों से पशुओं में राजपदवी पाई है इससे दसरथ ने ईर्षा मान कर नाहर मारे ।

६५—मोती लगे हुए अर्थात् गज मुक्ता लगे हुए ।

इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम् ।
परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥६९॥
स ललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम् ।
नरपतिरतिवाहयांबभूव क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम् ॥७०॥
उषसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः ।
अरमत मधुराणि तत्र शृण्वन्विहगविकूजितबन्दिमङ्गलानि ॥७१॥
अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः ।
श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदीं तुरंगमेण ॥७२॥
कुम्भपूरणभवः पटुरुच्चैरुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्याः ।
तत्र स द्विरदबृंहितशङ्की शब्दपातिनमिषुं विससर्ज ॥७३॥

६९—इस भाँति अपने और सब काम भूले हुए, मंत्रियों पर बोझ डाले हुए निरन्तर सेवा से अनुराग बढ़े हुए, राजा को मृगया ने चतुर कामिनी की नाईं बस किया।

७०—उस राजा ने सुन्दर फूल पत्तों की शय्या वाली चमकती हुई महोषधि के दीपकों वाली, रात कभी-कभी बिना सेवकों के बिताई।

७१—प्रातःकाल अच्छे ढोलों की भाँति ध्वनि करती हुई हाथियों की कर्ण तालों से उस जगे हुए ने पक्षियों के गाए मीठे बन्दी मंगल सुनकर मन बहलाया।

७२—एक बेर बन में हरिण का पीछा करता हुआ सेवकों से अलग होकर पसीने के झाग डालते हुए घोड़े सहित तपस्वियों से भरी हुई तमसा नदी पर पहुँचा।

७३—उसके जल में मनोहर ऊँचा शब्द घड़ा भरने से उत्पन्न हुआ। हाथी की गाज का भ्रम करते हुए उसने वहीं शब्द बेधी बाण छोड़ा।

सौंपि राख्यौ मंत्रिन के करयौं सकल भार, अन्य-राज-काजनि बिसारौ नर-नायकैं।
मृगया, सुसेवा-मैं लगायैं-अनुराग-दृढ़, चतुर-तिया-लौं राख्यौ मन बहरायकैं।
ललित-सुपल्लव-प्रसून-सेजिया पै भूप, ओषधि-प्रकास कौं प्रदीप ठहरायकैं।
केतिक बिभावरी बिताईं तहँ कानन मैं, लाग्यौ यौं अहेरनि मैं सेवक-बिहायकैं ॥६९–७०॥
अरुन-उदोत-खन कुंजर-करन-ताल, पटु - पटह - ध्वनि-सौं निदिया बिहायकैं।
बंदिन मधुर-बिरुदावली-सरिस कल-कूंजन-बिहंगनि कौं सुन सुख पाय कैं।
रुरु-मृग-मारग तहाँ हीं गहि लीन्हौं भूप, सेवक-समूहनि सकल बिसरायकैं।
स्रम-फेन-मोचत-तुरंग-चढ़्यौ आयौ, जहाँ रहै मुनि तमसा-नदी कौ तट पायकैं ॥७१–७२॥
सरित-सलिल-सौं सुकुंभ-पूरिबै कौ नाद, भानुकुल-केतन-महीप इमि सुनि कैं।
छाँड़्यौ सब्द-बेधी-बान कान लौं धनुष-तानि, घट-रव, गज की गराज-गुरु-गुनि कैं ॥७३॥

नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत् ।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ।।७४।।

हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्णस्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः ।
शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं तापादन्तःशल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि ।।७५।।

तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन पृष्टान्वयः स जलकुम्भनिषण्ण देहः ।
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भिरात्मानमक्षरपदैः कथयांबभूव ।।७६।।

तच्चोदितश्च तमनुद्धृतशल्यमेव पित्रोः सकाशमवसन्नदृशोर्निनाय ।
ताभ्यां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्रमज्ञानतः स्वचरितं नृपतिः शशंस ।।७७।।

७४—दशरथ ने (शास्त्र) उल्लंघन करके जो (काम) किया वह राजा को वर्जित ही था, सच है शास्त्र जानने वाले भी रजोगुण में अंधे होकर कुमार्ग में पैर रखते हैं।

७५—"हाय पिता" यह रोना सुनकर वह दुःखी राजा भी उसका बेतों में छुपा हुआ कारण खोजता हुआ मुनि पुत्र को घड़े सहित बाण से बिधा देखकर आप भी पछताये से हृदय में बाण लगा हुआ सा हो गया।

७६—घोड़े से उतर कर उस प्रसिद्ध वंश वाले के वंश पूछे हुए ने, जल के घड़े पर देह रक्खे हुए ने, टूटते हुए शब्दों से अपने को द्विज से दूसरी जात के तपस्वी का पुत्र बतलाया।

७७—और उसी के कहने से राजा ने वह बाण छिदा हुआ ही अंधे माँ बाप के पास पहुँचाया (और) ऊपर कही हुई दशा में उस इकलौते बेटे के साथ अज्ञानता से किया हुआ अपना चरित्र उसको बताया।

करति निषेध करि-वध कौ सदा ही स्रुति, ताही कौ उलंघ्यौ नृप मन-मानी-धुनि कैं।
रजो-गुन-प्रेरित सुजन हूँ कुमारग मैं, पग-देइ, पुनि पछितात पुन्य-हुनि कैं ।।७४।।

रूपघनाक्षरी

"हाय तात !" सुनत पुकार बैत-कुंजनि मैं, ढूँढ़त ही ताकौं तहाँ आयौ नृप चुपचाप।
देखि बान-वेध्यौ-मुनि-बालैं कर-कुंभ लीन्हैं, हिय-सर-लागे - लौं अवधपति पायौ ताप।
बाजि सौं उतरि पूँछौ तासु परिचय भूप, कुम्भ-पाहिं डारैं देह, जामैं भरि लायौ आप।
"मैं हौं दुज इतर तपसी-पूत" भूपति सौं, खलित-बचन मैं बताई निज-बंस-थाप ।।७५-७६
पूत-प्रेरना-सौं, दुखी नृप, बान-बिधै बालै, वाके दीन-अंधे-माता-पिता ढिग लायौ है।
त्यौं ही बिनु जानैं अपराध जेहिं भाँति कीन्हौं, पूरब-प्रसंग सब तिनहिं जनायौ है ।।७७

७६—रामायण में यह कथा विस्तार से कही है, यह लड़का जात का करण अथवा कायथ था जिसका पिता वैश्य और माता सूद्री थी।

७७—ऊपर कही हुई दशा में अर्थात् बेतों की ओट में।

तौ दंपती बहु विलप्य शिशोः प्रहर्त्रा शल्यं निखातमुदहारयतामुरस्तः ।
सोऽभूत्परासुरथ भूमिपतिं शशाप हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव वृद्धः ।।७८।।
दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोकादन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम् ।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजंगं प्रोवाच कोशलपतिः प्रथमापराद्धः ।।७९।।
शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ।।८०।।
इत्थंगते गतघृणः किमयं विधत्तां वध्यस्तवेत्यभिहितो वसुधाधिपेन ।
एधान्हुताशनवतः स मुनिर्ययाचे पुत्रं परासुमनुगन्तुमनाः सदारः ।।८१।।
प्राप्तानुगः सपदि शासनमस्यराजा संपाद्य पातकविलुप्तधृतिर्निवृत्तः ।
अन्तर्निविष्टपदमात्मविनाशहेतुं शापं दधज्ज्वलनमौर्वमिवाम्बुराशिः ।।८२।।

७८—स्त्री पुरुष ने बहुत विलाप करके बालक की छाती में छिदा हुआ वाण मारने वाले ही से निकलवाया, उस (बालक) ने प्राण छोड़ा, तब बूढ़े ने हाथों पर गिरे हुए आँसुओं ही के जल से राजा को शाप दिया ।

७९—"बुढ़ापे में मेरी भाँति तुम भी पुत्र शोक से मृत्यु पाओगे" यह कहते हुए उसको प्रथम अपराधी कौशल पति ने कहा, मानो आगे पैर से दबाए हुए विष छोड़ते हुए साँप को ।

८०—पुत्र के मुख कमल की शोभा न देखे हुए मुझ को तुमने यह शाप भी कृपा ही करके दिया है, ईंधन से बढ़ी हुई अग्नि खेत को जलाकर भी बीज उपजाने वाला करती है ।

८१—इतना वृतान्त होने पर "तेरे हाथ से मारे जाने के योग्य इस निर्दई को क्या करना चाहिए" इस प्रकार पृथ्वीपति के पूछे हुए उस मुनि ने, मरे पुत्र के पीछे स्त्री सहित जाने की इच्छा मान ने, अग्नि समेत ईंधन माँगा ।

८२—सेवक पाया हुआ, पाप के कारण धीरज गँवाया हुआ, राजा तुरन्त उसकी आज्ञा पूरी करके हृदय में अपने नाश का हेतु वह शाप धरे हुए लौटा, जैसे बड़वानल (धरे हुए) समुद्र ।

बिबिध बिलाप करि दंपति-महीपति सौं, हिय-माहिं-बेधौ-तीखौ-तीर निकरायौ है ।
छूटै प्रान वाके, नैन-नीर-बरसाय दुहूं, इमि बिलखाय साप नृपहिं सुनायौ है ।।७८।।
"पैहौ सुत-सोक ही सौं मृत्यु, बृद्ध-बैस माहिं, हमरे समान हीं" यों भाँख्यौ बिलखाय कैं ।
चोट-खाये, पीछूँ विष-त्यागी बिषधर-सम, मुनि-सौं, कह्यौ यौं भूप हू नैं दुख पाय कैं ।
"आजु लौं न देख्यौ सुत-आनन-कमल-सम, यातैं यहु साप हू असीस भई आय कैं ।
ईंधन-ज्वलित आगि कृषि-जोग भूमैं दाहि, करै बीज-अँकुरानि उगिबे के लायकैं ।।७९-८०

छप्पय

तुम-सौं-मारन - जोग नाथ ! यहु अधम-सिरोमनि ।
कहा करैं, आदेस करिय निरदय ! सौं अब मुनि ।
जान-काज सुत-साथ, तुरत सुरधाम सुहायौ ।
अनल-सहित बहु-काठ-भार दंपति-मँगवायो ।
पुनि सेवक-जुतधरि-सीस निज, मुनि-अदेस पूरन कियौ ।
अरु बाढ़व-साप-बिनास-हित, सिंधु-सरिस-भूपति लियौ ।।८१-८२

———

॥ दशमः सर्गः ॥

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः ।
किंचिदूनमनूनर्द्धेः शरदामयुतं ययौ ॥१॥
न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् ।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ॥२॥
अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसंततिः स चिरंनृपः ।
प्राङ्मन्थादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः ॥३॥
ऋष्यश्रृङ्गादयस्तस्य सन्तः संतानकाङ्क्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥४॥

दसवाँ सर्ग

१—उस पृथ्वी पालते हुए के, इन्द्र समान तेजस्वी के, पूरी ऋद्धि वाले (दशरथ) के, कुछ घाट दस सहस्त्र बरस बीत गए ।

२—और पितृयों के ऋण से छूटने का साधन, शोक के अँधेरे को तुरन्त मिटाने वाला, पुत्र नाम उजाला उसने न पाया ।

३—बहुत काल तक वह राजा हेतु चाहती हुई सन्तति वाला रहा, जैसे मथने पहले रत्नों की अप्रगट उत्पत्ति वाला समुद्र ।

४—शृंगी ऋषि इत्यादि महात्मा जितेन्द्री ऋत्विजों ने उस पुत्र कामना वाले का पुत्रेष्टि यज्ञ आरम्भ किया ।

दसवाँ सर्ग

दोहा

महि-सासत-सुरनाथ सम धारैं तेज बिसाल ।
दस-सहस्र-सन कछुक-कम, बितये बर्ष नृपाल ॥१॥

चौपाई

पै न लही वह जोति उँज्यारी, तुरत हरत जो सोक अँध्यारी ।
जाकौं कहत पुत्र सब कोई, पितरन-रिन जासौं छय होई ॥२॥
हेतु-ग्यान-कारन नरराई, दीन्हैं केतिक बरस बिताई ।
सागर-सरिस रहे बहु काला, जेहिं मथे-बिनु न कढ़ी नग-माला ॥३॥
सृंगीरिषि-आदिक मुनि आये, जो निज इन्द्रिन पै जय पाये ।
नृप-संतति-हित अति अनुरागे, पुत्र-काम-मख-करिबै लागे ॥४॥

३—हेतु चाहती हुई अर्थात् जिस बात से सन्तान रुकी थी उसको दूर करने का हेतु ।

४—ऋत्विज अर्थात ऋतु ऋतु का यज्ञ करने वाला ।

तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम् ।
अभिजग्मुर्निदाघार्ताश्छायावृक्षमिवाध्वगाः ॥५॥
ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः ।
अव्याक्षेपो भविष्यन्त्या कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥६॥
भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः ।
तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥७॥
श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले ।
अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥८॥
प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।
दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥९॥

५—उसी समय पौलस्त्य (रावण) के सताए हुए देवता हरि के पास गए, जैसे घाम के सताए पथिक छाया वाले वृक्ष के पास ।

६—वे समुद्र पर पहुँचे और आदि पुरुष (योग निद्रा से) जागे, होनहार कार्य सिद्धि का अविलम्ब चिन्ह ही होता है ।

७—यह सर्प के शरीर रूपी आसन पर बैठा हुआ, उसी के फन मंडल की उज्जवल मणियों से प्रकाशमान अंगवाला देवताओं ने देखा ।

८—कमल पर बैठी हुई लक्ष्मी की गोद में, वस्त्रों से ढकी हुई तागड़ी वाली में, हाथ रूपी पत्ते बिछी हुई में चरण रक्खे हुए ।

९—मानो खिले कमल रूपी नेत्र वाला, तड़के की घाम रूपी वस्त्र वाला, प्रारम्भों में सुख दर्शन वाला, शरद का दिन ।

तब, रावन सन अमित सताये, सकल-देव हरिके ढिग आये ।
जिमि-रबि-आतप सौं दुख पाई, पथिक विटप-छाया-तरु जाई ॥५॥

दोहा

छीर-सिंधु गये देवगन, तजी नींद हरिराय ।
होनहार सुभ-चिन्ह-जिमि, तुरतहिं परत लखाय ॥६॥

सेस-सेज-जिन आसन मारौ, तहँ देवनि उन हरिहिं निहारौ ।
फनमंडल-मनि-किरन-उजासा, करत अमित-हरि-गात प्रकासा ॥७॥
सोहत रुचिर-गोद-कमला की, ढँकी दुकूल-तागरी जाकी ।
पल्लव सम जुग-करन-पसारे, जापर रुचिर-चरन हरि धारे ॥८॥
पुंडरीक - विकसित - दृगवारे, प्रात - धूप - रँग-अंबर-धारे ।
सुख दरसन अरम्भ महँ जोई, सोहत सरद-दिवस जनु सोई ॥९॥

६—अविलम्ब अर्थात् तुरन्त ।

८—आठवें से चौथवें श्लोक तक विष्णु का वर्णन है ।

९—प्रारम्भ अर्थात् योगी अथवा प्रातःकाल ।

प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रदर्पणम् ।
कौस्तुभाख्यमपां सारं बिभ्राणं बृहतोरसा ॥१०॥
बाहुभिर्विटपाकारैर्दिव्याभरणभूषितैः ।
आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवापरम् ॥११॥
दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः ।
हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ॥१२॥
मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा ।
उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ॥१३॥
योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः ।
भृग्वादीननुगृह्णन्तं सौखशायनिकानृषीन् ॥१४॥

१०—कान्ति से श्री वत्स को शोभित करने वाली लक्ष्मी के विलास की आरसी, कौस्तुभ नाम मणि को चौड़ी छाती पर धारण किए हुए ।

११—शाखा सदृश भुजाओं सहित, दिव्य गहने से आभूषितों सहित, समुद्र के मध्य में दूसरे पारिजात की नाईं प्रगट होता हुआ ।

१२—दैत्यों की स्त्रियों के कपोलों का मदराग मिटाने वाले सजीव अस्त्रों से जयकार होता हुआ ।

१३—शेष के साथ विरोध त्यागे हुए से, बज्र घाव के चिन्हों वाले से, हाथ जोड़े हुए विनीत वान गरुड़ से, उपासना होता हुआ ।

१४—योगनिद्रा के अन्त में अच्छी पवित्र दृष्टियों से भगु इत्यादि सुख शयन पूछने वाले ऋषियों पर अनुग्रह करता हुआ ।

सिंधुसार–कौस्तुभमनि सोहति, बच्छ-स्थल पै इमि मन-मोहति ।
श्री-विलास-आरसी-सी-भावति, प्रभा-अमित-श्रीवच्छ-बढ़ावति ॥१०॥

दोहा

तरु-साखा-सम-भुजन-जुत, दिब्याभरन समेत ।
पारिजात मानहुँ अपर, नीर-दिखाई देत ॥११॥

चौपाई

दैत्य-तियागन-गण्डथली कौ, हरिलीन्ह्यौं मद-रागहिं नीकौं ।
ते सजीव सब अस्त्र सुहाये, जयधुनि-मुदित करत मनलाये ॥१२॥
अहिपतिसन-बिरोध सब त्यागे, कुलिस-धाव गातहिं महँ लागे ।
दोउ-कर-सम्पुट जोरि सुहाई, रहे गरुड़ हरि-बिनय सुनाई ॥१३॥
पूछनकाज सयन-सुखदाई, आये भृगु - आदिक मुनिराई ।
पगे-नीद कहँ तुरत विसारी, पावन बिमल दीठि तब डारी ॥१४॥

१२—इन अस्त्रों से दैत्यों को मारा था इससे दैत्यों की स्त्रियों ने सिंगार करना छोड़ा ।

१४—सुखशयन पूछना अर्थात् यह पूछना कि रात में सुख से सोए या नहीं ।

प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम् ।
अथैनं तुष्टवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥१५॥

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते ।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने ॥१६॥

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥१७॥

अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः ।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥१८॥

१५—देवताओं ने उस दैत्यों के नाश करता के निमित नमस्कार करते उस मनवाणी के अगोचर को, स्तुति योग्य को, स्तुति की ।

१६—प्रथम विश्व के करता तिस पीछे विश्व के भरता फिर विश्व के हरता तुम तीन रूप-धारी को नमस्कार है ।

१७—जैसे एक स्वाद वाला आकाश का जल ठौर ठौर में न्यारे न्यारे स्वादों को पहुँचता है ऐसे ही एक रूप तुम गुणों में अनेक अवस्थाओं को (पहुँचते हो) ।

१८—तुम लोक के अतुल तोलने वाले हो, प्रयोजन के बिना भी प्रयोजन देने वाले हो, अजित जीतने वाले हो, स्थूल के अति सूक्ष्म कारण हो ।

निरखि असुर-तम-दारन-चन्दा, मुदित प्रनाम कीन्ह सुर-वृन्दा ।
मन-बचन-करम-अगोचर-नाथहिं, अस्तुति करनलगे सुभ गाथहिं ॥१५॥

दोहा

"प्रथम बिरचि,पालन करत, आपु सकल संसार ।
तीनिरूप-हरिकौं नमत, करत जो अन्त-सँहार ॥१६॥

चौपाई

जिमि नभ-सलिल एक-रस होई, देस-स्वाद-धारत बहु सोई ।
तैसेहिं एक-रूप तुम धारत, गुन लहि पुनि अनन्त बिस्तारत ॥१७॥
ह्वै तुम अतुल लोक-सब तोलत, बिनु-कारन कारन-बनि-डोलत ।
ह्वै पुनि अजित बनत जयकेतू, सूच्छम आपु थूल कौ हेतू ॥१८॥

१७—मेह का मीठा पानी ऊसर इत्यादि भूमि में पड़कर न्यारे न्यारे स्वाद का होता है ऐसे ही राज सत तम गुणों में आकर भगवान भी सृष्टि के करता भरता हरता होते हैं ।

१८—अतुल तोलने वाला अर्थात् जो आप किसी से न तुले और सब को तोले ।

हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम् ।
दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥१९॥
सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः ।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक् ॥२०॥
सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम् ।
सप्तार्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम् ॥२१॥
चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः ।
चतुर्वर्णमयोलोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात् ॥२२॥
अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् ।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये ॥२३॥

१९—तुम को हृदय में बैठा हुआ अति दूर, बिना चाह वाला तपस्वी, दुख रहित दयालु, जरा रहित अनादि, जानते हैं ।

२०—तुम अज्ञात सर्वज्ञ हो, तुम स्वजन्मा सब के करता हो, तुम अनीश सब के ईश हो, तुम एक सर्व रूप हो ।

२१—तुम को सात सामों से गाया हुआ, सात समुद्रों के जल में सोने वाला, सात लौ (अग्नि) मुखवाला, सात लोकों का एक आधार कहते हैं ।

२२—चतुर्वर्ग फल देने वाला ज्ञान, चारजुग के समय का परिमाण, चतुर्वर्ग सम्बन्धी लोक, सब तुम चतुर्मुख से है ।

२३—अभ्यास करके बस किये हुए मन से जोगी लोग तुम हृदय में बैठे हुए जोती स्वरुप को मुक्ति के लिये भजते हैं ।

ही-तल-बसत तऊ तुम दूरी, तापस-कर्म-रहित पुनि भूरी ।
पाप-हीन, पै अमित दयाला, अजर-पुरानपुरुष सबकाला ॥१९॥
तुम सर्बज्ञ, न कोउ पहिचानत, बपुधर, सर्ब-जोनि-जन जानत ।
सर्बस्वामि हौ, तदपि अनीसा, ब्यापक-सर्ब, एकतन ईसा ॥२०॥

दोहा

सप्त-साम उपगीत-जस, सोवत सप्त-नदीस ।
सप्तानल-मुख, विदुष कहैं सप्त-लोक-एक-ईश ॥२१॥

चौपाई

चतुर-बर्ग-फल कौ सब ग्याना, चारौं जुगनि-काल-परिमाना ।
चतुर-बरन-मय सृष्टि अछैंही, चतुर बदन जन मत तुम तैंहीं ॥२२॥
करि अभ्यास रोकि निज-जी कौं, मन धरि-जोति-रूप तुमहीं कौं ।
इमि निजविमल मुक्ति-हित-लागी, खोजततुमहिं जोगि-जनत्यागी ॥२३॥

१९—जरा=बुढ़ापा ।

२२—चतुर्वर्ग=अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष ।

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥२४॥
शब्दादौन्विषयान्भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः ।
पर्याप्तोऽसि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम् ॥२५॥
बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानःसिद्धहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥२६॥
त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम् ।
गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः संनिवृत्तये ॥२७॥
प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव ।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥२८॥

२४—तुम अजन्मा जन्म धारी की, निर उद्योग शत्रु घाती की, सोते हुए जागरूक की, यथार्थता को कौन जानता है ।

२५—शब्द इत्यादि विषयों को भोगते हुए कठिन तप करने को, प्रजा पालते हुए उदासीनता से रहने को, तुम्हीं समर्थ हो ।

२६—सिद्धि की प्राप्ति के अनेक मार्ग शास्त्रों के न्यारे न्यारे किए हुए तुम्हीं में समाते हैं, जैसे समुद्र में गंगा जी के प्रवाह ।

२७—तुम में ध्यान लाने वालों को, तुम में सब कर्म अर्पण करने वालों को, राग छोड़े हुओं को, फिर न आने के लिए तुम ही साधन हो ।

२८—पृथ्वी इत्यादि तुम्हारी प्रत्यक्ष महिमा भी अमित है, फिर वेद में और अनुमान से सिद्धि होने वाले तुम्हारा क्या कहना है ।

जनम-विहीन, बपुष तुम धारत,जदपि निरीह अरिन-तऊ मारत ।
सोवत-सेष-सेज,तऊ जागत, कोऊ न तुमहिं जानत-अस-लागत ॥२४॥
सब्द-आदि बिषयनि-सुख लैकैं, दारुन बहुरि महा-तप कैकैं ।
पालन करत प्रजा सब भाँती, उदासीन तौंहूँ दिन राती ॥२५॥

दोहा

निगम पृथक सब सिद्धि के, पावन-पंथ-अपार ।
मिलत तुमहिं महँ, सिन्धु-महँ यथा देवसरि धार ॥२६॥

चौपाई

अरपत तुमहिं करम सबरौई, धरत ध्यान निसि-दिन तुमरौई ।
बीत-राग-जन की गति सोई, जातैं बहुरि जन्म नहिं होई ॥२७॥
धरा आदि गुन अमित महाना, हैं रावरे प्रतच्छ प्रमाना ।
पै अनुमान, बेद कह जोई, सो तव-कथा कवन-विधि होई ॥२८॥

२८—अमित=वे परिमाण ।

केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः ।
अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥२९॥
उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विवस्वतः ।
स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ॥३०॥
अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते ।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ॥३१॥
महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वचः ।
श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥३२॥
इति प्रसादयामासुस्ते सुरास्तमधोक्षजम् ।
भूतार्थव्याहृतिः सा हि न स्तुतिः परमेष्ठिनः ॥३३॥

२९—केवल स्मरण ही से जब तुम प्राणी को पवित्र करते हो तो इस से तुम में और व्यापारों के फल जाने जाते हैं ।

३०—समुद्र के रत्नों की नाईं, सूरज की किरणों की नाईं, तुम्हारे अगम चरित्र स्तुतियों से से बाहर हैं ।

३१—प्राप्त होने योग्य कोई वस्तु तुमको अप्राप्त नहीं है, केवल लोक का अनुग्रह ही तुम्हारे जन्म और कर्म का हेतु है ।

३२—तुम्हारी महिमा गीत गाते जो सरस्वती रह जाती है यह थकावट से अथवा असमर्थता से है न कि गुणों के इतने पन से ।

३३—इस प्रकार उस इन्द्री ज्ञान से परे को उन देवताओं ने प्रसन्न किया यह परमेश्वर की सत्य कथा थी न कि प्रशंसा ।

जो कोउ सुमिरन करत तुम्हारौ,गहि-कर तेहिं तुरतहिं तुम तारौ ।
दरस परस कौ पुनि परिनामा, जानौं जात सकल गुन ग्रामा ॥२९॥
रत्न-रासि सागर महँ वैसे, अरु रबि-किरन अमित हैं जैसे ।
एहि बिधि चरित अंनत तुम्हारे, अस्तुति-करत सबै-कोई हारे ॥३०॥

दोहा

कोउ वस्तु या जगत महँ, तुमहिं अलभ्य न नेकु ।
जनम -करम को हेतु तुव, लोक-अनुग्रह एकु ॥३१॥

चौपाई

प्रभु के बरनि कछुक गुन-ग्रामा, जो पै गिरा लहत बिसरामा ।
या बिधि सौं स्रम कें थकि जाई, महिमा अमित सकें नहिं गाई ॥३२॥
करि बर-बिनय सुरन सरसाती,हरिहिं प्रसन्न कीन्ह येहि भाँती ।
वह तौ सत्य - कथा प्रभु केरी, नहिं बिनीत-अस्तुति बहु-तेरी ॥३३॥

२९—व्यापार अर्थात् दर्शन परशन इत्यादि ।

३२—तात्पर्य यह है कि तुम्हारे सम्पूर्ण गुणों को सरस्वती भी नहीं गा सकती ।

तस्मै कुशलसंप्रश्नव्यञ्जितप्रीतये सुराः ।
भयमप्रलयोद्वेलादाचख्युर्नैर्ऋतोदधेः ॥३४॥

अथ वेलासमासन्नशैलरन्ध्रानुनादिना ।
स्वरेणोवाच भगवान्परिभूतार्णवध्वनिः ॥३५॥

पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता ।
बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती ॥३६॥

बभौ सदशनज्योत्स्ना सा विभोर्वदनोद्गता ।
निर्यातशेषा चरणाद्गङ्गेवोर्ध्वप्रवर्तिनी ॥३७॥

जाने वो रक्षसाक्रान्तावनुभावपराक्रमौ ।
अङ्गिनां तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ ॥३८॥

३४—उस कुशल पूछ कर प्रसन्नता जताते हुए को देवताओं ने प्रलय के बिना ही मर्यादा तोड़ने वाले राक्षस रूपी समुद्र का भय जताया ।

३५—तब समुद्र तट के निकट वाले पहाड़ों में प्रति शब्द उठाते हुए स्वर से समुद्र की ध्वनि को तिस्कार करते हुए भगवान बोले ।

३६—उस सनातन पुरुष (विष्णु) के कंठ इत्यादि स्थानों से भले प्रकार उच्चारण होकर शुद्धता को पहुँची हुई सरस्वती (वाणी) कृतार्थ हो गई ।

३७—दाँतों की कान्ति सहित विष्णु के मुख से निकलती हुई वह (वाणी) शोभायमान हुई, जैसे चरण से निकलती हुई ऊर्द्धवाहिनी गंगा ।

३८—तुम्हारा महत्व और पराक्रम दोनों मैंने राक्षस से दबे हुए जाने, जैसे देह धारियों के पहले और मध्य के दोनों गुण तमो गुण से ।

हरि-समोद पूँछी कुसलाई, कहन लगे सुर-गन सकुचाई ।
"बिना प्रलय मरजादहिं तोरत, राकस-उदधि अमित-भय घोरत ॥३४॥
तब सागर-तट-भूधर-वारी, गुहा माहिं गूँजत-धुनि भारी ।
सोई अंबुधि-रव निदरि महाना, या बिधि कहन लगे भगवाना ॥३५॥

दोहा

पुरुष-पुरातन कंठ तैं, कढ़ी जथा-थल-आनि ।
संसकार नूतन भयौ, भई कृतारथ बानि ॥३६॥

चौपाई

इमि हरि-बदन-कढ़त-सुभ गाथा, सोही गिरा रदन-छबि साथा ।
प्रथम जो निकसि कंज-पद-संगा, सेष सो ऊर्ध वाहनी-सी गंगा ॥३७॥
"सर्बस बल-अनुभाव तुम्हारौ, तेहिं दबाय राकस-पति डारौ ।
जथा तमोगुन जब बढ़ि पावत, रज-सत-गुन कहँ सपदि दबावत ॥३८॥

३४—भगवान ने कुशल पूछी इससे देवताओं ने जाना कि प्रसन्न हुए ।

३८—पहले और मध्य के गुण अर्थात् सतो गुण और रजो गुण ।

विदितं तप्यमानं च तेन मे भुवनत्रयम् ।
अकामोपनतेनेव साधोर्हृदयमेनसा ॥३९॥

कार्येषु चैककार्यत्वादभ्यर्थ्योऽस्मि न वज्रिणा ।
स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते ॥४०॥

स्वासिधारापरिहृतः कामं चक्रस्य तेन मे ।
स्थापितो दशमो मूर्धा लभ्यांश इव रक्षसा ॥४१॥

स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु मया तस्य दुरात्मनः ।
अत्यारूढं रिपोः सोढं चन्दनेनेव भोगिनः ॥४२॥

धातारं तपसा प्रीतं ययाचे स हि राक्षसः ।
दैवात्सर्गादिवध्यत्वं मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखः ॥४३॥

३९—और उससे तपता हुआ त्रिलोक मैंने जाना, जैसे बिना इच्छा के प्राप्त हुए पाप से साधुओं का हृदय ।

४०—और कार्य की एकता के कारण मैं इन्द्र से प्रार्थना किये जाने योग्य नहीं हूँ, अग्नि की सहायता को पवन आप ही जाता है ।

४१—अपने खड्ग से बचाया हुआ दसवाँ सीस उस राक्षस ने मेरे चक्र के लिए उचित भाग की नाईं रक्खा है ।

४२—परन्तु ब्रह्मा के वरदान से मुझे उस दुरात्मा बैरी का सिर चढ़ना सहने योग्य है, जैसे चन्द्रन को सर्प का ।

४३—मनुष्यों में अनादर करके उस राक्षस ने तपस्या से प्रसन्न होने वाले ब्रह्मा से दिव्य सृष्टि के हाथ से न मारा जाना माँग लिया है ।

जिमि प्रमाद-बस करि कहुँ पापा, पावत साधु-हृदय संतापा ।
तिमि रावन-प्रताप-बस जोई, तपत त्रिलोक लखत हम सोई ॥३९॥
एकहि लच्छ हमनि कौ तातैं, सुरपति-बिनय-अपेच्छि न जातैं ।
आपुहिं जब सँजोग इमि पावत,अनल कौ सूत अनिल बनि आवत ॥४०॥

दोहा

काटे नौ-सिर खंग सौ, करि सिव-पद-अनुराग ।
दस ओं छाँड़्यौ गुनि मनहुँ, बिस्नु-चक्र कौ भाग ॥४१॥

चौपाई

हमहूँ गुनि बिरंचि-बरदानी, ऐसैं सही नीच-मनमानी ।
बिषधर चढ़त फुँकरि जेहि पाहीं,सहन करत चंदन जिमि ताहीं ॥४२॥
निज-तपसन परितोषि-बिधाता, माँग्यौ बर राकस-कुल-त्राता ।
मानुष एक छाँड़ि जग माहीं, सकैं मारि देवा-सुर नाहीं ॥४३॥

४०—मेरा और इन्द्र का एक ही प्रयोजन है इसलिए इन्द्र मुझसे क्यों प्रार्थना करे ।

४१—रावण ने अपने सीस आप काट कर महादेव जी पै चढ़ा दिये थे, एक सीस रख छोड़ा था ।

४३—दिव्य सृष्टि=देवताओं की आठ प्रकार की सृष्टि ।

सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्बलिक्षमम् ।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरः कमलोच्चयम् ॥४४॥

अचिराद्यज्वभिर्भागं कल्पितं विधिवत्पुनः ।
मायाविभिरनालीढमादास्यध्वे निशाचरैः ॥४५॥

वैमानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि ।
पुष्पकालोकसंक्षोभं मेघावरणतत्पराः ॥४६॥

मोक्षध्वे स्वर्गवन्दीनां वेणीबन्धानदूषितान् ।
शापयन्त्रितपौलस्त्यबलात्कारकचग्रहैः ॥४७॥

रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः ।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥४८॥

४४—सो मैं दशरथ का पुत्र होकर उसके सीसों को पैने बाणों से रनभूमि की पूजा योग्य कमलों का ढेर बनाऊँगा ।

४५—यजमानों का विधि पूर्वक दिया हुआ भाग मायावी निशाचरों का अनचक्खा हुआ तुम शीघ्र ही फिर पाओगे ।

४६—बादलों में छिपना सीखे हुए सुकृती देवता (अब) आकाश में पुष्पक देखने से डरना छोड़ दें ।

४७—देवांगनाओं के वेणी बन्धनों को, शाप के कारण रावण के बलात्कारी कचग्रहों से बचे हुओं को, तुम खोलोगे ।

४८—रावण रूपी अनावृष्टि से सूखते हुए देवताओं रूपी अनाज को इस प्रकार वाणी रूपी जल से सींच कर वह कृष्णमेघ अन्तरध्यान हुआ ।

ह्वै दसरथ-सुत सरनि-प्रहरिहौं,तेहिं सिर-काटि मही इमि डरिहौं ।
जनु अरबिन्दनि-रासि सुहाई, रन-महिं-पूजन-हेतु सजाई ॥४४॥
पुनि जजमान-दियौ-मख-भागा, पैहौ सबिधि सहित-अनुरागा ।
जा-रस की न भई अधिकारी, मायाबी छनदा-चर-धारी ॥४५॥

दोहा

विचरत नभ-पथ अरु दुरत, जलद-पटल मैं जाइ ।
पुष्पक-जानहिं देखि-सुर, अब न भजहू भय खाइ ॥४६॥

चौपाई

नल-कूबर सापित गुनि जाहीं, बेनी-बंध छुऔ कहुँ नाहीं ।
अब तुम कछु दिन समुद बिताई, बंदिनि-बेनिन खुलिहौ जाई ॥४७॥
रावन - अनावृष्टि - सन - सूखे, सुरगन-सस्य रहे जे रूखे ।
सींचि वचन-जल सौं तिन्हैं दयऊ, अन्तर्द्धान स्याम-घन भयऊ ॥४८॥

४६—पुष्पक=रावण का रथ ।

४७—रावण को शाप था कि जब किसी स्त्री के केश बल करके पकड़ेगा तभी मर जायगा । इसलिए जिन अप्सराओं को यह पकड़ ले गया था उनके केश उसके झपट्टों से बचे रहे ।

पुरुहूतप्रभृतयः सुरकार्योद्यतं सुराः ।
अंशैरनुययुर्विष्णुं पुष्पैर्वायुमिव द्रुमाः ॥४९॥
अथ तस्य विशांपत्युरन्ते काम्यस्य कर्मणः ।
पुरुषः प्रवभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम् ॥५०॥
हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयश्चरुम् ।
अनुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्वहम् ॥५१॥
प्राजापत्योपनीतं तदन्नं प्रत्यग्रहीन्नृपः ।
वृषेव पयसां सारमाविष्कृतमुदन्वता ॥५२॥
अनेन कथिता राज्ञो गुणास्तस्यान्यदुर्लभाः ।
प्रसूतिं चकमे तस्मिन्त्रैलोक्यप्रभवोऽपि यत् ॥५३॥

४९—इन्द्रादिक देवता अंशों से विष्णु के पीछे, सुर कारज पर उद्यत के पीछे, गए जैसे पवन के पीछे फूलों से वृक्ष ।

५०—फिर उस राजा के पुत्रेष्टी यज्ञ के अन्त पर ऋत्विजों के अचम्भे सहित अग्नि से (एक) पुरुष प्रगट हुआ ।

५१—सोने के बरतन में भरी हुई खीर को, आदि पुरुष के प्रवेश के कारण उससे भी कठिनता सहित उठने वाली को, दोनों हाथों से लिये हुए ।

५२—ब्रह्मा के उपजाए हुए पुरुष का दिया हुआ वह अन्न राजा ने लिया, जैसे इन्द्र ने समुद्र से निकला हुआ अमृत ।

५३—उस राजा के गुण अन्य दुर्लभ इसीलिये कहे गए हैं कि उसमें त्रिलोकी के करता ने भी जन्म लेने की इच्छा की ।

तब सुर-काज-करन कहँ आछे, गबनैं देब बिस्नु के पाछे ।
इन्द्र-आदि इमि चले पछि आहीं, जिमि तरु-सुमन-पवन-संगजाही॥४९॥
नृप पुत्रेष्टि-जग्य भयें आछौ, प्रगट्यौ, अनल-पुरुष-मन-बाँछौ ।
रित्वज-जन सब कौतुक पागे, भौचक ताहि बिलोकन लागे ॥५०॥

दोहा

हेम-पात्र - महँ चरु लियैं, दोऊ करन उँचाय ।
आदि-पुरुष के भारसौं, सहज उठाय न जाय ॥५१॥

चौपाई

हवि, बिधि-पुरुष मुदित इमि दीन्ह्यौं,दसरथ-नृपहुँ बाहि-बिधि लीन्ह्यौं ।
दियौ अमृत मनौ सिंधु-उदारा, सुरपति लियौ ताहि सभारा ॥५२॥
अज-नन्दन नरपति-गुन-रासी, याही-लगि सब-ठौर-प्रकासी ।
एहि सौं धरि हिय-साध अपारा, इनके गृह हरि नर-तनु-धारा ॥५३॥

४९—देवता भी सुग्रीव हनुमान इत्यादि होकर जन्मे ।

५१—उस पुरुष से भी वह खीर कठिनता से उठाई गई क्योंकि उसमें विष्णु का बोझ था ।

स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम् ।
द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम् ॥५४॥
अर्चिता तस्य कौशल्या प्रिया केकयवंशजा ।
अतः संभावितां ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः ॥५५॥
ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः ।
चरोरर्धार्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे ॥५६॥
सा हि प्रणयवत्यासीत्सपत्न्योरुभयोरपि ।
भ्रमरी वारणस्येव मदनिस्यन्दरेखयोः ॥५७॥
ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रेदेवांशसंभवः ।
सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मयः ॥५८॥

५४—उसने चरुनाम वाला विष्णु तेज दो रानियों में बाँट दिया, जैसे सूरज ने सवेरे का आतप पृथ्वी और आकाश में ।

५५—कौसल्या उसकी बड़ी रानी और केकई प्यारी थी इसलिये राजा ने सुमित्रा को उन से सम्मानित कराना चाहा ।

५६—यथोचित ज्ञानी महाराज के मन की जानने वाली उन दोनों रानियों ने चरु का चौथाई चौथाई भाग देकर उसको समोखा ।

५७—वह भी दोनों सौतों में प्यार रखने वाली थी, जैसे हाथी में मद की दोनों रेखाओं में भौंरी ।

५८—उन्होंने प्रजा के उपकार निमित देवता के अंश से उत्पन्न होने वाला गर्भ धारण किया, जैसे सूरज की अमृता नाम किरणों ने जल ।

बिस्नु-तेज-मय तब चरु लैबै, नृप तोष्यौ दोउ रानिन दैबै ।
जिमि प्रभात-आतप कर-रागा, छिति-नभ महँ रबि करत बिभागा ॥५४॥
जेठि-कौसिला रूप-उज्यारी, केकय-सुता भूपकी प्यारी ।
तिन-सन नृपति, सुमित्रा केरौ, चह्यौ होइ सनमान घनेरौ ॥५५॥

दोहा

पिय-हिय-परखन-हारि दोउ, रानिन करि अनुराग ।
दियौ सुमित्रा कर दुहुँन, निज-निज चरु अधभाग ॥५६॥

चौपाई

सोउ इमि दुहुँ-सौतिन-रस-पागी, प्रीति अपार-करति अनुरागी ।
दोउ गज-गंड-थली-मद-धारा, भ्रमरि-भँवरि जिमि भरत अपारा॥५७॥
रानिन, जनहित इमि करुनारचौ, देव-अंस-मय-गर्भहिं धार्‌यौ ।
सलिल-रासि जिमि धरति घनेरी, अम्रता-नाम-किरनै रबि-केरीं ॥५८॥

५५—सम्मानिता=मान रक्खी हुई ।

सममापन्नसत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विषः ।
अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानामिव संपदः ॥५९॥
गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः ।
जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः ॥६०॥
हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता ।
उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा ॥६१॥
बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम् ।
पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ॥६२॥
कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः ।
ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे ॥६३॥

५९—पीली कान्ति को पहुँच कर वे एक साथ गर्भ धारण करती हुई शोभित दिखलाई दीं, जैसे भीतर फल का अंकुर रक्खे हुए अनाज की शाखा ।

६०—सब ने (अर्थात् तीनों ने) अपने अपने को स्वप्नों में शंख चक्र गदा खड्ग धनुष के चिन्ह वाले बौनों से रक्षा होते हुए देखा ।

६१—और सुनहरी पंखों का प्रभाजाल फैलाने वाले, वेग से बादलों को खेंचने वाले, गरुड़ पर चढ़कर आकाश में चलते हुए ।

६२—और स्तनों के बीच में लटकती हुई कौस्तुभ मणि धारण करने वाली, हाथ में कमल के पंखे वाली लक्ष्मी से उपासना होते हुए !

६३—और आकाश गंगा में स्नान किये हुए, वेद पढ़ते हुए सातों ब्रह्म ऋषियों से सम्मान होते हुए ।

इक संग इमि तिन गर्भहिं धारी, दमकी पीत-प्रभा तन प्यारी ।
अन्नांकुर-उर-अंतरधारी, सोहत जथा सस्य सुख कारी ॥५९॥
तिहूँ-रानिन सपनौं अस देखा, किए बाल-वामन कर भेषा ।
गदा-चक्र-असि-संख-सरासन, धरैं-उन्हैं रच्छति चहुँ पासन ॥६०॥

दोहा

पीत - हेम - मय - पंख - सौं, प्रभा-जाल बिस्तारि ।
घन-करषन नभ-पथ तिनहिं लिएँ जात उरगारि ॥६१॥

चौपाई

हलत तुंग-कुच परसि सुहाई, कौस्तुभ-मनि अतिसै छबि-छाई ।
कमल-बिजन कर लिए बिसेषी, सेबित समुद-रमा-सन देखी ॥६२॥
ब्यौम-देव-सरि-धार अन्हाए, बेद रिचानि पढ़त मन लाए ।
सेवत सप्त-मुनीस-सुबानिन, कह्यौ भूप-सन या बिधि रानिन ॥६३॥

ताभ्यस्तथाविधान्स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतो हि पार्थिवः ।
मेने परार्ध्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः ॥६४॥

विभक्तात्मा विभुस्तासामेकः कुक्षिष्वनेकधा ।
उवास प्रतिमाचन्द्रः प्रसन्नानामपामिव ॥६५॥

अथाग्र्यमहिषी राज्ञः प्रसूतिसमये सती ।
पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः ॥६६॥

राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः ।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ॥६७॥

रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा ।
रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन् ॥६८॥

६४—उन से इस प्रकार के स्वप्न सुनकर हर्षवान राजा ने जगत पिता का पिता बनने से अपने को श्रेष्ठ माना ।

६५—एक रूप विष्णु ने अपने को अनेक रूप करके उनकी कुक्षाओं में बास किया, जैसे निर्मल जलों की (कुक्षाओं) में चन्द्रमा के प्रतिबिंब ने ।

६६—निदान राजा की बड़ी पतिव्रता रानी ने दसवें महीने तमोगुण का नाश करने वाला पुत्र जना, जैसे रात में बूटी ने उजाला ।

६७—अभिराम शरीर से प्रेरणा होकर बाप ने उसका नाम जगत का मुख्य मंगल राम रक्खा ।

६८—उस रघुकुल दीपक से, अनूपम तेजवाले से, सूत घर के दीपक मन्द जोति से हो गए ।

सुनि यहि भाँति सपन की गाथा, रानिन सौं तब कौसल-नाथा ।
आपुहिं जगत-पिता पितु जान्यौं, या लगि परम श्रेष्ठ करि मान्यौं ॥६४॥
आपुहिं बिस्नु धारि बहुरूपा, इमि बस्यौ रानिन-कोखि अनूपा ।
बिमल-सलिल-बर-बीचिन माहीं, जिमि अनेक बिधु-बिम्ब लखाहीं ॥६५॥

दोहा

तबहिं जेठि रानी नृपति, दसओं मास बिताय ।
तमहर - सुत लहि लसी निसि, औषधि-जोति-सी पाय ॥६६॥

चौपाई

निरखि तासु बपु दृग-अभिरामा, सकल-जगत-मुद-मंगल-धामा ।
नाम-करन-हित गुनि गुन-ग्रामा, राख्यौ गुरू 'राम' तेहि नामा ॥६७॥
तेहि रघुबंस-प्रदीप-प्रकासा, बगर्‌यौ ऐसो अनूप प्रभा-सा ।
सौरि-सदन की दीपक-पाँती, मनु भई छीन-जोति सब भाँती ॥६८॥

शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ ।
सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥६९॥
कैकेय्यास्तनयो जज्ञे भरतो नाम शीलवान् ।
जनयित्रीमलंचक्रे यः प्रश्र य इव श्रियम् ॥७०॥
सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ ।
सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव ॥७१॥
निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत् ।
अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम् ॥७२॥
तस्योदये चतुर्मूर्तेः पौलस्त्यचकितेश्वराः ।
विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वसिता इव ॥७३॥

६९—दुबले पेटवाली माता शय्या पर सोते हुए राम से सुशोभित हुई, जैसे शरद ऋतु में तट की कमल रचना से दुबली गंगा जी ।

७०—केकई का भरत नाम शीलवान बेटा जननी को शोभायमान करता हुआ जन्मा, जैसे ही को प्रश्रय ।

७१—सुमित्रा ने लक्ष्मण और शत्रुघन जोड़िये पुत्र जने, मानो भली भाँति अभ्यास की हुई विद्या ने प्रबोध और विनय ।

७२—जगत सब दोषों से रहित सब गुणों से प्रकाशित हुआ, मानो पृथ्वी पर आए हुए पुरुषोत्तम के पीछे स्वर्ग ही आया ।

७३—उस चर्तुमूर्ति के उदय में रावण से डरे हुए स्वामियों की दिशाओं ने मानो बिना धूल की पवनों से स्वांस ली ।

सातोदरी-जननि सुभ गाथा, सोही सेज राम-सुत साथा ।
सैकत-सरसिज-बृन्दनि संगा, राजत सरद-कृसा जिमि गंगा ॥६९॥
कैकय-सुता सकल-गुन-धामा, जनम्यौं सुवन भरत जेहिं नामा ।
सोही मातु पाय सुत कैसे, राजत लच्छि बिनय-सन जैसे ॥७०॥

दोहा

जन्यौं लखन-रिपुहन, जमल-सुवन सुमित्रा-रानि ।
जिमि प्रबोध अरु बिनय कौं बिद्या जनै सुजानि ॥७१॥

चौपाई

दोष-रहित सिगरौ जग भयऊ, अरु गुनग्राम प्रकट ह्वै गयऊ ।
गुनि पुरुषोत्तम जन्म सुहायौ, उतरि स्वर्ग-महिं पै जनु आयौ ॥७२॥
जनम लियौ जब चारिहुँ भाई, तब राकस-भय-भूरि भगाई ।
धूरि-रहित भई बिमल बनासा, दिसापतिन मनु लीन्हि उसासा ॥७३॥

७०—ही अर्थात् लज्जा । प्रश्रय अर्थात् नम्रपन ।

७३—चर्तुमूर्ति अर्थात् राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न ।

कृशानुरपधूमत्वात्प्रसन्नत्वात्प्रभाकरः ।
रक्षोविप्रकृतावास्तामपविद्धशुचाविव ॥७४॥
दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणंराक्षसश्रियः ।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ॥७५॥
पुत्रजन्मप्रवेश्यानां सूर्याणां तस्य पुत्रिणः ।
आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ॥७६॥
संतानकमयी वृष्टिर्भवने चास्य पेतुषी ।
सन्मङ्गलोपचाराणां सैवादिरचनाभवत् ॥७७॥
कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः ।
आनन्देनाग्रजेनेव समं ववृधिरे पितुः ॥७८॥

७४—निर्धूमता पाकर अग्नि और विमलता पाकर सूरज दोनों राक्षस के सताए हुए सुखी से हुए ।

७५—उसी समय राक्षस श्री के आँसू की बूँद रावण के किरीटों से मणियों के मिस करके पृथ्वी में गिरी ।

७६—उस पुत्रवान के पुत्र जन्म में बजने योग्य तुरहियों का आरम्भ पहले आकाश में देव दुन्दुभियों ने किया ।

७७—और उसके घर में कल्पवृक्ष के फूलों की वर्षा पड़ी, वही श्रेष्ठ मंगल उपचारों की प्रथम रचना हुई ।

७८—संस्कार किये हुए धाय का दूध पीने वाले वे कुमार मानो पिता के आनन्द के साथ, जन्म में जेठे के साथ बढ़ने लगे ।

तब राकस-पीड़ित दुख पाई, अतिसय त्रसित अनल-दिनराई ।
तज्यौ सोच इक धूम बिहाई, दूजैं बहुरि बिमलता पाई ॥७४॥
तब रावन के मुकुटनि त्यागीं, मनिमहिं गिरति सवनि इमि लागीं।
मनहुँ राज-श्रिय लोचन-वारी, पर्‌यौ अवनि ह्वै अमित दुखारी ॥७५॥

दोहा

पुत्रवान - नरनाह - सुत-जन्म - उछाह मनाय ।
कियो अरम्भन देव-गन-दुन्दभि व्यौम बजाय ॥७६॥

चौपाई

अरु सुर-बिटप प्रसूनन केरी, भई बरसा नृप-सदन घनेरी ।
जनु-सुभ-मंगल-गन-उपचारा, भयौ प्रथम रचना कौ हारा ॥७७॥
भूप-सुकृत सब-कुल संस्कारा, धाय-छीर पीवत सुकुमारा ।
लगे बढ़न दिन-दिन सुभ-गाथा, जेठे-पितु-अनन्द के साथा ॥७८॥

स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणा ।
मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम् ॥७९॥
परस्पराविरुद्धास्ते तद्रघोरनघं कुलम् ।
अलमुद्दंचोतयामासुर्देवारण्यमिवर्तवः ॥८०॥
समानेऽपि हि सौभ्रात्रे यथोभौ रामलक्ष्मणौ ।
तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः ॥८१॥
तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्य बिभिदे न कदाचन ।
यथा वायुविभावस्वोर्यथा चन्द्रसमुद्रयोः ॥८२॥
ते प्रजानां प्रजानाथास्तेजसा प्रश्रयेण च ।
मनो जह्नुर्निदाघान्ते श्यामाभ्रा दिवसा इव ॥८३॥

७९—उनका स्वाभाविक नम्रपन शिक्षा पाकर अधिक हुआ, जैसे अग्नि का स्वाभाविक तेज हविष पाकर ।

८०—उन आपस में विरोध रहितों ने रघु का निष्पाप कुल अत्यन्त प्रकाशित किया, जैसे ऋतुओं ने नन्दन बन ।

८१—सभ्रातपन की समानता में भी जैसे दोनों राम लक्ष्मण तैसे भरत शत्रुघन प्रीति से जोड़े बने ।

८२—उनके जोड़ों की प्रीति में कभी भेद न पड़ा, जैसे अग्नि और पवन की में, जैसे समुद्र और चन्द्रमा की में ।

८३—उन प्रजा नाथों ने तेज से और नम्रता से प्रजा का मन हरा, जैसे ग्रीष्म के अन्त में काले बादलों वाले दिनों ने ।

सहज-बिनीति बालकन केरी, लहि सिच्छा इमि बड़ी घनेरी ।
जिमि-हुत-भुक कौं तेज अपारा, हवि-सन अमित करत बिस्तारा॥७९॥
सकल बिरोध परस्पर-बारौ, रघुकुल-अनघ-कुमार निचारौ ।
कुलहि प्रकास्यौ इन मिलि यौंहीं, रितु-प्रभाव-नन्दन-बन ज्यौंहीं ॥८०॥

दोहा

सहज-सुभाय सुभायपन, कीन्हीं प्रीति अथोरि ।
लसी भरत-रिपुहन जथा-राम-लखन की जोरि ॥८१॥

चौपाई

या बिधि प्रीति परस्पर जूटी, जो कबहूँ सपनेहुँ नहिं टूटी ।
रहै पवन-पावक इक साथा, जिमि रहै सिन्धु-संध-निसिनाथा ॥८२॥
तिन दिखाय निज तेज-बिनीती, लीन्ह प्रजा-मन कौ इमि जीती ।
जिमि निदाघ-दिन-बीतन माहीं, सजल-जलद जन-मनहिं सुहाहीं ॥८३॥

७९—हविष=घी इत्यादि हवन की सामग्री ।

८०—ऋतुओं के आपस में स्वभाव बैर भी हैं तो भी नन्दन बन को सब शोभित करती हैं ।

स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः ।
धर्मार्थकामनोक्षाणामवतार इवाङ्गभाक् ॥८४॥

गुणैराराधयामासुस्ते गुरुं गुरुवत्सला ।
तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवाः ॥८५॥

सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारै र्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः ।
हरिरिव युगदीर्घैर्दोर्भिरशैस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥८६॥

८४—राजा की वह चार रुप में बँटी हुई सन्तान शोभित हुई, मानो धर्म अर्थ काम मोक्ष का मूर्तिमान औतार ।

८५—उन बाप के प्यारों ने बाप को गुणों से प्रसन्न किया, जैसे महा समुद्रों ने पृथ्वी पति को को रत्नों से ।

८६—जैसे दैत्यों के खड्ग की धार तोड़ने वाले दाँतों से एरावत, जैसे पणबन्ध इत्यादि उपायों से नीति, जैसे जुए के समान बड़ी भुजाओं से विष्णु, ऐसे उसी के उन चारों अंशों से राजाओं का राजा दीप्तिमान हुआ ।

ऐसैं प्रगटि भूप-सुतचारी, चहुँ-दिसि कीरति-कलित पसारी ।
जनु धर्मऽर्थ मोच्छ अरु कामा, लियौ जनम कौसल-पति-धामा ॥८४॥

इमि गुन-गन पितु-प्रिय प्रगटाये, यातैं जनक हिये अति भाये ।
दै जिमि सिन्धु रतन की ढेरी, पावत प्रीति अवनि-पति केरी ॥८५॥

सवैया

दन्तनसौं सुर-वारन लौं, असिधार जा मारी सुरारिनि केरी ।
त्यौं साम आदि उपायनसौं, जिमि सोहत है नृप-नीति घनेरी ।
चारिहुँ-वांहु-विसालनि सौं, हरि की जिमि सोभा अनूपम हेरी ।
त्यौं हरिके चहुँ-अंसनि-सौं, बढ़ी औध-महीप-प्रभा-बहुतेरी ॥८६॥

॥ एकादशः सर्गः ॥

कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये ।
काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ॥१॥
कृच्छ्रलब्धमपि लब्धवर्णभाक्तं दिदेश मुनये सलक्ष्मणम् ।
अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता ॥२॥
यावदादिशति पार्थिवस्तयोर्निर्गमाय पुरमार्गसंस्क्रियाम् ।
तावदाशु विदधे मरुत्सखैः सा सपुष्पजलवर्षिभिर्घनैः ॥३॥

ग्यारहवाँ सर्ग

१—कहते हैं कि विश्वामित्र ने आकर उस राजा से यज्ञ की रक्षा के लिए कुल्लियों वाला राम माँगा, तेजस्वियों की बैस नहीं देखी जाती है ।

२—पंडितों के मान रखने वाले ने बड़े दुखों से पाया हुआ भी वह (पुत्र) लक्ष्मण सहित मुनि को दिया । रघु के कुल में प्राण माँगने वालों की भी याचना कभी निष्फल नहीं गई ।

३—जब तक उनके सिधारने के लिए राजा नगर मार्ग की सजावट की आज्ञा दे तब तक वह (सजावट) पवन के मित्रों ने, फूलों सहित जल बरसाने वाले बादलों ने, तुरन्त कर दी ।

ग्यारहवाँ सर्ग

रोला

बिघन-बिनासन-हेतु तबहिं मख कौ मुनिराई ।
जाँच्यौ राजकुमार - राम, दसरथ सौ आई ।
काक - पच्छ-धर लसत बाल-बय अमित सुहाई ।
तेजस्विनि की आयु कबहुँ देखी नहिं जाई ॥१

करि अगनित-तप-जज्ञ-जाप भूपति सुत पायौ ।
रामहिं लषन-समेत देत पै देर ना लायौ ।
यह नहिं कोउ बड़ि-बात बिमल रघुकुल के नेरे ।
चह्यौ प्रान कौ दान गये जाचक नहिं फेरे ॥२

भेजन मुनिबर साथ जबहिं निहचै नृप कीन्ह्यौं ।
नगर-बजार-बनाव - हेतु अनुसासन दीन्ह्यौं ।
पवन-सखा-घन करी मुदित भूपति - मन-भाई ।
तुरत सुमन-जल बरसि दियौ पुर-बाट सिंचाई ॥३

१—कुल्लियों वाला=जिसका केशान्त संस्कार न हुआ हो ।

तौ निदेशकरणोद्यतौ पितुर्धन्विनौ चरणयोर्निपेततुः ।
भूपतेरपि तयोः प्रवत्स्यतोर्नम्रयोरुपरि वाष्पबिन्दवः ॥४॥
तौ पितुर्नयनजेन वारिणा किंचिदुक्षितशिखण्डकावुभौ ।
धन्विनौ तमृषिमन्वगच्छतां पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ ॥५॥
लक्ष्मणानुचरमेव राघवं नेतुमैच्छदृषिरित्यसौ नृपः ।
आशिषं प्रयुयुजे न वाहिनीं सा हि रक्षणविधौ तयोः क्षमा ॥६॥
मातृवर्गचरणस्पृशौ मुनेस्तौ प्रपद्य पदवीं महौजसः ।
रेजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव ॥७॥

४—आज्ञा पूरी करने पर उद्यत वे दोनों धनुषधारी पिता के चरनों में गिरे, राजा के भी उन चलते हुए विनीत बानों के ऊपर आँसू गिरे ।

५—पिता के आँसुओं से कुछ चोटी भीगे हुए वे दोनों धनुषधारी मार्ग में पुरवासियों की दृष्टि को तोरण बनाते हुए उस ऋषि के पीछे गये ।

६—ऋषि ने लक्ष्मण ही सहित राम को ले जाना चाहा था इसलिए उस राजा ने सेना साथ न दी, असीस दी वही उनकी रक्षा विधि में समर्थ हुई ।

७—माता वर्ग के चरणों में नमस्कार किए हुए वे दोनों उस महा तेजस्वी मुनि के मार्ग में प्राप्त होकर शोभायमान दीखे, जैसे सूरज के मार्ग में गति के वश से फिरते हुए चैत बैसाख ।

तब निज-जनक-निदेस सपदि परिपालन हेतू ।
कीन्ह्यौं चरन-प्रनाम आनि दुहुँ रघुकुल - केतू ।
चलिबै-काज सँनद्ध - नमित - दोऊ - धनुधारी ।
नैन-बारि-बुँदियानि भूप तिनके सिर डारीं ।।४
दृग-जल बच्छल-भाव-माहिं नृप यौं बरसायौ ।
सुवन-सीस के काकपच्छ कछु-कछुक भिजायौ ।
कौसिक-मुनि के संग चलत दोऊ धनुधारी ।
पुरबासिन-दृग-लगे मनहुँ मग-बंदनिवारीं ।।५
चाह्यौ लषन - कुमार साथ रामहिं मुनि-राई ।
या-लगि तिनके संग भूप नहिं सैन पठाई ।
केवल आसिरबाद दियौ तिनकौं नरराई ।
जो सब भाँति समर्थ करन - हित सुवन-सहाई ।।६
मातनि के इमि परसि चरन मुनिके ढिग आये ।
धरैं अतुल-बल गात दुऔ एहि भाँति सुहाये ।
दिन-मनि-मारग-माहिं फिरत गतिबस-अनुरागे ।
मधु-माधव-सम जुगुल-राम-लछिमन तहँ लागे ।।७

५—राम लक्ष्मण का जाना देखने के लिए अजोध्या के लोग ठौर-ठौर पंक्ति बाँधे खड़े थे उनकी दृष्टि ही मानो मार्ग में तोरण बन्धनवार बनी थी ।

७—मातावर्ग=सब माता ।

वोचिलोलभुजयोस्तयोर्गतं शैशवाच्चपलमत्यशोभत ।
तोयदागम इवोद्धचभिद्ययोर्नामधेयसदृशं विचेष्टितम् ॥ ८ ॥

तौ वलातिबलयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः ।
मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितौ मातृपार्श्वपरिवर्तिनाविव ॥ ९ ॥

पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखस्य राघवः ।
उह्यमान इव वाहनोचित. पादचारमपि न व्यभावयत् ॥१०॥

तौ सरांसि रसवद्भिरम्बुभिः कूजितैः श्रुतिसुखैः पतत्रिणः ।
वायवः सुरभिपुष्परेणुभिश्छायया च जलदाः सिषेविरे ॥११॥

८—उन तरंग समान चंचल बाँह वालों की चपल चाल भी बालकपन के कारण शोभायमान थी, जैसे बरसा ऋतु में नाम सदृश गुण वाले उद्य और भिद्य (नदों) की गति ।

९—मुनि के पढ़ाये हुए बल और अतिबल नाम के दो मन्त्रों के प्रभाव से वे रत्न जटित भूमि के चलने वाले मार्ग में मलीन न हुए, जैसे माता की गोद में बैठे हुए ।

१०—मानो पुरानी कथाओं के जानने वाले, बाप के प्यारे, मुनि की कही हुई प्राचीन कथा रूपी वाहन पर भाई सहित चढ़े हुए राघव ने, वाहन पर चलने योग्य ने, पैरों का उठाना भी न जाना ।

११—उनको तालों ने मीठे जलों से, पक्षियों ने कानों को सुख देने वाले शब्दों से, पवनों ने सुगन्धित फूलों की रजों से, और बादलों ने छाया से, सेवन किया ।

लोल-लहरि-सम भुजा दोऊ तिनकीं सुखदायिनि ।
सिसुताई के काज लह्यौ अतिसय सुघरायिनि ।
जिमि बरषा रितु माहिं उमड़ि तट तोरत सोहत ।
उद्ध-भिद्य-सरतानि-प्रबाह जिमि जन-मन मोहत ॥ ८
तब निज-मन-मुद-मानि महा-महिमा-मुनि-राई ।
राजकुमारिन दियौ 'बला' - 'अतिबला' पढ़ाई ।
जासौं मनि-मय - अवनि - अंक - पगु -धारन-वारे ।
जननि-गोद-लौं रहे, भये मग-स्रम-न दुखारे ॥ ९
जानत पूर्व - कथानि सखा-पितु जौन महामुनि ।
उन कौसिक सौं सरस-प्रसंगनि कौं या बिधि सुनि ।
बर - बाहन के जोग, कथा-बाहन चढ़ि मानौं ।
केतौ पथ चलि गये पयादेहिं सो नहिं जानौं ॥ १०
सेवन लागे तिन्हैं सलिल सौं ताल सुहावन ।
लागे - नभचर श्रवन-सुखद-वर गान सुनावन ।
सुरभित - पुहुप - पराग पवन चहुँ - दिसि बगराई ।
बिपुल - बलाहक - बृन्द सघन - छाया सरसाई ॥ ११

८—उद्य और भिद्य दो नदी हैं । उद्य नाम इसलिए हुआ कि बरसात में उसका जल ऊँचा उठता है और भिद्य इसलिए कि तटों को तोड़ती है ।

नाम्भसां कमलशोभिनां तथा शाखिनां च न परिश्रमच्छिदाम् ।
दर्शनेन लघुना यथा तयोः प्रीतिमापुरुभयोस्तपस्विनः ॥१२॥
स्थाणुदग्धवपुषस्तगोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकार्मुकः ।
विग्रहेण मदनस्य चारुणा सोऽभवत्प्रतिनिधिर्न कर्मणा ॥१३॥
तौ सुकेतुसुतया खिलीकृते कौशिकाद्विदितशापया पथि ।
निन्यतुः स्थलनिवेशिताटनी लीलयैव धनुषी अधिज्यताम् ॥१४॥
ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाछविः ।
ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेव निविडा बलाकिनी ॥१५॥

१२—ऐसा आनन्द तपस्वियों ने न कमलों की शोभा वाले जलों के दर्शन से पाया था न थकावट मेटने वाले वृक्षों से जैसा उन दोनों के अभिलाषा किये हुए (दर्शन) से ।

१३—महादेव के जलाये हुए (कामदेव) के तपोवन में पहुँच कर वह चढ़े चापवाला दशरथ का पुत्र मनोहर शरीर से कामदेव की मूर्ति हुआ न कि कर्मों से ।

१४—विश्वामित्र से सुनी हुई शापित ताड़िका के सूने किए हुए मार्ग में उन दोनों ने धनुष की नोक धरती में टेकते हुओं ने, मानो खेल करके धनुषों पर प्रत्यंचा चढ़ाई ।

१५—तब उनकी प्रत्यंचा की टंकार सुनकर अँधेरी रात की छवि वाली, हिलते हुए कपाल कुंडलों वाली, ताड़का प्रगट हुई, मानो बगुलियाँ सहित घनी घटा ।

सुरभित - कमल-कलाप-बलित - सरबरनि-निहारी ।
तथा बिपुल - तरु - राजि सकल-स्रम खोवनिवारी ।
पायौ तिनिहिं बिलोकि नाहिं तपसिन सुख तेतौ ।
राजकुमारनि निरखि लह्यौ सबहिन सुख जेतौ ॥ १२
तबहिं धनुर्धर - राम ताहि तपोबन में आये ।
जा मैं संकर, कामदेव करि भस्म, सिराये ।
सुन्दर बपु सौं लसे तहाँ सो 'काम' सुहाये ।
क्रिया कलापनि 'कामदेव' के कुटिल बिहाये ॥ १३
दियौ क्रोध करि साप हुतौ कौसिक मुनि जाकौं ।
तपसिन सौं करि दियौ रहित सिगरौ बन, ताकौ ।
मारग ही में टेकि चंडि चापहिं वसुधा पै ।
सिंचिनि दई चढ़ाय भाखि मनमैं कछु आपै ॥ १४
सुनत कठिन-कोदंड-चंड धुनि अति-भयकारी ।
तुरत ताड़का आइ गई बदरी जनु कारी ।
छाजति मावस-निसा - सूचिका भेदि - अँध्यारी ।
कुंडल-सेत- कपाल - श्रवन बगुली - छबि - धारी ॥ १५

१४—विश्वामित्र ने राम लक्ष्मण को जता दिया था कि यह जंगल ताड़का राक्षसी का है जिसको अगस्त मुनि ने शाप दिया है कि राम के हाथ से मारी जायगी ।

तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया ।
अभ्यभावि भरताग्रजस्तया वात्ययेव पितृकाननोत्थया ॥१६॥
उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम् ।
तां विलोक्य वनितावधे घृणां पत्त्रिणा सह मुमोच राघवः ॥१७॥
यच्चकार विवरं शिलाघने ताडकोरसि स रामसायकः ।
अप्रविष्टविषयस्य रक्षसां द्वारतामगमदन्तकस्य तत् ॥१८॥
वाणभिन्नहृदया निपेतुषी सा स्वकाननभुवं न केवलाम् ।
विष्टपत्रयपराजयस्थिरां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् ॥१९॥

१६—उस तीव्र वेग से मार्ग के वृक्ष हिलाने वाली ने, प्रेतों के वस्त्र ओढ़ने वाली ने, भारी शब्द करने वाली ने, भरत के बड़े भाई को डराया, मानो मरघट में उठे हुए बगूले ने ।

१७—उस एक भुजा रूपी लाठी उठाये आती हुई को, कटि में मनुष्य की आँतों की मेखला लटकाई हुई को, देखकर राघव ने बाण के संग ही स्त्री हत्या की घिन छोड़ी ।

१८—जो छेद ताड़का की शिला समान कठोर छाती में राम के उस बाण ने किया सोई राक्षसों के देश में आगे प्रवेश न किए हुए यम का द्वार हुआ ।

१९—उस बाण से छिदी हुई छाती वाली ने गिरने में केवल अपने बन की भूमि ही नहीं तीन लोक जीतने से स्थिरता को पहुँची हुई रावण की श्री भी हिला दी ।

बिपुल-बेग सौं दिये मार्ग के बिटप ढहाई ।
प्रेत - बसन - परिधान रही रव-घोर मचाई ।
उठी-मसान - बबंडर - लौं अति अधम अभागी ।
भरताग्रज कौं निदरि तमचरी तरजनि लागी ॥ १६
एक भुजाहिं उठाएँ मुष्टिका तानैं धाये ।
आँतावली समेटि मेखला - कटि - लटकाये ।
तेहिं येहि भाँति निहारि नारि-वध-घिनहिं बिहाई ।
पुनि बाकौ करि लच्छ दियौ बर बान चलाई ॥ १७
या बिधि - निसित-नराच ताड़का पै प्रभु डारी ।
दियौ सिला-लौं-कठिन ताहि कौ बच्छ बिदारी ।
बन्यौं काल कौ द्वार-बिबर ताके उर माहीं ।
जानैं कबहुँ प्रवेस कियौ राकस - पुर नाहीं ॥ १८
बिंध्यौ बान सौं हियौ परी महि पै भहराई ।
निज कानन की महीमात्र ही नहीं कँपाई ।
तीनिहुँ लोकनि जीति लही जानैं थिरताई ।
बाह दसकंधर - राज्य सकल जनु दियौ हलाई ॥ १९

१७—आततायी के मारने में घिन उचित नहीं है चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष । इसलिये रामचन्द्र ने ताड़का मारने को बाण छोड़ा उस समय स्त्री हत्या की घिन भी छोड़ी ।

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रु धिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसन्ति जगाम सा ॥२०॥
नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोषितात् ।
ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात्सूर्यकान्त इव ताडकान्तकः ॥२१॥
वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरूपेयिवान् ।
उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः ॥२२॥
आससाद मुनिरात्मनस्ततः शिष्यवर्गपरिकल्पितार्हणम् ।
वद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं दर्शनोन्मुखमृगं तपोवनम् ॥२३॥

२०—राम रुपी कामदेव के कठिन बाण से हृदय में बिंधी हुई, बसीले रुधिर रुपी चन्दन का सोंधा लगाए हुए वह राक्षसी जीवतेश (यम अथवा प्रीतम) के धाम को गई ।

२१—पराक्रम करके प्रसन्न किए हुए मुनि से ताड़का मारने वाले ने राक्षसों का मारने वाला अस्त्र मंत्र सहित पाया, मानो सूर्य कान्ति मणि ने सूरज से काठ जलाने वाला तेज ।

२२—तिस पीछे बामन जी के पवित्र आश्रम में मुनि से सुने हुए में, पहुँच कर पहले जन्म के काम भूले हुए भी रामचन्द्र को प्रीति उपजी ।

२३—फिर मुनि जी अपने आश्रम में, चेलों की इकट्ठी की हुई पूजा सामग्री वाले में, पत्तों की अंजुली बाँधे हुए वृक्षों वाले में, दर्शन के लिये मुख उठाए हुए मृगों वाले में, पहुँचे ।

राम-काम-सर-बिंध्यौ-हियौ ब्याकुल तमचारिनि ।
सोनित-चंदन-लेपि गंध बिखेरति मतवारिनि ।
ताहि देखि अस लगत, मनहुँ बनिता अभिसारिनि ।
जीवितेस के धाम गई रस-रंग-बिहारिनि ॥ २०
निज-बल सों परितोषि राम इमि मुनिहिं रिझायौ ।
तिनसौं राकस-निधन-अस्त्र-नैरितघ्नहिं पायौ ।
लहत भानु सौं सूर्य-कान्त-मनि तेज अपारहिं ।
अस, जो करत जराय दारु-चय कौ छिन-छारहिं ॥ २१
वामन-आश्रम-पदहिं तबहिं रघुबर चलि आये ।
जाकौं अमित प्रभाव बरनौं मुनि मन हरषाये ।
जहँ धर्‌यौ हो वटुक-वपुष, बलि-छलिबै काहीं ।
ह्वै उत्कंठित कियौ तासु सुमिरन कछु नाहीं ॥२२
निज-तप-बन मन-मुदित तबहिं मुनि बर चलि आये ।
जहँ सिष्यनि मिलि सबै, पुजापा-साज सजाये ।
तरु-पल्लव-पुट बाँधि रहे जहँ अंजुल जोरी ।
ऊँचे मुखनि उठाय लखि रहे मृग तेहिं ओरी ॥२३

२०—ताड़का को अभिसारिका नायका बनाया है । राम का बाण लगा सोई मानो कामदेव की प्रेरणा हुई । बुरी बास का लोहू था सोई मानो शरीर में सोंधा लगा था । यमलोक था सोई प्रीतम का घर था ।

तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः ।
लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ रश्मिभिः शशिदिवाकराविव ॥२४॥
वीक्ष्य वेदिमथ रक्तबिन्दुभिर्बन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम् ।
संभ्रमोऽभवद पोढकर्मणामृत्विजां च्युतविकंकतस्रुचाम् ॥२५॥
उन्मुखः सपदि लक्ष्मणाग्रजो बाणमाश्रयमुखात्समुद्धरन् ।
रक्षसां बलमपश्यदम्बरे गृध्रपक्षपवनेरितध्वजम् ॥२६॥
तत्र यावधिपती मखद्विषां तौ शरव्यमकरोत्स नेतरान् ।
किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते ॥२७॥

२४—वहाँ दीक्षा लिये हुए ऋषि को दशरथ के दोनों पुत्रों ने बाणों के द्वारा विघ्नों से बचाया, जैसे बारी बारी से चन्द्र और सूरज ने लोक को किरणों के द्वारा घोर अंधकार से ।

२५—वेदों को बन्धुजीव के फूल समान बड़ी लोहू की बूँदों से दूषित देखकर ऋत्विजों को, सब कर्म छोड़े हुओं को, विकंकत की स्रुचा त्यागे हुओं को अचम्भा हुआ ।

२६—लक्ष्मण के जेठे भाई ने, निषंग से तुरन्त बाण निकालने को ऊँचा मुख किये हुए ने, आकाश में राक्षसों की सेना गिद्धों के पंखों की पवन से हिलती हुई ध्वजा वाली देखी ।

२७—वहाँ राक्षसों के जो दो मुखिये थे उनको उस (राम) ने बाण का बेझा बनाया औरों को नहीं । बड़े सर्पों में पराक्रम दिखाने वाला गरुड़ कहीं सपोलों में प्रवृत्त होता है ।

तहँ मष-दीच्छित-मुनिहिं नृपति-दसरथ-दुहुँ-वारिन ।
रच्छ्यौ बिघन-बिनासि त्यौंहि धनु-सायक-धारिन ।
जिमि कर-निकरि-बिकास चंद-सूरज छवि-छावत ।
अंधकार-सौं अखिल लोक ह्वै उदित बचावत ॥२४
बंधुजीव के सुमन-सरिस अतिशय अरुनारे ।
वड़री-सोनित-बुंद-निरखि रित्विज-हिय हारे ।
बेदिहिं दूखित देखि चकित मख-काज बिसारी ।
दियौ बिकंकति स्रुवन सबनि करि सौं महिं डारी ॥२५
तब लखनाग्रज सपदि तूनसौं विसिख निकार्‌यौ ।
आनन बहुरि उठाय ब्यौम-पथ ओर निहार्‌यौ ।
देखी राकस-चमू उड़त नभ मैं चलि आवत ।
गीध पंखनि की पौन-धुजा जिनकी फहरावति ॥२६
मख-बिघात मैं दच्छ दोहि-निसिचारिन ठायौ ।
तिनहीं कौं रघुबीर बान कौ लच्छ बनायौ ।
भीम-भुजंगनि पच्छिराज जो कोपि नसावत ।
लघु ब्यालनि-दल माहिं कबहुँ निज-बल दरसावत ॥२७

२५—बन्धु-जीव=दुपहरिये का फूल । विकंकत स्रुचा=खैर की लकड़ी की कलछी जो यज्ञ में काम आती है ऋत्विज=यज्ञ कराने वाला ब्राह्मण ।

सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रकोविदः संदधे धनुषि वायुदैवतम् ।
तेन शैलगुरुमप्यपातयत्पांडुपत्रमिव ताडकासुतम् ॥२८॥

यः सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया ।
तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती पत्त्रिणां व्यभजदाश्रमाद्बहिः ॥२९॥

इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयोः सांयुगीनमभिनन्द्य विक्रमम् ।
ऋत्विजः कुलपतेर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन्क्रियाः ॥३०॥

तौ प्रणामचलकाकपक्षकौ भ्रातराववभृथाप्लुतो मुनिः ।
आशिषामनुपदं समस्पृशद्दर्भपाटिततलेन पाणिना ॥३१॥

२८—अस्त्र ज्ञानी ने पवन का बड़ा वेगवान अस्त्र धनुष पर चढ़ाया उससे ताड़का का सुत (मारीच) पहाड़ समान भारी भी पीले पत्ते की नाईं गिराया ।

२९—सुबाहु नाम जो दूसरा राक्षस था जहाँ जहाँ माया करके गया उसको चतुर (राम) ने पैने बाणों से टुकड़े करके आश्रम के पक्षियों को बाँट दिया ।

३०—इस प्रकार यज्ञ के विघ्न मिटाने वाले उन दोनों के युद्ध का पराक्रम सराह कर ऋत्विजों ने मौन साधे हुए कुलपति का यज्ञ विधि पूर्वक समाप्त किया ।

३१—प्रणाम करने में हिलती हुई कुल्लियों वाले उन दोनों भाइयों को यज्ञ का अन्त स्नान किए हुए मुनि ने असीस देकर दाभ से चिरी हुई हथेली वाले हाथ से छुआ ।

अस्त्र-कला-बिद-राम कोपि कैं सारँग तान्यौं ।
मंत्र-प्रेरि पुनि पवन - उग्र - जब - सर-संधान्यौं ।
पीत-पत्र-सम सपदि ताड़का - सुतहिं गिरायौ ।
जाकौ मार अपार मेरु-मंदरहिं-लजायौ ॥२८

दीरघ - बाहु - सुबाहु-नाम-राकस बल - धारी ।
इहैं-उहैं भवैं लगौ अमित माया बिस्तारी ।
खंड-खंड तेहि काटि निसित-बानन सौं कीन्ह्यौं ।
आश्रम-पच्छिन बाँटि राम, मख-बाहिर दीन्ह्यौं ॥२९

रन-बिक्रम अभिनन्दि जग्य-करबावन बारे ।
राम-लखन कौं, अखिल-बिघ्न-बाधा जिन टारे ।
धरैं-मौन-ब्रत-कुलपति-कौसिक कौ मनभायौ ।
समुद जथाक्रम सबै जज्ञ-कारज करबायौ ॥३०

तब अवभृथ-अस्नान मुदित-मन-कौसिक कीन्ह्यौं ।
आसिरबाद अमोघ उमगि दोउ-भाइन दीन्ह्यौं ।
काक - पच्छ - जल - अलक-ओप बाढ़ति बहुतेरी ।
धस्यौ सीस मुनि पानि परसि कुस सहित हथेरी ॥३१

तं न्यमन्त्रयत संभृतक्रतुर्मैथिलः स मिथिलां व्रजन्वशी ।
राघवावपि निनाय बिभ्रतौ तद्धनुःश्रवणजं कुतूहलम् ॥३२॥
तैः शिवेषु वसतिर्गताध्वभिः सायमाश्रमतरुष्वगृह्यत ।
येषु दीर्घतपसः परिग्रहो वासवक्षणकलत्रतां ययौ ॥३३॥
प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतमवधूः शिलामयी ।
स्वं वपुः स किल किल्विषच्छिदां रामपादरजसामनुग्रहः ॥३४॥
राघवान्वितमुपस्थितं मुनिं तं निशम्य जनको जनेश्वरः ।
अर्थकामसहितं सपर्यया देहबद्धमिव धर्ममभ्यगात् ॥३५॥

३२—उसको यज्ञ करने वाले मिथिलेश (जनक) ने निमन्त्रण भेजा, वह जितेन्द्री मिथला नगरी को जाते हुए उसके धनुष का सुना हुआ कुतूहल मन में धरने वाले राघवों को भी ले गया ।

३३—उन मार्ग के अन्त पर पहुँचे हुओं ने साँझ समय सुन्दर आश्रम के रूखों में बसेरा लिया, जिनमें बड़े तपस्वी (गौतम) की नारी इन्द्र की छन मात्र स्त्री बनी थी ।

३४—गौतम की शिला रूप स्त्री ने जो बहुत काल पीछे अपना सुन्दर शरीर फिर पाया सो कहते हैं कि राम के चरनों की पाप मोचन रज का अनुग्रह था ।

३५—दोनों राघवों सहित मुनि को आया हुआ सुनकर राजा जनक पूजा सामग्री लेकर उसको आगे मिला, मानों अर्थ और काम सहित मूर्तिमान धर्म को ।

याहि समैं मख-माहिं जनक कौसिकहिं बोलायौ ।
मिथिलहिं करन पयान अमित मुनिबर सुखपायौ ।
लीन्ह्यौं साथ लेवाइ अवध-नृप-नन्दन काहीं ।
जिनकौं हियौ अघात चाप-कौतुक सुनि नाहीं ॥३२

चलत-चलत मग माहिं समय सन्ध्या कौ आयौ ।
आश्रम कियौ निवास कलित-तरु-पुंजनि छायौ ।
जह गौतम-मुनि-घरनि मनहुँ आपति की मारी ।
कपट-जाल परि बनी छद्म-वासव की नारी ॥३३

लहि गौतम-मुनि-साप भई पाषानमई जो ।
पुनि अपनौं तनु पाय लसी अति रूपरई सो ।
दलत जौन अघ-ओघ-जनित-त्रय ताप अखारौ ।
उनहिं राम - पद - कमल - रेनु कौ पाइ सहारौ ॥३४

राम-लखन लै साथ नगर कौसिक-मुनि आये ।
मनहुँ 'अरथ अरु काम', धर्म अपनैं सँग लाये ।
मिथिलाधिप-निमिराज सुनत आनंद मनाये ।
लै पूजन-उपहार तुरत स्वागत-हित धाये ॥३५

तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गताविव दिबः पुनर्वसू ।
मन्यते स्म पिबतां विलोचनैः पक्ष्मपातमपि वंचनां मनः ॥३६॥
यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ कालवित्कुशिकवंशवर्द्धनः ।
राममिष्वसनदर्शनोत्सुकं मैथिलाय कथवांबभूव सः ॥३७॥
तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः ।
स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानम पीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया ॥३८॥
अब्रवीच्च भगवन्मतङ्गजैर्यद्बृहद्भिरपि कर्म दुष्करम् ।
तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे मोघवृत्ति कलभस्य चेष्टितम् ॥३९॥

३६—आशा से पृथ्वी पर आए हुए पुनर्वसुओं सरीखे उन दोनों को आँखों से पीते हुए जनकपुर वासियों के मन ने पलक मारना भी विघ्न माना ।

३७—अनुष्ठान क्रिया समाप्त होने पर उस अवसर जानने वाले कुशिककुलबर्द्धन (विश्वामित्र) ने मिथिलेश को धनुष दर्शन के उत्साही राम की कथा कही ।

३८—उस प्रसिद्ध वंश के बालक का मनोहर शरीर देखकर और अपने धनुष की कठिनता विचार कर कन्या मोल की प्रतिज्ञा से राजा दुखी हुआ ।

३९—और बोला हे भगवान जो काम बड़े मतंगों से भी होना कठिन है उसमें बच्चे का व्यर्थ फलवाला साहस अनुमान करने को मैं उत्साह नहीं करता हूँ ।

राम-लषन, निमिराज-नगर एहि भाँति सुहाए ।
देवलोक सौं मनहुँ पुनरबसु जुग चलि आए ।
तिनकी सुषमा लखत पौरजन भरि अभिलाषनि ।
लगत बिघन-से जबहिं पलक,पल-झाँपत-आँखनि ॥३६
भयौ समापन जग्य-जूप जब मुनि-मन-जान्यौं ।
देस-काल-बित - कुसिक-बंस बरधन हरषान्यौं ।
इमि मैथिल-कुल-केतु जनक कौं बचन सुनायौ ।
"आजु चंड कोदंड लखन, रामहुँ-मन-लायौ" ॥३७
तब निज नैननि भूप राम-बपु-ललित निहारी ।
बिमल-बंस अवतंस कुँवर मनमैं निरधारी ।
दुर-दमनीय बहोरि संभु कौ चाप बिचारी ।
सुता-सुल्क-पन-सुमरि हिए पायौ दुख भारी ॥३८
कहन लगे निमिराज, सुनहुँ मुनि बात हमारी ।
जेहि करि सकत न दीर्घकाय गज हू बलधारी ।
भगवन!किमिकरि सकत कलभतेहि कारजकाहीं ।
समुझि व्यर्थ-परिनाम होत हिय-साहस नाहीं ॥३९

३८—कन्या मोल=धनुष उठाने का प्रण ।

ह्रेपिता हि बहवो नरेश्वरास्तेन तात धनुषा धनुर्भृतः ।
ज्यानिघातकठिनत्वचो भुजान्स्वान्विधूय धिगिति प्रतस्थिरे ॥४०॥
प्रत्युवाच तमृषिर्निशम्यतां सारतोऽयमश्रवा गिरा कृतम् ।
चाप एव भवता भविष्यति व्यक्तशक्तिरशनिर्गिराविव ॥४१॥
एवमाप्तवचनात्स पौरुषं काकपक्षकधरेऽपि राघवे ।
श्रद्दधे त्रिदशगोपमात्रके दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि ॥४२॥
व्यादिदेश गणशोऽथ पार्श्वगान्कार्मुकाभिहरणाय मैथिलः ।
तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये तोयदानिव सहस्रलोचनः ॥४३॥

४०—हे तात ! इस धनुष से बहुतेरे धनुषधारी राजा लज्जित होकर अपनी भुजाओं को, प्रत्यंचा की फटकारों से कड़ी त्वचा वालियों को धिक्कार है ऐसा कहकर चले गए हैं।

४१—ऋषि ने उसको उत्तर दिया इसका बल सुनो, अथवा कहने से क्या है यह तेरे चाप ही में बल दिखाने वाला होगा, जैसे पर्वत में बज्र ।

४२—इस प्रकार के आप्त वचन से उसने कुल्लियों वाले राम में भी पराक्रम विश्वास किया, जैसे इन्द्र बधू मात्र अग्नि में दाह शक्ति।

४३—तब सेवकों के समूह को जनक ने धनुष लाने के लिए आज्ञा दी, मानो इन्द्र ने बादलों (के समूह) को तेजमय धनुष प्रकट करने के लिये ।

केतिक-अपर-नरेस बिपुल धनु-धारनबारे ।
चाप-चढ़ावन माहिं सबहिं बिधि सौं हिय-हारे ।
ज्या-निघात सौं कठिन जुगल दीरघ भुज-वारे ।
निज-बल कौ धिरकारि आपने देस सिधारे ॥४०
तब बोले मुनिराज,"जनक नृप! हिय-गुनि लीजै ।
बानी-बल-मैं एक राम, मन - दै सुनि लीजै ।
चंडीपति के चाप माहिं निज सक्ति दिखैहैं ।
कुलिस-सरिस ये कुधर धनुष कौं धूरि मिलैहैं" ॥४१
अप्तवाच इमि कुसिकनंद कौ आयसु मानी ।
काक-पच्छ - धर-राम माहिं स्रद्धा नृप आनी ।
होति अमित लघु कछु प्रतच्छ नहिं सकति बिगारी ।
दाह-सक्तिजुत होत तदपि पावक - चिनगारी ॥४२॥
तब अनुचरन-समूह सपदि निमिराज बुलायौ ।
तिनहिं चंडिपति-चंड-चाप इमि लैन पठायौ ।
जा बिधि जलधर जूह सकल निज निकट बुलाई ।
धनु-प्रगटावन-काज देत सुरराज रजाई ॥४३

४२--इन्द्र बधू मात्र अग्नि अर्थात् चिनगारी ।

तत्प्रसुप्तभुजगेन्द्रभीषणं वीक्ष्य दाशरथिराददे धनुः ।
विद्रूतक्रतुमृगानुसारिणं येन बाणमसृजद्वृषध्वजः ॥४४॥
आततज्यमकरोत्स संसदा विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः ।
शैलसारमपि नातियत्नतः पुष्पचापमिव पेशलं स्मरः ॥४५॥
भज्यमानमतिमात्रकर्षणात्तेन वज्रपरुषस्वनं धनुः ।
भार्गवाय दृढमन्यवे पुनः क्षत्त्रमुद्यतमिव न्यवेदयत् ॥४६॥
दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः ।
राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ॥४७॥

४४—दशरथ सुत ने सोते सर्प राज सरीखा भयंकर वह धनुष देखकर उठा लिया जिससे महादेव जी ने भागते हुए यज्ञ रूपी मृग के पीछे जाने वाला बाण छोड़ा था ।

४५—अचम्भे की आँखों से सभासदों के देखते हुए उस (राम) ने पर्वत के बलवाला (धनुष) भी बिना बहुत यत्न ही प्रत्यंचा चढ़ा हुआ कर दिया, मानो कामदेव ने फूलों का कोमल चाप ।

४६—उसके बहुत खेंचने से टूटते हुये ने, वज्र समान कठोर शब्द वाले चाप ने, मानो अति क्रोधी परसराम को क्षत्रियों का फिर उद्यत होना जताया ।

४७—तब महादेव के धनुष में देखा हुआ पराक्रम रूपी कन्या मोल सराह कर जनक ने बिना योनि से जन्मी हुई बेटी राघव को अर्पण की, मानो रूपवती लक्ष्मी ।

तब, जो सोवत भीमकाय-इव-बिषधर कार्‌यौ ।
बाहि, चंड-कोदंड काहिं रघु-बर-कर धार्‌यौ ।
जाही सौं, करि कोप त्रिलोचन हो, सर-त्यागौ ।
मख-मृग कौं करि लच्छ,तीव्र-गति-सौं जो भागौ ॥४४
पर्वत सार-समान चाप-कोटि कौं नवायौ ।
कियौ न नैकु प्रयास सिंजिनिहिं राम चढ़ायौ ।
मानहुँ कुसुम-कमान-काम की मृदुल सुहाए ।
सभा बिलोकन लगी चकित बिनु पलक गिराए ॥४५
टूट्यौ कठिन-पिनाक राम जबैं स्रौन-लौं तान्यौं ।
मानहुँ असनि-निपात भयौ सबहीं इमि जान्यौं ।
दिग घोरनि लौं गूँजि बहुरि सोई रव इमि छायौ ।
धनु-धनु-भृगुपतैं कह्यौ, नृपनि-पुनि-सिरनि-उठायौ ॥४६
इमि दृढ़-बल अवलोकि जनक अति सै अनुरागे ।
रामहिं बारहिं बार समुद अभिनंदन लागे ।
पुनि अयोनिजा-दुहितहिं दै सनमानित कीन्ह्यौं ।
कमलहिं मनहुँ प्रतच्छ सौंपि तिनकौं नृप दीन्ह्यौं ॥४७

४७—इस श्लोक में जनक ने सीता मन में राम को अर्पण की । सीता पृथ्वी से निकली थी इसलिए बिना योनि से जन्मी हुई कहलाई ।

मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम् ।
संनिधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान् ॥४८॥
प्राहिणोच्च महितं महाद्युतिः कोशलाधिपतये पुरोधसम् ।
भृत्यभावि दुहितुः परिग्रहाद्दिश्यतां कुलमिदं निमेरिति ॥४९॥
अन्वयेष सदृशीं स च स्नुषां प्राप चैनमनुकूलवाग्द्विजः ।
सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम् ॥५०॥
तस्य कल्पितपुरस्क्रियाविधेः शुश्रुवान्वचनमग्रजन्मनः ।
उच्चचाल बलभित्सखो वशी सैन्यरेणुमुपितार्कदीधितिः ॥५१॥

४८—सच्ची प्रतिज्ञा वाले जनक ने, बिना योनि से जन्मी हुई बेटी राघव को कान्तिमान तपस्वी के सामने तुरन्त दी, मानो अग्नि साक्षी करके ।

४९—और कोशल पति (दशरथ) के लिये महा तेजस्वी ने महाशय पुरोहित यह कह कर भेजा कि बेटी ब्याह ने से इस निमी के कुल को सेवक भाव वाला जानो ।

५०—वह पुत्र के सदृश वधू चाहता था और चाही हुई बात का कहने वाला ब्राह्मण उसके पास पहुँचा । सुकृतियों की मनोकामना कल्पवृक्ष के फल के स्वभाव वाली तुरन्त ही पकती है (अर्थात् फलती है) ।

५१—उस पूजन सत्कार किए हुए ब्राह्मण का वचन सुनकर इन्द्र का बली सखा (दशरथ) सेना की रज से सूरज की किरणों को ढकता हुआ चला ।

तब मैथिल-अधिराज अमित मनमोद बढ़ाई ।
भई प्रतिग्या सत्य जानि अतिसै हरषाई ।
विस्वामित्र-समच्छ रामैं इमि सीतहिं दीन्ह्यौं ।
मनु तनुधारी-दीप्त-अनल कौ साखी कीन्ह्यौ ॥४८
तबहिं अवधपति निकट पुरोहित जनक पठायौ ।
तथा निवेदन दसरथ सौं एहि भाँति करायौ ।
"यहि निमिकुल की सुता ब्याहि गौरव मोहिं दीजै ।
हमरो-सेवा-भाव मानि एहि नातें लीजै ॥४९
निज-सुत-गुन-अनुरूप - बधू चाहत नरपाला ।
आय गयौ अनुकूल-बचन-दुज तहँ तेहिं काला ।
साँचेहु सुकृती-सुजन हिएँ जो कछु अभिलाषत ।
कल्पबृच्छ-फल-सरिस-फलित तिनकौं विधिराखत ॥५०
तब सुरपति के सखा, जीति इन्द्रिन जिन लीन्ह्यौं ।
बिधिवत दुजपद पूजि तिनहिं आदर बहु दीन्ह्यौं ।
चले बाहननि साजि बार नहिं नैकु लगाई ।
सैन-गमन-उठी-रेनु-दियौ रवि-करनि छिपाई ॥५१

आससाद मिथलां स वेष्टयन्पीडितोपवनपादपां बलैः ।
प्रीतिरोधमसहिष्ट सा पुरी स्त्रीव कान्तपरिभोगमायतम् ॥५२॥
तौ समेत्य समये स्थितावुभौ भूपती वरुणवासवोपमौ ।
कन्यकातयनकौतुकक्रियां स्वप्रभावसदृशीं वितेनतुः ॥५३॥
पार्थिवीमुदवहद्रघूद्वहो लक्ष्मणस्तदनुजामथोर्मिलाम् ।
यौ तयोरवरजौ वरोजसौ तौ कुशध्वजसुते सुमध्यमे ॥५४॥
ते चतुर्थसहितास्त्रयो बभुः सूनवो नववधूपरिग्रहाः ।
सामदानविधिभेदनिग्रहाः सिद्धिमन्त इव तस्य भूपतेः ॥५५॥

५२—वह सेना के हिलाए हुए वृक्षों के उपवनों वाली मिथिला (नगरी) को घेरता हुआ पहुँचा, उस पुरी ने प्यार का घेरा सहा, जैसे स्त्री ने प्यारे का कड़ा आलिंगन ।

५३—उन दोनों आचार नेष्टा वाले राजाओं ने, वरुण और इन्द्र की उपमा योग्यों ने, मिल कर पुत्रियाँ और पुत्रों की विवाह क्रिया अपने वैभवों के अनुसार की ।

५४—पृथ्वी की बेटी (सीता) रघुकुल नायक ने ब्याही और उसकी छोटी बहन उर्मिला लक्ष्मण ने, उनके जो दो तेजस्वी भाई थे उन्होंने अच्छी कटिवाली कुश-ध्वजा की दो बेटियाँ ।

५५—चौथे समेत वे तीनों बालक नई बहुओं के पाणि ग्रहण से शोभायमान हुए, मानो उस राजा के फल सिद्धि वाले साम दाम भेद और दंड ।

लै निज सैन - समूह घेर्‌यौ जैसे मिथिलाहीं ।
आए, पीड़ित त्यौं उपवन-तरु जूटन काहीं ।
तिन सबकौ प्रतिरोध लियौ नगरी सहि कैसें ।
नवल-प्रिया परिभोग सहत पीतम कौं जैसें ॥५२
दसरथ-जनक नरेस मिले जब अति अनुरागे ।
ताखन बासव बरुन सरिस दोऊ नृप लागे ।
सुत-सुतानि कौ समुद ब्याह अतिसय रसभीन्यौं ।
निज गौरव अनुरूप दोऊ महिपालन कीन्ह्यौं ॥५३
अवनिसुता सौं ब्याहु तबहिं रघुबर नै कीन्ह्यौं ।
लखन पंकरुह-पानि उर्मिला कौ गहि लीन्ह्यौं ।
तथा भरत-रिपुदमन-साथ हिय-अमित-उमाहीं ॥५४
मांडवि अरु श्रुतकीर्ति दुहुँनि कुसधुज नै ब्याहीं ।
दसरथ राजकुमार चारहूँ परम उछाहीं ।
निमिकुल-कुमद-कलाधर की सब सुता बियाहीं ।
सौहे चारौं कुँवर इनहिं लहि इमि भर पूरे ।
साम दाम दंडादि पाये जनु 'जतननि' रूरे ॥५५

५५—बहुओं समेत चारों बेटे दशरथ को ऐसे हुए मानों अपने अपने फलों समेत साम दाम दंड भेद ।

ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम् ।
सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः ॥५६॥
एवमात्तरतिरात्मसंभवाँस्तान्निवेश्य चतुरोऽपि तत्र सः ।
अध्वसु त्रिषु विसृष्टमैथिलः स्वां पुरीं दशरथो न्यवर्तत ॥५७॥
तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा वत्मर्सु ध्वजतरुप्रमाथिनः ।
चिक्लिशुर्भृशतया वरूथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम् ॥५८॥
लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्धभीमपरिवेषमण्डलः ।
वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः ॥५९॥

५६—उन राजकुमारियों ने राजकुमारों से और इन्हीं ने उन से कृतार्थपन पाया, दूलह दुलहिनों का वह समाज प्रत्यय और प्रकृति के संयोग समान हुआ ।

५७—इस प्रकार वह अनुरागवान दशरथ वहाँ अपने उन चारों बेटों को ब्याह कर जनक को तीसरे पड़ाव में छोड़ता हुआ अपनी पुरी को लौटा ।

५८—एक दिन मार्ग में ध्वजा रूपी वृक्षों को हिलाने वाली सामने की पवनों ने उसकी सेना बहुत सताई, जैसे नदी के उत्तट प्रवाह ने जंगल की भूमि ।

५९—तिस पीछे सूरज भयानक परिधि मंडल में बँधा हुआ दिखलाई दिया, मानो गरुड़ के मारे हुए सर्प की कुंडली में गिरी हुई मणि ।

दसरथ - राज - कुमार तथा निमिराज दुलारी ।
भये कृतारथ सबै महा-महिमा बिस्तारी ।
प्रत्यय औ' मिलि प्रकृति जौन बिधि सौं-सरसावत ।
तैसें ही मिलि यहौ परम आनंद बरसावत ॥५६
एहिं बिधि अवधनरेस ब्याहि निज चारौं कुमारन ।
कौसल देसहिं लगे सकल-जन-सहित-पधारन ।
सिबिर करत एहिं भाँति बहुरि उठि करत पयान्यौं ।
तजत तीसरौ जनक-सिबिर इमि बिघन लखान्यौं ॥ ५७
ध्वजा-सरिस मग-बिटप-राजि कौं बिदलि कँपावत ।
तबहिं चल्यौ झंझा - प्रतीप जो धूम-मचावत ।
सैनहिं इमि दुख-दैन लग्यौ अवधहिं जो आवत ।
जिमि नद-प्रबल-प्रबाह उलटि तट-महिंहिं नसावत ॥ ५८
दीसन लाग्यौ तबहिं भानुहत-तेज घनेरौ ।
इमि भयकारी बनैं परिधि मण्डल सौं घेर्‌यौ ।
मनहु सर्प-फन-गिरी-मनीं यहिं तेज पसार्‌यौ ।
मरे साँप सौं घिरी गरुड़-बाँधि जेहिं महिं डार्‌यौ ॥५९

५६—व्याकरण में जब प्रत्यय और प्रकृति मिलते हैं तब अर्थवान शब्द बनता है ।

श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सांध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः ।
अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः ॥६०॥
भास्करश्च दिशमध्युवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं वबासिरे ।
क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः ॥६१॥
तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित् ।
अन्वयुङ्क्त गुरुमीश्वरः क्षितेःस्वन्तमित्यलघयत्स तद्व्यथाम् ॥६२॥
तेजसः सपदि राशिरुत्थितः प्रादुरास किल वाहिनीमुखे ।
यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकैर्लक्षणीयपुरुषाकृतिश्चिरात् ॥६३॥

६० —श्येन के पंखों रूपी धूसरी अलकों वाली, साँझ के बादलों रूपी लोहू के आले कपड़ों वाली, रजस्वला (अर्थात धूल उड़ती हुई) दिशा देखने के अयोग्य हुई जैसे (रजस्वला) स्त्री ।

६१—और जिस दिशा में सूरज रहता है उसमें जाकर गीदड़ियों ने भयंकर रुदन किया, मानों छत्रियों के लोहू से पितृयों का तर्पण करने वाले परसराम के उभारने को ।

६२—तब उलटी पवन इत्यादि के बुरे शगुन देखकर उस कार्य ज्ञानी भूपति ने उनके निवारने के लिये गुरू से पूछा, "परिणाय अच्छा होगा" यह कर उसने उसकी विथा घटाई ।

६३—कहते हैं कि जोति का एक पुंज तुरन्त उठकर सेना के आगे प्रगट हुआ जिसको योद्धाओं ने आँख मीड़कर बहुत देर में मनुष्य आकार जाना ।

स्येन-पच्छ-धूसरित मलिन अलकैं घुँघरारी ।
संध्या-घन सम रुधिर-अरुन-गीली कछु सारीं ।
रजःस्वला-तिय-सरिस दिसा सबहीं धुँधरारीं ।
अब जिनकी दिसि जात मरूकरि-दीठि न डारी ॥६०
जेहिं दिसि सूरज रहे, उतैं ही मुख कै स्यारिन ।
रोवै - लागीं महा अमंगल-सुर - भयकारिन ।
छत्रि-रक्त-अंजलि, जिन दइँ पितैं प्रतिकृति-भीनीं ।
या मिस तिन भृगुपतिहिं मनहुँ मिलि पेरना दीनीं ॥६१
उलटौ पवन प्रबाह देखि असगुन मन मानी ।
कही सान्ति के काज तबहिं गुरु सौं नृप बानी ।
"ह्वैहै तव कल्यान" उठे इमि बोलि मुनीसा ।
तब सब बिथा-बिहाय चैन पायौ अवनीसा ॥६२
सैनिक-सुभट-समूह - सामुहैं, तहँ पल - मारत ।
भई तेज की रासि प्रगट सबपै भय पारत ।
चकाचौंध अस भयौ सबै सेना घबराई ।
बड़ी देर मैं, कछुक मनुज बपु पर्‌यौ लखाई ॥६३

६०—श्येन=शिकार अथवा बाज पक्षी ।

पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत् ।
यः ससोम इव धर्मदीधितिः स द्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥६४॥
येन रोषपरुषात्मनः पितुः शासने स्थितिभिदोऽपि तस्थुषा ।
वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो मही ॥६५॥
अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः ।
क्षत्त्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन् ॥६६॥
तं पितुर्वधभवेन मन्युना राजवंशनिधनाय दीक्षितम् ।
बालसूनुरवलोक्य भार्गवं स्वां दशां च विषसाद पार्थिवः ॥६७॥

६४—जो जनेऊ चिन्ह वाला पिता का अंश और धनुष से बल पाया हुआ माता का अंश धारण किये हुए था, मानो चन्द्रमा सहित सूर्य, सर्प सहित चन्दन का वृक्ष ।

६५—जिसने क्रोधी कठोर बुद्धी मर्यादा घाती पिता की भी आज्ञा पूरी करने में प्रवृत्त होकर कँपती हुई माता का सिर काटकर पहले दया जीती थी फिर पृथ्वी ।

६६—जो दाहने कान पर रक्खी हुई रुद्राक्ष की माला से दीप्तमान था, मानो मिस करके क्षत्रियों के नाश की इक्कीस की गिनती धारण किये हुए ।

६७—पिता के बध से उपजे हुए कोप के कारण क्षत्री वंश के नाश निमित्त प्रतिज्ञा किये हुए उस भार्गव को और अपनी दशा को देख कर छोटे पुत्रों वाला राजा दुखी हुआ ।

जनक-चिन्ह गर मैं पुनीत उपबीत बिराजत ।
मातु-अंस त्यौं चंड-चाप काँधे-छबि-छाजत ।
सोम-दिवाकर-सरिस एक साथहिं दिखराने ।
चंदन-तरु-लौं रहैं साँप जामैं लपटानैं ॥६४

क्रोध-कलित जिन जनक-बचन अपनैं उर धारी ।
लियौ काटि सिर रही सभय काँपति महतारी ।
जिन या बिधि सौं जीति घिनहिं पहलैं ही लीन्ह्यौं ।
पुनि सब नृपनि-संहारि धरहिं अपनैं बस कीन्ह्यौं ॥६५

धारैं दच्छिन-स्रवन माहिं मुनिबर तेहिं काला ।
इकइस - गुरियन - बलित - दिब्य-रुद्राच्छी-माला ।
मानहुँ इतनेइँ बार अवनि के खल-नृप-बृंदनि ।
सुमिर पिता-बध कियौ हुतौ भृगुराम निकंदन ॥६६॥

जनक-निधन सौं कोप-कलितु भृगुपतिहिं निहार्‌यौ ।
राजबंस के निधन-हेत जिननैं ब्रत धार्‌यौ ।
पुनि बिरधापन-बाल-सुवन अपनैं अवलोकी ।
सहमि कौसलाधीस भयौ अति सै हिय-सोकी ॥६७

नाम राम इति तुल्यमात्मजे वर्तमानमहिते च दारुणे ।
हृद्यमस्य भयदायि चाभवद्रत्नजातमिव हारसर्पयोः ॥६८॥
अर्घ्यमर्घ्यमिति बादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।
क्षत्त्रकोपदहनार्चिषं ततः संदधे दृशमुदग्रतारकाम् ॥६९॥
तेन कार्मुकनिषक्तमुष्टिना राघवो विगतभीः पुरोगतः ।
अङ्गुलीविवरचारिणं शरं कुर्वता निजगदे युयुत्सुना ॥७०॥
क्षत्त्रजातमपकारवैरि मे तन्निहत्य बहुशः शमं गतः ।
सुप्तसर्प इव दण्डघट्टनाद्रोषितोऽस्मि तव विक्रमश्रवात् ॥७१॥

६८—अपने पुत्र में और कठोर बैरी में समानवर्ती राम यह नाम उसको प्यारा और भयंकर था, जैसे हार में सर्प में रत्न ।

६९—"अर्घ अर्घ" ऐसा कहते हुए राजा की ओर न देखता हुआ जिधर भरत का बड़ा भाई था उधर उसने क्षत्रीवंश पर उपजी हुई कोप अग्नि की ज्वाला समान भयानक पुतली वाली दृष्टि दिखलाई ।

७०—धनुष में मुट्ठी बाँधता हुआ अँगुलियों में बाण फिराता हुआ वह युद्ध चाहने वाला सामने आये हुए निडर राघव से बोला ।

७१—अपकार करने से क्षत्री वंश मेरा बैरी है उसको बहुत बेर मारकर शांति को गया हुआ मैं तेरा पराक्रम सुनने से कोपित हुआ हूँ, जैसे लाठी से छूने से सोता हुआ साँप ।

रहे सुवन अरु दुवन दुवौ दसरथ के 'रामा' ।
भयौ प्रेम-भय भूरि हिए सुमिरत सोइ नामा ।
जथा हार मैं रहत रतन सब ही सुखदानी ।
पै सोइ भीम-भुजंग-सीस अति ही दुखदानी ॥६८
"अर्घ्य अर्घ्य" कहि नृप डेरात-सेवक कहँ टेर्‌यौ ।
पै भृगुपति, महिपाल ओर रंचक नहिं हेर्‌यो ।
भरताग्रज जहँ रहे लोक-लोचन-सुखकारी ।
छत्रिन-प्रति-निज-ज्वलनि-दीठि, वाही दिसि डारी ॥६९
कसी मुठी मैं कोपि चंड चापहिं मुनि धारे ।
अरु अँगुरिन के बीच घुमावत बान निकारे ।
रन-करिबे-हित अति उछाह मन मैं जिन धार्‌यौ ।
सन्मुख ठाढ़े अभय राम कहँ आइ प्रचार्‌यौ ॥७०
"कियौ हुतौ अपकार सत्रु-छत्रिन मम भारी ।
पाई सान्ति कछूक तिन्है रन-बीच-सँघारी ।
तव-बिक्रम सुनि बहुरि क्रोध मम-हिय-इमि जाग्यौ ।
सोवत अहि के सीस दंड जैसे होइ लाग्यौ ॥७१

मैथिलस्य धनुरन्यपार्थिवैस्त्वं किलानमितपूर्वमक्षणोः ।
तन्निशम्य भवता समर्थये वीर्यशृङ्गमिव भग्नमात्मनः ।।७२।।
अन्यदा जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामगात् ।
व्रीडमावहति मे स संप्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि ।।७६।।
बिभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठितं द्वौ रिपू मम मतौ समागसौ ।
धेनुवत्सहरणाच्च हैहयस्त्वं च कीर्त्तिमपहर्त्तुमुद्यतः ।।७४।।
क्षत्त्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि ।
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः ।।७५।।

७२—पहले और राजाओं का न नवाया हुआ जनक का धनुष तैंने तोड़ा, तिसको सुनकर मैंने अपना पराक्रम रूपी सींग तुझ से टूटा हुआ सा माना है ।

७३—अब तक जगत में उच्चारण किया हुआ राम यह शब्द मुझी में था, अब तेरे उदय होने पर दूसरे में जाकर मुझे लजाता है ।

७४—पहाड़ों में भी न रुके हुए अस्त्र के मुझ धारण करने वाले ने अपने दो बैरी समान अपराधी माने हैं, गाय का बछड़ा हरने से कार्तवीर्य और कीर्ति हरने पर उद्यत तू ।

७५—इसलिये छत्रियों का नाश करने वाला पराक्रम भी मुझे तेरे जीते बिना नहीं भाता है, अग्नि की महिमा यही गिनी जाती है कि समुद्र में काठ की नाईं प्रज्वलित हो ।

जो मिथिलाधिप - धनुष झुक्यौ राजन सौं नाहीं ।
अति लाघव-सौं तुम चढ़ाय तोर्‌यौ तेहिं काहीं ।
सुनि निज-काननि वह उदग्र बिक्रम अब तेरौ ।
मानत हौं बल-सृंग खस्यौ पुहमी पै मेरौ ।।७२

रह्यौ आजु लौं 'राम' एक सिगरे जग माहीं ।
दूजौ कोऊ और राम कहवायौ नाहीं ।
बिधि-बस तुम्हरौ उदय ह्वै रह्यौ महि पै जबतैं ।
याहि नाम तैं सुन्यौं, हौंहुँ हौं लज्जित तबतैं ।।७३

अचल-अकुंठित परसुधरहिं नहिं कोउ समुहान्यौं ।
दोई-रिपु जग माहिं आज लौं मैं निज मान्यौं ।
कामधेनु - सह–बच्छ - हारी - हैहय – बलधारी ।
औ' तुम राजकुमार आज मम-ठाढ़-अगारी ।।७४

छत्रिन कौ छय-करन-सौर्ज नहिं रोचत मोकौं ।
जौं लगि दसरथ-नंद-राम जीतत नहिं तोकौं ।
महिमा सोइ सराहनीय है पावक केरी ।
सागर हू मैं जरै, जरै ज्यौं ईंधन ढेरी ।।७५

विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया ।
खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥७६॥
तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम् ।
तिष्ठतु प्रधनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥७७॥
कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम ।
ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः ॥७७॥
एवमुक्तवति भीमदर्शने भार्गवे स्मितविकम्पिताधरः ।
तद्धनुर्ग्रहणमेव राघवः प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम् ॥७९॥

७६—और महादेव का जो धनुष तैंने तोड़ा है उसे विष्णु के तेज से खिंचे हुए बल वाला जान, नदी के वेग से जड़ खुदे हुए तट के वृक्ष को कोमल पवन भी गिरा देती है ।

७७—इसलिये मेरे इस धनुष को तू प्रत्यंचा चढ़ाकर वाण सहित खेंच, संग्राम रहने दे इससे भी मैं तुझ तुल्य बाँह बल वाले से जीता हुआ (हूँगा) ।

७८—और जो मेरे फरसे की चमकती हुई धार से ताड़ना पाकर डरा है तो अभय दान के लिये तू ज्याघात से वृथा कठिन अँगुलियों वाली अंजुली बाँध ।

७९—इस प्रकार भयानक रूप भार्गव के कहने पर हँसी से होठ हिलाते हुए राघव ने उसके धनुष का लेना ही उचित उत्तर माना ।

भयौ सार-सौं - रहित धनुष त्रयलोचन केरौ ।
बिस्नु-तेज कौ पाय राम, राउर इमि हेरौ ।
जिन बिटपन कौं कूल, नदी कौ बेग नसावत ।
धीरे हूँ चलि पवन तिन्हैं महि सपदि गिरावत ॥७६

दुंद जुद्ध हू तजौ, किन्तु मम-धनुष नवाई ।
जोरौ या पै बान, सपदि सिंजिनिहिं चढ़ाई ॥
तो फिरि तुमकौ समुझि भली-बिधि सम बलवारौ ।
मनिहौं अब तैं राम, अपन-कौं तुम-तैं हारौ ॥७७

ज्वलित-परसु-खर-धार देखि जो जीय - डेरानैं ।
अरु कातर ह्वै रहे हिए अतिसै - भय - मानैं ।
ज्यानिघात सौं कठिन वृथा अंगुरी जिन केरी ।
अभय-दान, उनकरनि-जोरि माँगहु कहौं टेरी ॥७८

भृगुवर-बेस-कराल जबहिं या बिधि सौं बोले ।
तव पल्लव-से मृदुल अधर-रघुबर के डोले ।
लैबौ तिनकौ धनुष, राम अपनैं मन-ठानौं ।
निज-बल सौं, इमि दियौ उन्हैं प्रति-उत्तर मानौं ॥७९

पूर्वजन्मधनुषा समागतः सोऽतिमात्रलघुदर्शनोऽभवत् ।
केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः किं पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः ॥८०॥
तेन भूमिनिहितैककोटि तत्कार्मुकं च बलिनाधिरोपितम् ।
निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृतां धूमशेष इव धूमकेतनः ॥८१॥
तावुभावपि परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ ।
पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव ॥८२॥
तं कुपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि ।
स्वं च संहितममोघमाशुगं व्याजहार हरसूनुसंनिभः ॥८३॥

८०—पहले जन्म के धनुष से मिलकर वह अत्यन्त शोभायमान हुआ, नया बादल आप ही सुन्दर होता है फिर इन्द्र धनुष से शोभित होकर क्यों नहीं ।

८१—उस बली ने एक नोक भूमि में रखकर वह धनुष चढ़ाया और क्षत्रियों का वैरी तेजहीन हुआ, जैसे धुआँ बची हुई अग्नि ।

८२—वे दोनों आमने सामने खड़े हुए बढ़ते और घटते तेज वाले भी लोगों ने पूर्णमाशी की साँझ के चन्द्र सूरज की नाईं देखे ।

८३—उस भार्गव को अपने में पराक्रम मिटा हुआ और अपना अमोघ बाण चढ़ा हुआ देख कर कार्तिकेय की उपमा वाले दया मृदुल राघव ने कहा ।

पूर्बजन्म कौ धनुष पाय, चित-चोप-चढ़ायौ ।
कौसल-राजकुमार राम इमि सोभहिं पायौ ।
सहजहिं बिलसत नवल-नील नीरद-छबि-धारी ।
इन्द्र-धनुष कौं पाइ होति छबि औरहिं न्यारी ॥८०
धारि धनुष की कोटि भूमि पै ताहि नवाई ।
दई प्रतंचा चोपि-चाप पै बहुरि चढ़ाई ।
इमि हत-प्रभ तब भये परसुधर लगी न देरी ।
जिमि लगे, धूमऽवसेष-तेज-हत पावक-ढेरी ॥८१
परसुराम अरु राम परस्पर ठाढ़े छाजैं ।
घटत एक कौ तेज, बढ़त दूजै कौ साजै ।
मानौं संध्या-समय-चन्द्र-दिनकर सम सोहैं ।
या बिधि सौं बलसालि दोऊ जन-मन-कौं मोहैं ॥८२
धरैं जो सिव-सुत-सरिस चंड बिक्रम बहुतेरौ ।
कृपा - मृदुल - उर - राम कियौ मन सोच घनेरौ ।
बिबस भये बलहीन-परसुधर ओर निहार्‌यौ ।
पुनि निज बिसिख अमोघ ओर लखि बचन उचार्‌यौ ॥८३

८१—धुआँ बची हुई अग्नि अर्थात् जो आग आप बुझ गई हो धुआँ रह गया हो ।

८३—अमोघ बाण अर्थात् जो बाण निष्फल न जाय ।

न प्रहर्तुमलमस्मि निर्दयं विप्र इत्यभिभवत्यपि त्वयि ।
शंस किं गतिमनेन पत्त्रिणा हन्मि लोकमुत ते मखार्जितम् ॥८४॥
प्रत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वां न वेद्मि पुरुषं पुरातनम् ।
गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यासि मया दिदृक्षुणा ॥८५॥
भस्मसात्कृतवतः पितृद्विषः पात्त्रसाच्च वसुधां ससागराम् ।
आहितो जयविपर्ययोऽपि मे श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया ॥८६॥
तद्गतिं मतिमतां वरेप्सितां पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे ।
पीडयिष्यति न मां खिलीकृता स्वर्गपद्धतिर भोगलोलुपम् ॥८७॥

८४—ब्राह्मण है इसलिए तुझ तिरस्कार करने वाले में भी निर्दईपन से प्रहार करने को मैं समर्थ नहीं हूँ, बतला इस बाण से तेरा चलना मिटाऊँ अथवा यज्ञ से सिद्ध किया हुआ लोक(स्वर्ग) ।

८५—ऋषि ने उत्तर दिया "स्वरूप से मैंने तू आदि पुरुष न जाना यह बात नहीं है, तुझ पृथ्वी पर आये हुए का वैष्णव तेज देखने ही की इच्छा से मैंने तुझे कोपित किया है ।"

८६—पिता के वैरियों के मुझ भस्म करने वाले की और सागरों समेत पृथ्वी ब्राह्मनों को देने वाले की हार भी तुझ परमेश्वर की हुई बड़ाई के ही योग्य है ।

८७—इससे हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ मेरे चलने को, पुण्य तीर्थों में जाने के लिए इच्छा किये हुए को, छोड़ दे, मुझ भोग निस्पृही को स्वर्ग पदवी का न मिलना पीड़ा न करेगा ।

"कीन्ह्यौं मम अपमान निदरि तुम जदपि घनेरौ ।
बिप्र जानि, सर-हनौं, कहत साहस नहिं मेरौ ।
करहुँ नास तव-गतिहिं कहौं यहु बान-प्रहारी ।
या जग्यार्जित - स्वर्ग - लोक-तव देहुँ बिगारी ॥"८४

तब भृगुकुल-अवतंस तिनहिं इमि उत्तर दीन्ह्यौ ।
"आदि पुरुष हम तुम्हैं रूप लखिकै नहिं चीन्ह्यौं,—
सो-नहिं, वैष्णव-तेज-रावरो देखन कारन ।
दियौ तुमहिं उकसाय, कियौ अवतार जो धारन ॥८५

जनक-अरिन हौं छार कोप-ज्वाला-बिच कीन्ह्यौं ।
सागर-रसना-मही दान करि बिप्रन दीन्ह्यौं ।
यातैं अग-जग-नाथ पराजय-बिजय हमारी ।
है अभिनन्दन जोग, कृपा लहि भई तुम्हारी ॥८६

अब प्रभु बुद्धि-बरिष्ठ इती बिनती कौं मानी ।
नासिय जनि मम पुन्यतीर्थ-गति सारँगपानी ।
रह्यौं रंच अभिलाष हमहिं नहिं भोगन-माहीं ।
स्वर्ग-लाभ की साध दुःख दैहै कछु नाहीं ॥"८७

प्रत्यपद्यत तथेति राघवः प्राङ्मुखश्च विससर्ज सायकम् ।
भार्गवस्य सुकृतोऽपि सोऽभवत्स्वर्गमार्गपरिघो दुरत्ययः ॥८८॥
राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन्समस्पृशत् ।
निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये ॥८९॥
राजसत्त्वमवधूय मातृकं पित्र्यमस्मि गमितः शमं यदा ।
नन्वनिन्दितफलो मम त्वया निग्रहोऽप्ययमनुग्रहीकृतः ॥९०॥
साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते देवकार्यमुपपादयिष्यतः ।
ऊचिवानिति वचः सलक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजमृषिस्तिरोदधे ॥९१॥

८८—"ऐसा ही हो", यह राघव ने स्वीकार किया और पूरब मुख होकर बाण छोड़ा, वह (बाण) सुकृती भार्गव के भी स्वर्ग मार्ग को कठिन अर्गला बना ।

८९—"क्षमा करो" यह कह कर राघव ने भी तपोनिधि के चरण छुए, बल से जीते हुए, बैरियों में नम्र होना ही तेजस्वियों की कीर्ति बढ़ाने वाला होता है ।

९०—माता कुल का रजो गुण छोड़कर जो मैं पिता के सतोगुण में आया हूँ यह अनन्दित फल का दंड भी तैने मुझ पर अनुग्रह ही किया है ।

९१—मैं जाता हूँ तुम देवकार्य करने वालों का कल्यान हो, यह वचन लक्ष्मण सहित राम से कहता हुआ ऋषि अन्तरधान हुआ ।

"एवमस्तु" यौं राम बिहँसि बोले मृदु बानी ।
छाँड़्यौ पूरब-दिसा बान बिसिखासन तानी ।
सुरपुर की गति सपदि परसुधर की तिन नाखी ।
बन्यौ अर्गला-सरिस दसा कछु जाति न भाखी ॥८८
तब भृगुपति के जुगल-चरन-अरबिंदन छ्वैकैं ।
"छमियैं अबिनय" कह्यौ राम, मुनिबरहिं चितैकैं ।
बल सौं रिपुहिं दबाय, बिनय-सौं हिय-हरषावन ।
बलसीलन-हित होत चहूँ-दिसि सुजस-बढ़ावन ॥८९
"दियौ रजोगुन मातु-बंस-संभूत बिसारी ।
भयौ पिता-कुल-बिदित-सतोगुन कौ अधिकारी ।
दंड-रूप-सौं लह्यौ सुफल अस्तुत्य-ललामा ।
कीन्हीं-कृपा-अपार भयौ परिपूरन-कामा ॥९०
अब मैं निज-पथ-जात सबै बनि गई हमारी ।
करहु देव-कुल-काज, सदा जय होय तुम्हारी ।"
या बिधि लखन-कुमार-राम सौं मुनि कहि गयेऊ ।
अरु पुनि अन्तर्द्धान परसुधर तच्छिन भयेऊ ॥९१

८८—अर्गला अर्थात् द्वार की रोक ।

तस्मिन्गते विजयिनं परिरभ्य रामं स्नेहादमन्यत पिता पुनरेव जातम् ।
तस्याभवत्क्षणशुचः परितोषलाभः कक्षाग्निलङ्घिततरोरिव वृष्टिपातः ॥९२॥
अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः ।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शिनीनां कुवलयितगवाक्षालोचनैरङ्गनानाम् ॥९३॥

९२—उसके चले जाने पर पिता ने विजयी राम को छाती से लगाकर स्नेह के कारण दूसरी बार जन्मा हुआ माना, उस छन भर शोक सहे हुए को संतोष प्राप्त हुआ, जैसे दावानल के झुलसाए हुए वृक्ष को मेह का पड़ना ।

९३—तब अच्छी सजावट वाले मार्ग में कई रात बिता कर महादेव सरीखे राजा ने सीता के देखने की चाववती स्त्रियों के नेत्रों रूपी कमलों में भरे हुए झरोखों वाली अजुध्या पुरी में प्रवेश किया ।

सार

एहि बिधि गयौ जबहिं भृगुनाथहिं, कोसलपुर-पति जान्यौं ।
हियैं लगाय स-नेह राम कौं पुनर्जन्म-सुख मान्यौं ।
भयौ हुतौ छन-सोक बहुरि यौं तोष पाय नृप हरष्यौ ।
मनु दावानल - दग्ध - तरुन पै पावस कौ जल बरष्यौ ॥९२

सवैया

मग मैं इमि केती निसानि बितायकैं, रावटियाँ तनी जामैं घनीं ।
सिव के सम औधनरेस नैं त्यौं पथ-खेदहिं-खोय स-हर्ष पुनीं ।
नगरी मैं अनंद सौं कीन्ह्यौं प्रवेस यौं सियै-लखै-बारीं नारीं बनीं ।
तिनके मनु नैन-सरोजनि की, सु-गवाच्छनि-बंदनवारैं तनीं ॥९३

———

॥ द्वादशः सर्गः ॥

निर्विष्टविषयस्नेहः स दशान्तमुपेयिवान् ।
आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि ॥१॥
तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति ।
कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥२॥
सा पौरान्पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिः ।
प्रत्येकं ह्लादयांचक्रे कुल्येवोद्यानपादपान् ॥३॥
तस्याभिषेकसंभारं कल्पितं क्रूरनिश्चया ।
दूषयामास कैकेयी शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः ॥४॥

बारहवाँ सर्ग

१—विषय के स्नेह भोगकर वह दशा के अन्त पर जाता हुआ निर्वाण समीपी हुआ, जैसे प्रभात समय दीपक की लौ ।

२—मानो केकई के डर से स्वेत बाल का मिस करके बुढ़ापे ने कान के पास जाकर "राम को राजलक्ष्मी सोंपो" यह उससे कहा ।

३—पुर वासियों के प्यारे राम के अभिषेक की उस चरचा ने प्रत्येक पुरवासी हर्षित किया, जैसे पानी की नाली ने उद्यान के वृक्ष ।

४—उसके अभिषेक के लिये इकट्ठी की हुई सामग्री कठोर मनोरथ वाली केकई ने राजा के शोक के तत्ते आँसुओं से दूषित की ।

बारहवाँ सर्ग

दोहा

बिषय - नेह-निबटैं हुती, या बिधि दसा - महीप ।
होय निकट निरिबान के, जिमि प्रभात कौ दीप ॥१
कैकई-भय-गुनि सित-कचनि, नृप-स्रौननि-ढिग जाय ।
"देतु राज रामहिं" कह्यौ, मनु बिरधापन आय ॥२
राम-तिलक की बात सुनि, इमि-पुर-लह्यौ अनंद ।
नरिया-जल लहि होत जिमि, हरित बाग-तरु-बृंद ॥३
कुटिल-मनोरथ - कैकई, राज - तिलक कौ साम ।
नृप - ताते-अँसुवानि सौं, दूषित कियौ प्रकाम ॥४

१—बूढ़े राजा की उपमा सवेरे के दीपक से दी है । विषय इन्द्री अथवा दीवा, स्नेह मोह अथवा तेल, दशा अवस्था अथवा बत्ती, निर्वाण मुक्ति अथवा बुझना ।

सा किलाश्वसिता चण्डी भर्त्रा तत्संश्रुतौ वरौ ।
उद्वामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलमग्नाविवोरगौ ॥५॥
तयोश्चतुर्दशैकेन रामं प्राव्राजयत्समाः ।
द्वितीयेन सुतस्यैच्छद्वैधव्यैकफलां श्रियम् ॥६॥
पित्रा दत्तां रुदन्रामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत ।
पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ॥७॥
दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले ।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः ॥८॥
स सीतालक्ष्मणसखः सत्याद्गुरुमलोपयन् ।
विवेश दण्डकारण्यं प्रत्येकं च सतां मनः ॥९॥

५—कहते हैं कि भर्ता की लड़ाई हुई उस चंडी ने उसके प्रतिज्ञा किए हुए दो वरदान उगले, जैसे इन्द्र के भिगोई भूमि ने बिल में बैठे हुए दो साँप ।

६—उनमें से एक से राम को चौदह बरस के लिए वनवास कराया दूसरे से बेटे के लिए केवल (अपने) रँडापे रूपी फल देने वाली राज लक्ष्मी माँगी ।

७—पिता की दी हुई पृथ्वी पहले राम ने रोते हुए स्वीकार की पीछे "बनको जाओ" यह उसकी आज्ञा प्रसन्न होकर ली ।

८—आनन्द के वस्त्र पहने हुए और वृक्ष की छाल ओढ़े हुए उस (राम) के मुख की कान्ति लोगों ने चकित होकर एक सी देखी ।

९—पिता को सत्य से न डिगा कर उसने सीता और लक्ष्मण सहित दंडक बन में और प्रत्येक सत्यपुरुष के मन में प्रवेश किया ।

कैकई रखि दुइ वरनि इमि, कियौ रंग मैं भंग ।
हरि - सिंचि-महिं रखे बिबर तैं,मनु दुइ काढ़ि भुजंग ॥५
वर्ष चतुर्दस एक सौं, दै रामहिं बनवास ।
विधवा-फल-सुत-राज की, करी दुतिय सौं आस ॥६
पहिलैं पितु-बच मानि कैं, रोय-राम-महिं लीन्ह ।
बहुरि "जाहु बन" मुदित - मन,आयसु-पालन कीन्ह ॥७
सुभ रेसिमी धरैं बसन-तनु, अरु बलकल की छाल ।
लख्यौ राम-मुख-राग-सम, चकित-प्रजा तेहि काल ॥८
समुझि राम,पितु बचन यहु, कहुँ न झूठ परिजाय ।
प्रबिसे कानन-जन-मनहिं, सिय-लखनहिं सँग लाय ॥९

राजाऽपि तद्वियोगार्तः स्मृत्वा शापं स्वकर्मजम् ।
शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभममन्यत ॥१०॥
विप्रोषितकुमारं तद्राज्यमस्तमितेश्वरम् ।
रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ ॥११॥
अथानाथाः प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम् ।
मौलैरानाययामासुर्भरतं स्तम्भिताश्रुभिः ॥१२॥
श्रुत्वा तथाविधं मृत्युं कैकेयीतनयः पितुः ।
मातुर्न केवलं स्वस्या श्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुखः ॥१३॥
ससैन्यश्चान्वगाद्रामं दर्शितानाश्रभालयैः ।
तस्य पश्यन्ससौमित्रेरुदश्रुर्वसतिद्रुमान् ॥१४॥

१०—उसके वियोग के दुखी राजा ने भी अपने कर्म से उसका हुआ शाप सुध करके शरीर छोड़ने से ही प्रायश्चित माना ।

११—गए हुए कुमारों वाला मरे हुए राजा वाला वह राज्य छिद देखने में चतुर बैरियों का इच्छा करने योग्य हुआ ।

१२—तब अनाथ मंत्रियों ने ननहाल में बसते हुए भरत को आँसू रोके हुए दूतों के द्वारा बुलवाया ।

१३—केकई के बेटे ने पिता का उस भाँति मरना सुनकर केवल अपनी माता ही से नहीं राज लक्ष्मी से भी मुख मोड़ा ।

१४—और सेना समेत राम के पीछे गया, बन वासियों के दिखलाए हुए उस लक्ष्मण सखा के निवास स्थानों के वृक्षों को देखकर आँसू डालता हुआ ।

सुमिरि स्वकर्मज-साप कौं, दारुन-सुवन - बियोग ।
देह-त्याग मान्यौं नृपति-सुद्धि-लाभ कौ जोग ॥१०
जाके,कुँवर प्रवास मैं, गये स्वर्ग नरनाह ।
वाहि राज्य के हरन-हित, बाढ्यौ अरिन-उछाह ॥११
तब अनाथ - मंत्रिन - दृगनि - बारि - प्रवाह दबाय ।
पठै चरनि ननसार सौं भरतहिं लियौ बुलाय ॥१२
जनक-निधन सुनि मातु - सन, यौं अपनैं-हित - लागि ।
दियौ, भरत कमला-जननि, ताहीं खन तैं त्यागि ॥१३
बन बासिन दियौ राम-थल - बास - तरुन - दिखराय ।
जब, तब भरत-स - सैन तेहिं, आँसुनि सींच्यौ जाय ॥१४

१०—सरवन के मारने की सुध राजा को आई ।

१२—दूतों से कह दिया गया था कि राजा का मरना भरत को न सुनावें ।

चित्रकूटवनस्थं च कथितस्वर्गतिर्गुरोः ।
लक्ष्म्या निमत्रयांचक्रे तमनुच्छिष्टसंपदा ॥१५॥
स हि प्रम तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे ।
परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः ॥१६॥
तमशक्यमपाक्रष्टुं निदेशात्स्वर्गिणः पितुः ।
ययाचे पादुके पश्चात् कर्तुं राज्याधिदेवते ॥१७॥
स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा भ्रात्रा नैवाविशत्पुरीम् ।
नन्दिग्रामगतस्तस्य राज्यं न्यासमिवाभुनक् ॥१८॥
दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ्मुखः ।
मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत् ॥१९॥

१५—और उस चित्रकूट के बन में ठैरे हुए से स्वर्गवासी पिता की कथा कहकर अछूती राज-लक्ष्मी भोगने के लिये लौटने को कहा ।

१६—जेठे भाई के राजलक्ष्मी न बरने में उसने पृथ्वी स्वीकार करने से अपने को परिवेत्ता माना ।

१७—फिर स्वर्गवासी पिता की आज्ञा से उस न लौटने वाले से राज्य के अधि देवता बनाने के लिए खड़ामू माँगे ।

१८—"ऐसा ही हो" यह कह कर भाई का छोड़ा हुआ वह पुरी में नहीं गया, नन्दिग्राम में जाकर उसके राज्य को धरोहर की नाईं रक्षा करने लगा ।

१९—बड़े भाई में दृढ़ भक्ति वाले, राज्य को तृष्णा से फिरे हुए, भरत ने मानों इस भाँति माता के पाप का प्रायश्चित किया ।

चित्रकूट-बसे-बंधु-सन, कहि पितु - सुरपुर-गौन ।
बिनु-भोगी-श्रीयै लैन-हित, कह्यौ "चलिय अब भौन" ॥१५
लियौ राम नहिं राजकौं, हौं लीन्ह्यौं अपनाय ।
'परिवेत्तापन' आपनौं, भरत गुन्यौं दुख पाय ॥१६
रामहिं लौटायौ न गुनि, 'सकत न पितु-बच त्यागि' ।
लियौ राज्य-अधिदेवता, चरन-पादुकनि माँगि ॥१७
'ऐसोई होइ' सुनि, लहि बिदा, नगर न कीन्ह प्रवेस ।
राज - थाति-नँदग्राम - सौ, रच्छ्यौ भरत सुदेस ॥१८
त्यागि राज - तिसनाहिं-इमि, अग्रज-भक्ति - निमित्त ।
जननि-पाप कौ भरत मनु, कीन्ह्यौं प्रायश्चित्त ॥१९

१६—बड़े भाई से पहले जो छोटे का ब्याह हो जाय तो वह छोटा दोषी होता है और परिवेत्ता कहलाता है ।

१७—अधि देवता अर्थात् मान लिया हुआ देवता ।

रामोऽपि सह वैदेह्या वने वन्येन वर्तयन् ।
चचार सानुजः शान्तो वृद्धेक्ष्वाकुव्रतं युवा ॥२०॥
प्रभावस्तम्भितच्छायमाश्रितः स वनस्पतिम् ।
कदाचिदङ्के सीतायाः शिश्ये किंचिदिव श्रमात् २१॥
ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः ।
प्रियोपभौगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन् ॥२२॥
तस्मिन्नास्थदिषीकास्त्रं रामो रामावबोधितः ।
आत्मानं मुमुचे तस्मादेकनेत्रव्ययेन सः ॥२३॥
रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्भरतागमनं पुनः ।
आशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥२४॥

२०—छोटे भाई समेत शान्तिवान युवान राम ने भी बन की वस्तुओं से वृत्ति करके सीता के साथ बन में बूढ़े इक्ष्वाकुवंशियों का व्रत आचरन किया ।

२१—एक समय प्रभाव से थामी हुई छाया वाले वृक्ष का आसरा लिए हुए वह सीता की गोद में सो गया, जैसे कुछ थकावट से ।

२१—कहते हैं कि ऐन्द्रि पक्षी (कव्वे) ने खोटापन करके उसके स्तनों को पति के नखच्छतों में कुरेदा ।

२३—सीता के जगाए हुए राम ने उस में काँस का अस्त्र मारा वह एक नेत्र देकर उससे छूटा ।

२४—निकट स्थान होने के कारण भरत के फिर आने की शंका करके राम ने प्रीति करते हुए हरिणों वाली चित्रकूट की भूमि छोड़ी ।

सिया-लषन-सँग निबसि बन, कंद-मूल-फल खाय ।
धार्‌यौ रघु इच्छ्वाकु-ब्रत, तरुनाइहिं रघुराय ॥२०
छाया थिर करि बिटप, की, निज प्रभाव सौं राम ।
इक दिन थके-इव सिय-अँकहिं कछुक कियौ बिसराम ॥२१
काग-रूप धरि हरि सुवन, सिय - कुच - पंजनि-मारि ।
राम-नखच्छत-दोष कौं, मानहुँ दियौ उघारि ॥२२
सीय-जगाये - राम-उठि, तज्यो सींक कौ बान ।
खोइ काग इक नयन कौं, कियौं प्रान परित्रान ॥२३
बहुरि न आवैं भरत इत, इमि संका हिय धारि ।
तज्यौ चित्रकूटहिं, रहे उतसुक हरिन निहारि ॥२४

२०—इक्ष्वाकु वंशियों की रीति थी कि बुढ़ापे में बनवासी होते थे । वृत्ति करना=आजीविका करना ।

प्रययावातिथेयेषु वसन् ऋषिकुलेषु सः ।
दक्षिणां दिशमृक्षेषु वार्षिकेष्विव भास्करः ॥२५॥
बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता ।
प्रतिषिद्धापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥२६॥
अनसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम् ।
सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोच्चलितषट्पदम् ॥२७॥
संध्याभ्रकपिशस्तस्य विराधो नाम राक्षसः ।
अतिष्ठन्मार्गमावृत्य रामस्येन्दोरिव ग्रहः ॥२८॥
स जहार तयोर्मध्ये मैथिलीं लोकशोषणः ।
नभोनभस्ययोर्वृष्टिमवग्रह इवान्तरे ॥२९॥

२५—अतिथि सत्कारी ऋषियों के आश्रमों में बसता हुआ वह दक्षिण दिशा को गया, जैसे बरसा के नक्षत्रों में (बसता हुआ) सूरज ।

२६—उसके पीछे चलती हुई विदेह राज की बेटी सुशोभित हुई, मानो केकई की रोकी हुई भी गुण ग्राहिणी राज लक्ष्मी ।

२७—अनुसूया के दिए हुए अच्छे गन्ध वाले अंगराग से उसने बन फूल छोड़ते हुए भौंरों वाला किया (अर्थात् बन में भौंरे फूलों को छोड़ छोड़ सीता की ओर गए) ।

२८—साँझ को लाल बादल समान विराध नाम राक्षस राम का मार्ग रोककर खड़ा हुआ, मानो चन्द्रमा का राहु ।

२९—उस लोक सुखा ने वाले ने उन दोनों के बीच से सीता हरी मानो अवग्रह ने सामन भादों के बीच से बरषा ।

होत - अतिथि-मुनि-आश्रमनि, इमि गये दच्छिन राम ।
जिमि रवि-बरसा-नखत-हुइ दच्छिन जात ललाम ॥२५
बरज्यौं कैकेई जदपि, गुन - ग्राहिन - सुख - धाम ।
राजश्री सीताहि-सम, चलि रही - बन-सँग-राम ॥२६
दीन्ह्यौं अनुसूया सियहिं, अति सुरभित-अँगराग ।
तातैं तजि कानन-कुसुम, छपद रहे सँग लागि ॥२७
तहँ सन्ध्या-घन लौं-कपिस, राकस-राहु-बिराध ।
रोक्यौ राम-ससि मग,-कियौ, मनहुँ घोर अपराध ॥२८
हर्‌यौ लोक-सोखन सियहिं, दोहुन-बीच सदाप ।
सावन-भादौं-वृष्टि-बिच, ज्यौं अवग्रह की झाँप ॥२९

२९—अवग्रह=बरषा की रुकावट ।

तं विनिष्पिष्य काकुत्स्थौ पुरा दूषयति स्थलीम् ।
गन्धेनाशुचिना चेति वसुधायां निचखनतु ॥३०॥
पञ्चवट्यां ततो रामः शासनात्कुम्भजन्मनः ।
अनपोढस्थितिस्तस्थौ विन्ध्याद्रिः प्रकृताविव ॥३१॥
रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा ।
अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम् ॥३२॥
सा सीतासंनिधावेव तं वव्रे कथितान्वया ।
अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः ॥३३॥
कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे ।
इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥३४॥

३०—और उसको मारकर दोनों काकुत्स्थों ने आगे अपवित्र गन्धि से आश्रम की भूमि को दूषित करेगा इसलिये धरती में गाड़ दिया ।

३१—फिर अगस्त के कहने से मर्यादा उल्लंघन न करने वाला राम पंचवटी में ठैरा, जैसे विन्ध्याचल अपनी पहली अवस्था में ।

३२—वहाँ रावण की छोटी बहन कामदेव की सताई हुई राघव के पास पहुँची, मानो निदाघ की सताई नागिन मलयागिर के वृक्ष के पास ।

३३—उसने (अपना) वंश वर्णन करके सीता के सामने ही उससे बरने को कहा, स्त्रियों का प्रबल कामदेव अवसर का अज्ञानी होता ही है ।

३४—"हे बाला मैं स्त्रीवन्त हूँ तू मेरे छोटे भाई को जाँच," यह उस पुरुष चाहने वाली को बैल के से कन्धे वाले राम ने कहा ।

आश्रम महिं कौ दूषि है, निज-दुर्गंधि-बगारि ।
अस गुनि लक्षिमन-राम दोउ, दियौ गाड़ि तेहिं मारि ॥३०
तदनंतर कुंभज-बचन, मानि पंचबटि-राम ।
इमि-बसे, जिमि-बिंध्यहु लस्यौ, मरजादित अभिराम ॥३१
सूपनखा गई राम-ढिंग, इमि मदनातुर स्यानि ।
जिमि भुजंगिनि-मलयज निकट, आइ निदाघ-सतानि ॥३२
बरनि-बंस तेहिं सिय सँमुख कही ब्याह की बात ।
बढ़्यौ मनोभव-तियन कौं, गनत न घात-कुघात ॥३३
"हौं ब्याह्यौ मम-अनुज-सन अबसि मिलौ तुम जाय" ।
कुलटा-सन, बृषकंध इमि, कह्यौ राम, मुसुकाय ॥३४

३१—जब विन्ध्याचल बहुत बढ़ने लगा तो अगस्त मुनि ने उसका बढ़ना रोक दिया था ।

३२—निदाघ=जेठ असाढ़ की धूप ।

ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं तेनाप्यनभिनन्दिता ।
साभूद्रामाश्रयाभूयो नदीवोभयकूलभाक् ॥३५॥
संरम्भं मैथिलीहासः क्षणसौम्यां निनाय ताम् ।
निवातस्तिमितां वेलां चन्द्रोदय इवोदधेः ॥३६॥
फलमस्योपहासस्य सद्यः प्राप्स्यसि पश्य माम् ।
मृग्या परिभवो व्याघ्र्यामित्यवेहि त्वया कृतम् ॥३७॥
इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्केनिविशतीं भयात् ।
रूपं शूर्पणखा नाम्नः सदृशं प्रत्यपद्यत ॥३८॥
लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा कोकिलामञ्जुवादिनीम् ।
शिवाघोरस्वनां पश्चाद्बुबुधे विकृतेति ताम् ॥३९॥

३५—पहले बड़े भाई के पास जाने के कारण उस (छोटे) की भी स्वीकार न की हुई वह फिर राम की ओर जाते में ऐसी दीखी जैसे दोनों तटों की ओर दौड़ती हुई नदी ।

३६—सीता के हँसने ने वह छनमात्र की सुशीला कोपित कर दी जैसे चन्द्रमा के उदय ने समुद्र की निर्वात निश्चल मर्यादा ।

३७—मेरी ओर देख, इस हँसी का फल तू अभी पावेगी, अपने किये को तू ऐसा जान जैसे सिंघनी में हरिणी का किया हुआ तिरस्कार ।

३८—डर से पति की गोद में जाती हुई सीता को ऐसा कह कर सूपनखा ने अपने नाम सदृश रूप लिया ।

३९—लक्ष्मण ने पहले उसको कोकिला की नाईं मीठा बोलती हुई पीछे गीदड़ी की नाईं भयंकर शब्द करती हुई सुनकर कपट करने वाली है यह जाना ।

गई राम ढिग, ताहि नहिं, लखन-कीन्ह स्वीकार ।
आई राम पहँ, जात ज्यौं, दोऊ-कूलनि-सरि-धार ॥३५
कियौ कुपित छन-सौम्य कौं, जनक-नंदिनी-हास ।
निचल निवात समुद्र कहँ, जथा-मयंक-प्रकास ॥३६
"अबहीं मम-उपहास कौ, फल पैहौ दुख ऐन ।
बाघिनि कौ परिहास करि, लहति मृगी कहुँ चैन ॥३७
यह कहि सिय सौं, जो लगी, भय-बस पिय-गर-जाय ।
निज नामहि अनुरूप तेहिं, दीन्ह्यौं रूप दिखाय ॥३८
कोकिल-कलित-अलाप सुनि, बहुरि सिवा-रवि जानि ।
मायाविनि यह नारि है, लई लखन पहिचानि ॥३९

३६—छनमात्र सुशीला=माया करके थोड़ी वेर को सुशील बनी हुई ।

३८—सूपनखा=जिसका मुँह सूप सा था ।

पर्णशालामथ क्षिप्रं विकृष्टासिः प्रविश्य सः ।
वैरूप्यपौनरुक्तयेन भीषणां तामयोजयत् ॥४०॥

सा वक्रनखधारिण्या वेणुकर्कशपर्वया ।
अङ्कुशाकारयाङ्गुल्या तावतर्जयदम्बरे ॥४१॥

प्राप्य चाशु जनस्थानं खरादिभ्यस्तथाविधम् ।
रामोपक्रममाचख्यौ रक्षः परिभवं नवम् ॥४२॥

मुखावयवलूनां तां नैर्ऋता तत्पुरो दधुः ।
रामाभियायिनां तेषां तदेवाभूदमङ्गलम् ॥४३॥

उदायुधानापततस्तान्दृप्तान्प्रेक्ष्य राघवः ।
निदधे विजयाशंसां चापे सीतां च लक्ष्मणे ॥४४॥

४०—तब पर्णकुटी में तुरन्त जाकर उस खड्ग निकाले हुए ने वह भयावनी दुगुनी कुरूपा करदी ।

४१—उसने उन दोनों को टेढ़े नखों वाली अँगुली से, बाँस समान कठोर पोरों वाली से, अंकुश के आकार वाली से, आकाश में धमकाया ।

४२—और तुरन्त जन स्थान में जाकर खर इत्यादि को राम का पहला कर्तव, राक्षसों का नया तिरस्कार सुनाया ।

४३—उस नाक कान कटी हुई को जो राक्षसों ने आगे किया यही उनको राम के ऊपर चढ़ाई करने में अशगुन हुआ ।

४४—उन खर्ग धारियों को सामने हथ्यार लिये आते देख कर राघव ने जीत की आशा धनुष को सोंपी और सीता लक्ष्मण को ।

लियौ खंग-कर क्रोध सौं, लखन कुटीं महँ जाय ।
ता कुरूपिनिहिं औरहू, दियौ कुरूप बनाय ॥४०

बंस - ग्रंथि - अंकुस - अँगुरि, तब, नख-बक्र उठाय ।
बहुत तमकि तर्ज्यौ दुहुँनि, सूपनखा-नभ-जाय ॥४१

तुरत जाय जन-थान मैं दूखन-खरहिं बुलाय ।
नव-राकस-अपमान सब, अरि-कृत कह्यौ सुनाय ॥४२

सूपनखाहिं आगैं किये, नासा स्रौन - बिहीन ।
रन-हित - गमनत राकसन, मनु-सँग-असगुन-लीन ॥४३

आयुध लै अभिमान सौं, लखि राकस-गन काहिं ।
सियै-लखन कौ सौंपि, धरी, बिजय-आस धनु माहिं ॥४४

एको दाशरथिः कामं यातुधाना सहस्रशः ।
ते तु यावन्त एवाजौ तावाँश्च ददृशे स तैः ॥४५॥
असज्जनेन काकुत्स्थः प्रयुक्तमथ दूषणम् ।
न चक्षमे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः ॥४६॥
तं शरैः प्रतिजग्राह खरत्रिशिरसौ च सः ।
क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात्सममिवौद्ययुः ॥४७॥
त्रैस्त्रयाणां शितैर्बाणैर्यथापूर्वविशुद्धिभिः ।
आयुर्देहातिगैः पीतं रुधिरं तु पतत्रिभिः ॥४८॥
तस्मिन्रामशरोत्कृत्ते बले महति रक्षसाम् ।
उत्थितं ददृशेऽन्यच्च कबन्धेभ्यो न किंचन ॥४९॥

४५—सच है राम अकेला था और राक्षस सहस्त्रों थे, परन्तु संग्राम में जितने थे उतने ही उन्होंने राम देखे ।

४६—तब उस शुद्ध आचार वाले काकुत्स्थ ने दुष्टों का प्रेरा हुआ दूषण (नाम राक्षस) न सहा, जैसे अपना दूषन ।

४७—उसको और खर और त्रिशिर को उसने आगे बढ़कर वाणों से लिया, फिर वे (वाण) उसके धनुष से आगे पीछे छूटे हुए एक ही साथ छोड़े हुए से गए ।

४८—उन तीक्षण वाणों ने, देह को बेध कर जैसे थे वैसे ही निकले हुओं ने, तीनों की आयु पीली लोहू पक्षियों ने पिया ।

४९—राम के वाणों से कटी हुई उस बड़ी राक्षस सेना में रुन्डों के बिना और कुछ खड़ा हुआ दिखलाई न दिया ।

रहे सहसनि राकस जहाँ, तहँ रघुनन्दन एक ।
पै दीसे तिन अरिन कौं, रन मैं राम - अनेक ॥४५
तब अरिगन-प्रेरित-अजित, 'दूषन' जाकौ नाम ।
निज-दूषन के सरिस तेहि, सहि न सके रन-राम ॥४६
तेहिं-खर-त्रिसरै सरनि - हन्यौं, रन - खेतहिं रघुनाथ ।
धनु - तैं सर-क्रमसौहिं कढ़े, समुझि परेमनु साथ ॥४७
भेदि तिन - तनहिं पूर्ववत निकरे बाहर बान ।
आयु-पान-करि खगन, कियौ, जिनकौ स्रोनित-पान ॥४८
कटी राम-बिसिखनि जहाँ निसिचर-सेना-घोर ।
धावत अमित कबंध-तजि, तहँ न दीस्यौ कछु और ॥४९

४६—दूषण नाम राक्षस था ।

४७—वाणों का एक साथ निकलता दीखना हाथ की फुरती दिखाता है ।

४८—जैसे थे वैसे ही अर्थात लोहू से न भीगे हुए ।

सा बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा सुरद्विषाम् ।
अप्रबोधाय सुष्वाप गृध्रच्छाये वरूथिनी ॥५०॥
राघवास्त्रविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसाम् ।
तेषां शूर्पणखैवैका दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत् ॥५१॥
निग्रहात्स्वसुराप्तानां वधाच्च धनदानुजः ।
रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्धसु ॥५२॥
रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ ।
जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः ॥५३॥
तौ सीतान्वेषिणौ गृध्रं लूनपक्षमपश्यताम् ।
प्राणैर्दशरथप्रीतेरनृणं कण्ठवर्तिभिः ॥५४॥

५०—राक्षसों की वह सेना वाण वर्षी राम से लड़कर गिद्धों की छाया में फिर न जगने के लिये सोई ।

५१—राम के अस्त्र से मरे हुए उन राक्षसों का बुरा वृतान्त रावण के पास ले जाने वाली अकेली सूपनखा ही हुई ।

५२—बहन के दंड से (नाक कान कटने से) और प्यारों के मारे जाने से कुवेर के भाई ने राम का पैर (अपने) दस सीसों पर रक्खा हुआ माना ।

५३—हरिण रूप राक्षस (मारीच) से दोनों राघवों को धोखा दिलाकर वह पक्षिराज (जटायु) के युद्ध का विघ्न छनमात्र सहकर सीता को हर ले गया ।

५४—सीता के ढूँढने वाले उन दोनों ने पंख कटा हुआ गिद्ध कंठवर्ती प्राणों से दशरथ की मित्रता का ऋण चुकाते हुए देखा ।

राम - बान - बरसानिमैं, जूझी राकस - सैन ।
गीधन-पंखनि - छाँह मैं, लगी करन चिर - सैन ॥५०
"राम-सरनि - ध्वंसित सबै—सेना, सुभट अनेक ।"
असुभ खबरि यह रावनहिं, बची बहिन दई एक ॥५१
कीन्ह्यौं भगिनि-कुरुप अरु मम - भाइन हूँ खीस ।
धर्‌यौ राम-पद, मम सिरनि, इमि मान्यौं दस सीस ॥५२
माया - मृग - मारीच बनि बंचे राजकुमार ।
सिय-हर-रावन-विघन बन्यौं, कछु जटायु ललकार ॥५३
सियैं-खोजत लख्यौ पर्‌यौ, राम, छिन्न-पंख - खगराज ।
कृपा-पात्र अवधेस कौं रिन चुकायौ जेहिं आज ॥५४

५०—अर्थात लोथों पर गिद्ध छा गए ।

स रावणहृतां ताभ्यां वचसाचष्ट मैथिलीम् ।
आत्मनः सुमहत्कर्म व्रणैरावेद्य संस्थितः ॥५५॥
तयोस्तस्मिन्नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः ।
पितरीवाग्निसंस्कारात्परा ववृतिरे क्रियाः ॥५६॥
वधनिर्धूतशापस्य कबन्धस्योपदेशतः ।
मुमूर्च्छ सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ ॥५७॥
स हत्वा बालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥५८॥
इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टुं भर्तृचोदिताः ।
कपयश्चेरुरार्तस्य रामस्येव मनोरथाः ॥५९॥

५५—उसने उन दोनों को रावण की हरी हुई जानकी वाणी से बतलाई (और) अपना बड़ा करतब घावों से जताकर प्रान छोड़ा ।

५६—पिता मरण का शोक नया मानकर उन दोनों ने अग्नि संकार से लेकर पीछे तक उसके कर्म किए, मानो पिता ही के ।

५७—मर कर शाप से छूटे हुए कबन्ध के बतलाने से राम की मित्रता तुल्य विथा वाले कपि (सुग्रीव) के साथ हुई ।

५८—उस (राम) वीर ने बालि मारकर उसकी पदवी पर, बहुत काल से आकांक्षा की हुई पर, धातु के स्थान पर आदेश की नाईं सुग्रीव को स्थापित किया ।

५९—स्वामी के भेजे हुए बन्दर सीता के खोजने को जहाँ तहाँ गए, मानो दुखी राम के मनोरथ ।

कह्यौ राम सौं जानकिहिं, हर्‌यौ दसमुख-खल-बीर ।
घायनि - सौं - दिखराय बल, पाछैं तज्यौ सरीर ॥५५
जनक-मरन को सोक इमि, तिनकौ भयौ नवीन ।
पिता-सरिस वा की क्रिया, सबिधि राम सब कीन ॥५६
सुनि कबंध उपदेस कौं, जासु-साप हरि लीन ।
समहिं - दुखित - सुग्रीव सौं, राम - मिताई - कीन ॥५७
बधि - बालिहिं सुग्रीवै तहँ, इमि कियौ बानर-राय ।
मनु 'धातु' मैं सम-अर्थी दियौ आखर दुतिय लगाय ॥५८
तबहिं स्वामि आदेस सौं, सीतहिं खोजन लागि ।
राम - मनोरथ - सम चरे, इत - उत - बानर भागि ।५९

५६—अर्थात् जटायु के मृतक कर्म राम लक्ष्मन ने किए ।

५७—सुग्रीव भी सहाई चाहता था ।

५८—जब धातु के स्थान पर आदेश होता है तो धातु का रूप सर्वस्व पलट जाता जैसे अस्ति धातु को आदेश हो तो उसके पलटे भू हो जाता है ।

प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः संपातिदर्शनात् ।
मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः ॥६०॥
दृष्टा विचिन्वता तेन लङ्कायां राक्षसीवृता ।
जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः ॥६१॥
तस्यै भर्तुरभिज्ञानमङ्गुलीयं ददौ कपिः ।
प्रत्युद्गतमिवानुष्णैस्तदानन्दाश्रुबिन्दुभिः ॥६२॥
निर्वाप्य प्रियसंदेशैः सीतामक्षवधोद्धतः ।
स ददाह पुरीं लङ्कां क्षणसोढारिनिग्रहः ॥६३॥
प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती ।
हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव मूर्तिमत् ॥६४॥

६०—सम्पाति के दर्शन से उस (जनक सुता) का वृतान्त जानकर पवन सुत (हनुमान) समुद्र को उतर गया, जैसे ममता त्यागने वाला संसार को ।

६१—उस ढूँढते हुए ने लंका में सीता राक्षसियों से घिरी हुई देखी, मानो विष की बेलों से छाई हुई महोषधि ।

६२—कपि ने उसको भर्ता की चिन्हानी मुदरी दी, मानो उसके आनन्द के शीतल आसुओं से आदर होती हुई ।

६३—सीता को पति के संदेशों से ढाँढस बन्धाकर अक्ष के बध से गर्व बढ़े हुए ने क्षणमात्र बैरी की पीड़ा सहकर लंकापुरी जलाई ।

६४—पलटे की चिन्हानों की रत्न उस कृत कृत्य ने राम को (लाकर) दिखलाया, मानो बैदेही का आप आया हुआ मूर्तिमान हृदय ।

संपाती सौं सीय कौं, पाइ पतौ हनुमान ।
तर्‌यौ सिंधु-इमि, जिमि करहि, भव-नद पार महान ॥६०
लख्यौ पौंन सुत, सियहिं इमि, घिर्‌यौ राकसिन माहिं ।
घेरैं मनु विष-वल्लरी, संजीवनी लताहिं ॥६१
पिया - चीन्ह - मुँदरी सियहिं, हनुमान जो दीन्ह ।
स्रवे - अनँद - अँसुवान - इव ही, सो, लाइ-उर-लीन्ह ॥६२
पिय-सँदेस दैं सिय कौं, धीरज बहुरि बँधाय ।
अच्छ-मारि सहि ब्रह्म - सर, लंकहिं दियौ जराय ॥६३
चूड़ामनि लखि राम सो, कपहिं दई जो सीय ।
मूर्तिमान आयो गुन्यौं मनहुँ सीय को हीय ॥६४

६०—सम्पाति जटायु का भाई था ।

६३—अक्ष नाम रावण का बेटा था उसके मारने से हनुमान को गर्व हुआ, बैरी की पीड़ा से तात्पर्य ब्रह्मस्त्र से है जिसमें हनुमान को मेघनाद ने बाँधा था ।

स प्राप हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलितः ।
अपयोधरसंसर्गां प्रियालिङ्गननिर्वृतिम् ॥६५॥
श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने तत्सङ्गमोत्सुकः ।
महार्णवपरिक्षेपं लङ्कायाः परिखा लघुम् ॥६६॥
स प्रतस्थेऽरिनाशाय हरिसैन्यैरनुद्रुतः ।
न केवलं भुवः पृष्ठे व्योम्नि संबाधवर्त्मभिः ॥६७॥
निविष्टमुदधेः कूले तं प्रपेदे विभीषणः ।
स्नेहाद्राक्षसलक्ष्म्येव बुद्धिमादिश्य चोदितः ॥६८॥
तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुश्राव राघवः ।
काले खलु समारब्धाः फलं वध्नन्ति नीतयः ॥६९॥

६५—छाती पर रक्खी हुई मणि के स्पर्श से मूर्छित होकर उसने पयोधर स्पर्श के विना प्यारी के आलिंगन का सुख माना ।

६६—प्यारी का वृतान्त सुनकर उसके मिलने के उत्साही राम ने लंका के महा समुद्र रूपी घेरे को खाई की नाई तुच्छ समझा ।

६७—केवल पृथ्वी तल पर ही नहीं आकाश में भी संकोच से चलती हुई बंदरों की सेना लेकर वह बैरी के नाश निमित्त चला ।

६८—समुद्र के तट पर उस ठैरे हुए को विभीषण मिला, मानो बुद्धि में बैठकर राक्षस लक्ष्मी का स्नेह से प्रेरा हुआ ।

६९—राघव ने उसको निशाचरों का राज्य देने की प्रतिज्ञा की । उचित समय वर्ती हुई नीति फल देती ही है ।

मानिहिं राखि निज-बच्छ पै, इमि बेसुधि भए राम ।
उरज छुए बिनु, मनु लगी, हिय सौं प्रिया-ललाम ॥६५
लहि उछाह सिय-मिलन कौ, सुनि ताकौ संदेस ।
गुन्यौं छुद्र - खाई - सरिस जलनिधि कौ परिबेस ॥६६
जब वे चले अरि - निधन-हित चली-सँग बानर-सैन ।
तब महिं पै का सहज गति, चलि सकी सो नभ मैं न ॥६७
उतरे राम जब सिंधु-तट, मिल्यौ विभीषन तब जाय ।
इमि, मनौं राकस-राज्य-श्री, उन-बुद्धि-प्रेरौ आय ॥६८
राम ताहि राकस - बिभौ, दैबै कह्यौ स - हेत ।
निहचय नृप - नय, आपनौं, समय - पाय-फल-देत ॥६९

६७—तात्पर्य यह है कि राम की सेना में इतने बन्दर थे कि उनके चलने को धरती और आकाश में भी पूरी जगह न थी ।

स सेतुं बन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्भसि ।
रसातलादिवोन्मग्नं शेषं स्वप्नाय शार्ङ्गिणः ॥७०॥
तेनोत्तीर्य पथा लङ्कां रोधयामास पिङ्गलैः ।
द्वितीयं हेम प्राकारं कुर्वद्भिरिव वानरैः ॥७१॥
रणः प्रववृते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम् ।
दिग्विजृम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः ॥७२॥
पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः ।
अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुग्णमतंगजः ॥७३॥
अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम् ।
सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ॥७४॥

७०—उसने बन्दरों से खारी जल (समुद्र) में पुल बँधवाया, मानो विष्णु के सोने के लिये रसातल से ऊपर आया हुआ शेषनाग ।

७१—(और) उस मार्ग से उतर कर लंका को सुनहरी बन्दरों से, सोने का दूसरा परकोटा सा बनाते हुओं से घिरवाया ।

७२—वहाँ राम और रावण के जयकारों को दिशाओं में फैलाने वाला घोर युद्ध बन्दरों और राक्षसों में हुआ ।

७३—वृक्षों से अर्गला टूटने वाला, पत्थरों से मुदगर चूर होने वाला, नख के खोंसों से अस्त्रों का तिरस्कार करने वाला, पहाड़ों से हाथी मरने वाला ।

७४—फिर राम का कटा सिर देखने से मूर्छा में गई हुई सीता को त्रिजटा ने यह कहकर कि यह माया है जीता रखा ।

लवन - सिंधु पै कपिन-सौं, राम - रचायौ जो सेतु ।
लस्यौ मनु-सेष-पताल-सौं कढ़े हरि - सोवन हेतु ॥७०
राम, घिरायौ कपिन सौ लंक, सिंधु करि पार ।
बिरचायौ मनु - हेम कौ दूजौ ही प्राकार ॥७१
तव बानर राकसन महँ, भयौ समर अति घोर ।
"जय रावन" "जय रामकौं" छायौ रव चहुँ ओर ॥७२
तरुन मारि तोर्‌यौ परिध, सिलनि-मुद्गरिन-चूरि ।
नखन-अस्त्र, हनि-पर्वतनि, कियौ गजन-मद-धूरि ॥७३
निरखत ही पिय सीस कौं, सीता भई अचेत ।
"यह माया है" कहि तिनहिं, त्रिजटा कीन्ह सचेत ॥७४

७३—इस श्लोक में युद्ध के विशेषन कहे हैं—रीछ बन्दरों ने लोहा लगी हुई अर्गलाओं को वृक्षों से तोड़ा, गदाओं को पत्थरों से चूर किया, अस्त्रों को नखों से तिरस्कार दिया, हाथियों को पहाड़ फेंक कर मारा ।

कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम् ।
प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता ।।७५।।

गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धनः ।
दाशरथ्योः क्षणक्लेशः स्वप्नवृत्त इवाभवत् ।।७६।।

ततो बिभेद पौलस्त्यःशक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम् ।
रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ।।७७।।

स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथः ।
लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ।।७८।।

स नादं मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम् ।
मेघस्येव शरत्कालो न किंचित्पर्यशेषयत् ।।७९।।

७५—"मेरा पति जीता है" इससे उसने शोक को छोड़ा (परन्तु) पहले में उसका मरना सत्य मानकर जीती रही, इससे लजाई ।

७६—गरुड़ के आने से ढीले होने वाले मेघनाद के अस्त्र बन्धन का छन मात्र क्लेश दशरथ कुमारों को स्वप्न का सा हुआ ।

७७—तिस पीछे रावण ने लक्ष्मण को शक्ति से छाती में मारा, राम तो बिना मारे ही शोक से हृदय छिदा हुआ हो गया ।

७८—पवन सुत की लाई हुई महोषधि से विथा मिटा कर उस (लक्ष्मण) ने फिर लंका की स्त्रियों के विलाप आचार्य का काम बाणों से कराया ।

७९—उसने मेघनाद का गरजना और इन्द्र धनुष के समान चमकता हुआ धनुष न छोड़े, जैसे शरद ने बादल का ।

प्रथम लजाई ही, जियति, क्यौं पिय कौ मृत जानि ।
तज्यौ सोच जीवत तिनहिं, यह निहचै जिय मानि ।।७५

गरुड़हिं लखि घननाद कौ, ब्याल-बंध गयौ छूटि ।
दौउ बंधुन कौ छनिक दुख, गयौ सपनि सम-टूटि ।।७६

सक्ति-घालि दसबदन पुनि, दियौ-हियौ-लखन बिदारि ।
बिना घाव सोई बिथा, पाई मनहुँ खरारि ।।७७

मारुति - लाई - औषधी, खोयौं लछिमन - ताप ।
पुनि तिनके खर - सरनि सौं, लंका कियौ बिलाप ।।७८

मेघनाद - रव, सक्रधनु - सरिस जासु कौ चाप ।
लखन दूरि कियौ जिमि रहत, सरद मेघ-गन-दाप ।।७९

कुम्भकर्णः कपीन्द्रेण तुल्यावस्थः स्वसुः कृतः ।
रुरोध रामं शृङ्गीव टङ्कच्छिन्नमनःशिलः ॥८०॥

अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान् ।
रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥८१॥

इतराण्यपि रक्षांसि पेतुर्वानरकोटिषु ।
रजांसि समरोत्थानि तच्छोणितनदीष्विव ॥८२॥

निर्ययावथ पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात् ।
अरावणमरामं वा जगदद्येति निश्चितः ॥८३॥

रामं पदातिमालोक्य लङ्केशं च बरूथिनम् ।
हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिघाय पुरंदरः ॥८४॥

८०—सुग्रीव के हाथों से बहन की सी दशा किए हुए कुम्भकर्ण ने राम को रोका, मानो टाँकी से कटे हुए मनसिल वाले पहाड़ ने ।

८१—तुझ निद्रा चाहने वाले को भाई ने वृथा कुसमय जगाया है, मानों ऐसा कहकर राम के वाणों ने उसे दीर्घ निद्रा में पहुँचाया ।

८२—बन्दरों के दल में और भी राक्षस गिरे, मानो उनके लोहू की नदियों में युद्ध से उठी हुई धूल ।

८३—तब युद्ध के लिये रावण घर से फिर निकला, आज जगत रावण बिना अथवा राम बिना होगा ऐसा निश्चय करके ।

८४—राम को पैदल और रावण को रथी देखकर इन्द्र ने उसके लिये सुनहरी घोड़े जुता हुआ रथ भेजा ।

कुंभस्रुति, अड़्यौ पथ-राम, इव,–टंक-भिन्न-गिरि-सृंग ।
जाहि दियौ करि भगिनि-सम, करि कपिपति अँग-भंग ॥८०

निद्रा-प्रिय तुम्हैं बृथहिं दियौ, असमय - बंधु जगाय ।
राम - सरनि इमि कहि मनहुँ, तेहिं चिर दियौ सुवाय ॥८१

परे अपर - राकस - निकर, कपि - सैना - इमि जाय ।
तिन-स्रौनित-सरि-जनु रही, समर - रेनु सम-छाय ॥८२

यह करि निहचय लरन-चल्यौ, रावन तजि-निज-धाम ।
"कै दसकंधर - बिनु जगत, कै ह्वैहै बिनु राम ॥"८३

लखि, रथ - चढ़ि रावन लरत, अरु पदाति रघुबीर ।
कपिल हयनि - जुत - रथहिं हरि, पठै दियौ हरि तीर ॥८४

८१—दीर्घ निद्रा अर्थात् मृत्यु ।

तमाधूतध्वजपटं व्योमगङ्गोर्मि वायुभिः ।
देवसूतभुजालम्बी जैत्रमध्यास्त राघवः ॥८५॥

मातलिस्तस्य माहेन्द्रमामुमोच तनुच्छदम् ।
यत्रोत्पलदलक्लैव्यमस्त्राण्यापुः सुरद्विषाम् ॥८६॥

अन्योन्यदर्शनप्राप्तविक्रमावसरं चिरात् ।
रामरावणयोर्युद्धं चरितार्थमिवाभवत् ॥८७॥

भुजमूर्धोरुबाहुल्यादेकोऽपि धनदानुजः ।
ददृशे ह्ययथापूर्वो मातुवंश इव स्थितः ॥८८॥

जेतारं लोकपालानां स्वमुखैरर्चितेश्वरम् ।
रामस्तुलितकैलासमरातिं बह्वमन्यत ॥८९॥

८५—आकाश गंगा की तरंगों की पवन से हिलती हुई ध्वजा वाले उस जय शील (रथ) पर इन्द्र के सारथी का हाथ पकड़ कर राघव चढ़ा ।

८६—मातलि ने उसको इन्द्र का कवच पहनाया जिसमें असुरों के अस्त्र कमल दल की असमर्थता को पहुँचे ।

८७—बहुत काल पीछे परस्पर के दर्शन से पराक्रम का अवसर पाकर राम रावण का युद्ध मानो सफल हुआ ।

८८—भुजाओं और पैरों और सिरों की बहुती से कुबेर का भाई पहली अवस्था से विरुद्ध अकेला भी माता कुल में खड़ा हुआ सा दिखलाई दिया ।

८९—राम ने (उस) बैरी को, लोक वालों के जीतने वाले को, अपने सीसों से महादेव के पूजने वाले को, कैलास के उठाने वाले को, बहुत माना ।

तब, नभ - गंग - तरंग - सन, पवन - हलावत - केतु ।
ता रथ, मातलि करहिं गहि, चढ़े भानुकुल केतु ॥८५
दीन्ह्यौ मातलि इन्द्र कौ, कवच हरिहिं पहिनाय ।
जापै लगि अरि - अस्त्र भये, बिफल कमलवत जाय ॥८६
आयौ बल - प्रगटन - समय, बीतैं द्यौस अथोर ।
सफल परस्पर - दरस सौं, हरि - रावन रन-घोर ॥८७
बहु सिर-भुज-पद कटन सौं, बिनु सैनहुँ दसकंध ।
सोह्यौ राकस - कुल कलस, तहँ कुबेर-लघु-बंधु ॥८८
तेहि अरि-रावन कौं, महत मान्यौं राम-जगदीस ।
दिगप - जीति गिरि - धारि जेहिं, सिरदै पूजै गिरीस ॥८९

८६—उस कवच पर असुरों के बाण फूल से लगते थे ।

८८—पहली अवस्था के विरुद्ध अर्थात् राक्षस सेना के बिना । माता कुल=राक्षस कुल, क्योंकि रावण की मा राक्षसी थी ।

तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासंगमशंसिनि ।
निचखानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरे भुजे ॥९०॥
रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः ।
विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥९१॥
वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रस्त्रेण निघ्नतोः ।
अन्मोन्यजयसंरम्भो ववृधे वादिनोरिव ॥९२॥
विक्रमव्यतिहारेण सामान्याभूद्द्वयोरपि ।
जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव ॥९३॥
कृतप्रतिकृतप्रीतैस्तयोर्मुक्तां सुरासुरैः ।
परस्परशरव्राताः पुष्पवृष्टिं न सेहिरे ॥९४॥

९०—सीता का मिलाप जताने वाली फड़कती हुई उसकी दाहिनी भुजा में अधिक क्रोधवान रावण ने वाण मारा ।

९१—राम को फेंका हुआ वाण भी रावण के हृदय को वेधकर धरती में धँस गया, मानो साँपों से प्यारी बात कहने के लिए ।

९२—बचन को बचन से अस्त्र को अस्त्र से काटने वाले उन दोनों का कोप अपनी अपनी जीत के लिए बढ़ा, जैसे शास्त्रार्थ करने वालों का ।

९३—पराक्रम की उलटा पलटी से जीत की लक्ष्मी दोनों ही को सामान्य हुई, जैसे बीच की भींति दो (लड़ने वाले) मत्त हाथियों को ।

९४—प्रहारों और प्रतिप्रहारों से प्रसन्न होकर सुरों और असुरों की छोड़ी हुई पुष्प बरसा उन दोनों की परस्पर वाण बरसा ने न सही ।

तबे रावन हरि दाहिन - भुजै छेद्यौ बान चलाय ।
जो फरकति सिय-मिलन-हित सुन्दर सगुन बनाय ॥९०
सपदि भेदि राकस हियौ हरि - सर घुसि महि माहि ।
दीन्ह्यौं सुखद सँकेत जनु या मिस नागनि काहि ॥९१
कहत कछुक कटु - बचन मुख, अस्त्रनि-अस्त्र प्रहारि ।
बादी - प्रतिबादी - सरिस लड़त न मानत हारि ॥९२
होति दुहुँनि की कहुँ बिजय, होत कबहुँ इमि हार ।
लरत क्रुद्ध-जुग - मत्त - गज बिच मनौं ठाढ़ि दिवार ॥९३
घातनि-प्रतिघातनि हरषि, सुमन - सुरासर - जूह ।
बरषायौ, रौक्यौ तिनहि, ऊपर बिसिख समूह ॥९४

९४—वाणों की बरसा ने फूलों की बरसा रोक दी ।

अयःशंकुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे ।
हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥९५॥
राघवो रथमप्राप्तां तामाशां च सुरद्विषाम् ।
अर्द्धचन्द्रमुखैर्बाणैश्चिच्छेद कदलीसुखम् ॥९६॥
अमोघं संदधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः ।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥९७॥
तद्वयोम्नि शतधा भिन्नं ददृशे दीप्तिमन्मुखम् ।
वपुर्महोरगस्येव करालफणमण्डलम् ॥९८॥
तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्धादपातयत् ।
स रावणशिरः पङ्क्तिमज्ञातव्रणवेदनाम् ॥९९॥

९५—तब राक्षस ने लोहे की कीलों से जड़ी हुई शतघ्नी बैरी पर चलाई, मानो छीन कर (अथवा चुराकर) लाई हुई यम की कूटशाल्मली ।

९६—उस रथ तक न पहुँची हुई (शतघ्नी) को, और असुरों की आसा को, राघव ने अर्ध इन्द्र मुख वाणों से केले की नाईं सहज काट दिया ।

९७—और उसके ऊपर चलाने को श्रेष्ठ धनुध धारी ने अमोघ ब्रह्मास्त्र, प्यारी का शोक रूपी काँटा निकालने का उपाय, धनुष पर चढ़ाया ।

९८—वह चमकते हुए मुख वाला सौ मुख होकर आकाश में शेष नाग के कराल फण मंडल वाले शरीर की नाईं दिखलाई दिया ।

९९—उस मंत्र सहित छोड़े हुए अस्त्र से उसने रावण के सिरों की पंक्ति घाव की पीड़ा सहे बिना ही आधे पल में गिरा दी ।

पुनि रावन कीलनि-जड़ित, दीन्ही सतघ्नि प्रहारि ।
मनहुँ जष्टि - जमराज की कूटि सालमल - वारि ॥९५
आसुर-आस-सतघ्नि जो, रही रथहिं नियराय ।
अर्ध चन्द्रसर मारि हरि, दियौ कदली-लौं गिराय ॥९६
संन्धान्यौं निज चाप पै, ब्रह्म अस्त्र रघुबीर ।
सीय-सोक-कंटक-हरन, टारन हिय की पीर ॥९७
ह्वै सत-मुख दमकत-बदन, छिटकी ज्योति अकास ।
भीषन - फन मंडल-वलित, मानहुँ सेष - उजास ॥९८
राम-मंत्र-प्रेरित - बिसिष, रावन-सिर-समुदाय ।
ब्रन-पीड़ा-बिनु छनक मैं, दीन्हैं अवनि गिराय ॥९९

९५—शत्वनी एक प्रकार की गदा होती थी। कूट शाल्मली उस छड़ी का नाम है जिससे यमलोक में कुकर्मी पीटे जाते हैं। इस छड़ी में लोहे के काँटे लगे हैं और सेमल की डाल की बनी है।

बालार्कप्रतिमेवाप्सु वीचिभिन्ना पतिष्यतः ।
रराज रक्षःकायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा ॥१००॥
मरुतां पश्यतां तस्य शिरांसि पतितान्यपि ।
मनो नातिविशश्वास पुनः संधानशङ्किनाम् ॥१०१॥
अथ मदगुरुपक्षैर्लोकपालद्विपानामनुगतमलिवृन्दैर्गण्डभित्तीर्विहाय ।
उपनतमणिबन्धे मूर्ध्नि पौलस्त्यशत्रोः सुरभि सुरविमुक्तं पुष्पवर्षं पपात ॥१०२॥
यन्ता हरेः सपदि संहृतकार्मुकज्यमापृच्छ्य राघवमनुष्ठितदेवकार्यम् ।
नामाङ्करावणशराङ्कितकेतुयष्टिमूर्ध्वं रथं हरि सहस्रयुजं निनाय ॥१०३॥

१००—राक्षस के गिरे हुए मुंडों की पंक्ति शोभायमान हुई, जैसे जल में तरंगों की अलग अलग की हुई सवेरे के सूरज की प्रतिमा ।

१०१—उसके सिरों को पड़ा देखते हुए भी फिर जुड़ जाने के शंकामान देवताओं के मन ने पूरा विश्वास न किया ।

१०२—तब देवताओं की छोड़ी हुई, सुगन्धित फूलों की बरसा, लोक पालों के हाथियों की फटी कनपटी त्याग कर मद भरे पंखों से पीछे लगे हुए भौरों वाली, रावण के बैरी के सीस पर, मुकुट रखने का समय पहुँचे हुए पर, गिरी ।

१०३—फिर देवताओं का कारज सिद्ध करके तुरन्त धनुष से प्रतिंचा उतारे हुए राघव को पूछ कर इन्द्र का सारथी सहस्र घोड़े जुते हुए रथ को, रावण नाम के चिन्हित वाणों से छिदी हुई ध्वजा यष्टी वाले को, ऊपर ले गया ।

गिरी अवनि-तल पै लसी, इमि रावन - सिरराजि ।
रह्यौ बाल-रवि-बिम्ब जनु, सलिल - तरंग बिराजि ॥१००
दसकंधर के सीस कटि, जदपि परे महिं माहिं ।
जुरन - त्रास - सौं सुरन कौं भयौ भरोसौ नाहिं ॥१०१

सवैया

ता समैं राम के सीस पै,हैं जिनके मनिबन्धन के दिन आए ।
चारु-सुगंध-सौ-सानैं-प्रसून अकास सौं देवन ज्यौं बरसाए ।
त्यौं, दिगपालन - बारन बृंदनि - गंडथलीनि सबै बिसराए ।
भारी भये मद सौं जुग - पंख अलीगन-फूलन की दिसि धाए ॥१०२
पूछि कैं कौसल-राज-कुमार सौं, देवन के जिन काज पुजाए ।
डोरी उतारि सरासन सौं, तेहि धारि एकंत महा छवि छाए ।
केतु के दंड मैं जाके लगे, बहु रावन के सर-चिन्ह सुहाए ।
बाजि-हजारन-संजुत-स्यंदन मातलि लै सुर - लोक सिधाए ॥१०३

१०२—राम के सिर पर फूलों की बरषा हुई कैसे सिर पर जिसको मणि जटित मुकट थोड़े ही दिन में मिलने वाला था ।

रघुपतिरपि जातवेदोविशुद्धां प्रगृह्य प्रियां
प्रियसुहृदि विभीषणे संगमय्य श्रियंवैरिणः।
रविसुतसहितेन तेनानुयातः ससौमित्रिणा
भुजविजितविमानरत्नाधिरुढःप्रतस्थे पुरीम् ॥१०४॥

१०४—रघुपति भी अपनी भुजा से जीते हुए श्रेष्ठ विमान पर चढ़ा हुआ अग्नि में शुद्धता दिखलाई हुई प्यारी को लेकर (और) प्यारे विभीषन को बैरी की लक्ष्मी देकर लक्ष्मण और सुग्रीव सहित उसको साथ लिए हुए पुरी को सिधारा।

पावक-ज्वाल की जालनि सौं कढ़ी सूच्द-चरित्र-सियाहिं सकारी।
औ' सब रावन-सम्पदा कौ करि मित्र-बिभीषन कौं अधिकारी।
संग, सुकंठ तथा लघु बंधु के लैकैं विभीषन हूँ कौं खरारी।
औध-चले अपनैं ही भुजाबल - जीते-बिमान पै साजि सवारी ॥१०४

१०४—लक्ष्मण और सुग्रीव समेत विभीषण राम का अनुयाई अर्थात् संग चलने वाला हुआ।

॥ त्रयोदशः सर्गः ॥

प्रथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः ।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥१॥
वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥२॥
गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं संक्रमिते तुरंगे ।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः ॥३॥

तेरहवाँ सर्ग

१—फिर अपने शब्द गुण वाले मार्ग (आकाश) को विमान से गाहता हुआ वह राम नाम विष्णु, गुणों का ज्ञानी, रत्नाकर सागर को देखकर पत्नी से एकान्त में यों बोला ।

२—हे वैदेही मेरे पुल से मलयागिरि तक बँटे हुए झागों वाले समुद्र को, छाया मार्ग के विभाग किए हुए चमकते तारों वाले शरद के उज्जवल आकाश समान को देख ।

३—कहते है कि यह हमारे पुरखों का, यज्ञाभिलाषी पिता के पवित्र घोड़े को कपिल के पाताल पहुँचाने पर उसके लिये पृथ्वी खोदते हुओं का, बढ़ाया हुआ है ।

तेरहवाँ सर्ग

सवैया

गुन-सब्द ही जाकौं कहैं बुधिवन्त, लसे तेइ अम्बर मैं छबिधारी ।
लियैं संग मैं प्यारी पुनीत प्रिया, अरु पुष्पक जान पै साजें सवारी ।
बहु रत्ननि-खानि पयोनिधि मैं, उठती कितीं तुंग-तरंग निहारी ।
बर मैथिल-राज-सुता सौ इकन्त मैं, मंजु गिरा इमि राम उचारी ॥१

"देखियै राजसुता जलरासि, धरैं हिय फैन-समूह सुहायौ ।
त्यौं मलायचल लौं मम-सेतु सों, या जुग भाग मैं आपु बँटायौ ।
सारदि-अम्बर-सोभा लियैं, मनौं तारिका-मण्डल सौं छबि छायौ ।
औ' सुधाधार लौं फैलौ भलौ, गज-मारग हू अतिसैं मन भायौ ॥२

काहू समै सगराख्य महीप, सबै बिधि सौं हय-मेघ पुजायौ ।
सांख्य-प्रबर्त्ती-मुनी-कपिलाश्रम, बाजि पताल गयौ जो दुरायौ ।
खोजिबै लागे धराधिप के सुत, पै तेहिं कौ कछु सोध न पायौ ।
खोदि पताल-लौं डारी रसा, पुरिखानि नैं या बिधि याहि बढ़ायौ ॥३

२—छाया मार्ग अर्थात आकाश में वह स्वेत मंडल जिसको ऐरावत की गैल आकाश मंदाकिनी अथवा स्वर्ग की नसेनी कहते हैं।

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि ।
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥४॥
तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना ।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥५॥
नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ॥६॥
पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाःशरण्यमेनं शतशो महीध्राः ।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥७॥

४—सूरज की किरण इससे जल लेती हैं, रत्न इससे बढ़ते हैं, पानी रूपी ईंधन वाली अग्नि (बड़वानल) को यह धारण करता है, आनन्द की जोति (चन्द्रमा) इससे उत्पन्न होता है ।

५—अनेक अवस्थाओं को जाने वाला, दसों दिशा में महिमा सहित व्याप्त होकर ठैरा हुआ, इसका रूप इतने पन से अथवा ऐसे पन से अथक है, जैसे विष्णु का ।

६—नाभि से उपजे हुए कमल पर बैठने वाले प्रथम प्रजापती (ब्रह्मा) से स्तुत होता हुआ, युग के अन्त में योग निद्रा को जाने वाला पुरुष (विष्णु) लोकों को संहार करके इसमें सोता है ।

७—पंख काटने वाले इन्द्र से गर्व मिटे हुए सैकड़ों पहाड़ इस शरण देने वाले के आसरे रहते हैं, जैसे बैरियों से डरे हुए राजा उत्तम धर्म वाले मध्यस्थ भूपाल के ।

धारन कीयौ करैं अपनैं महँ, या के जलै रवि की कर-माला ।
त्यौं बढ़िबोई करैं एहि माहिं, कितेक मोती-मनि-रत्न-प्रबाला ।
पीबौ करै जल याकौ रसा-तल, सोई बनैं बड़वानल ज्वाला ।
जायौ मयंक-सौ या नैं तनै, जग-नैंननि जो सुख - दैन-उजाला ॥४
याकौ आकार तथा परिमान, बताय सकै अस है मति काकी ।
ब्यापि रह्यौ दसहूँ दिसि मैं, अचला-महिमा निज थापि कै बाँकी ।
ज्यौं सत औ' रज, तामस सौं, बनैं विष्णु के रूप की केतिक झाँकीं ।
ताही समान लखौ बर-बाम, दसाएँ अनेक-अनेकनि याकीं ॥५
आवत है जबहीं प्रलैकाल, तबै सिगरी निज सृष्टि - सँघारी ।
नाभि-प्ररूढ़-सरोरुह बैठि, करैं बिनती बिधि जासु उचारी ।
सेज निसंक कियैं अहिराज कौ, औ' सुख सौं निज पाँय पसारी ।
जोग की नींद समैं यहिं मैं, हरि सोवत सोई सुनौ सुकुमारी ॥६
काहू समै करि कोप सुरेस, पहारनि के हुते पंख बिदारे ।
केते पराजित ह्वै येहि माहिं, दुरै तिमि हीय महा - भय-धारे ।
जा बिधि कूर कोऊ छितिपाल, अधीन-महीसनि आपु उजारे ।
पीड़ित-भूपति आय बसै, काहू मध्यम - भूप - उदार - सहारे ॥७

५—अनेक अवस्था अर्थात् प्रलय इत्यादि ।

रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः ।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव ॥८॥
मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः ।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥९॥
ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः संमीलयन्तो विवृताननत्वात् ।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥१०॥
मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान् ।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम् ॥११॥

८—रसातल से आदि बराह की लाई हुई पृथ्वी को इसका प्रलय में बढ़ा हुआ निर्मल जल छन मात्र घूँघट बना था ।

९—स्त्रियों में औरों से निराले व्यवहार वाला तरंग रूपी अधर देने में निपुन यह आप (तरंगाधर) पीता है और मुख देने में ढीठ स्वभाव वाली नदियों को पिलाता है ।

१०—खुले मुख होने के कारण संगम के जलों को जीव जन्तुओं समेत निगल कर ये मुँह मूँदे हुए तिमि जाति के मच्छ छेदों वाले सिरों से जल के प्रवाहों को ऊपर फेंकते हैं ।

११—बल से उठते हुए मतंगाकार मगरों के दो भाग किये हुये समुद्र के झागों को देख जो उनकी कनपटियों पर फैल कर छन मात्र कानों के चमर बनते हैं ।

काढ़ि रसा कौं रसातल सौं,जबै आदि बराह नैं दंत पै धारौ ।
ब्याही नई बधू के सम 'पाहि', सुनै, प्रलै-काल मैं जाइ उबारौ ।
ता-खन सागर-तोय बढ़्यौ अवगुंठन वाकौ बन्यौ छबि-बारौ ।
मैथिलराज-सुता ! तनि ता, - रतनाकर की सुखमा तौ निहारौ ॥८
किती बनिता-सरितानि नई, रति की परिपाटी-पढ़ावत-जात ।
तरंगनि सौं अधराधर-दान मैं, ढीठ ह्वै चोप चढ़ावत जात ।
सुभाव सौं देतीं बढ़ाय मुखै, तिन सौं अनुराग दृढ़ावत जात ।
नितै सुख सौं अधरा-रस आपु, पियै तिनकौ, औ' पियावत-जात ॥९
आय नदी के मुहाना-नगीच, बिसाल-महा 'तिमिनैं', लखौ प्यारी ।
जो जल पीइबे के सँग ही, जल-जंतन-हूँ मुख - धारैं सुखारी ।
औ' मुख - मूँदि फुहारनि-ज्यौंहीं, निकसत-सीसनि-छेदनि-बारी ।
यौं, जल-जंत्रनि-होड़नि मैं, अपनी सुखमा इन धारी निनारी ।।१०
उछरैं जल मैं सहसा लखौं नक्र, मतंग-लौं दीरघ - काय-डरारे ।
जलरासि के फेनहिं पै करि कोप, मनौं जुग - भागनि-डारत फारे ।
परसे तें कपोलनि कौं तिनके, यह राजत सोभा अनूपम धारे ।
मनौं गंड-थली के समीप हिलैं जुग-चामर आछे महा छबिवारे ॥११

९—तरंगाधर अर्थात् तरंग रूपी होठ ।

१०—तिमि एक प्रकार की मछली है जिसकी लम्बाई कहानियों में १०० योजन कही है ।

वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः ।
सूर्यांशुसंपर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः ॥१२॥

तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात् ।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथंचित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥१३॥

प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्त्तवेगाद्भ्रमता घनेन ।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणैव भूयः ॥१४॥

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला ।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥१५॥

१२—तीर की पवन लेने के लिए निकले हुए, बड़ी तरंगों के उठान सदृश, ये साँप सूरज की किरणों के मिलाप से बढ़ी हुई चमक वाली मणियों से, फनों में रक्खी हुईयों से, जाने जाते हैं ।

१३—तेरे होठों की रीस करने वाली विद्रुम लताओं में तरंगों के बेग का फेंका हुआ, खड़े अंकुरों में मुख छिदा हुआ यह संखों का समूह कैसे दुःख से पीछे को लौटता है ।

१४—जल पीने के लिये झुके ही हुए बादल से, आवर्त के बेग से घूमते हुए से, यह समुद्र अति शोभा पाता है, मानो मंदराचल से फिर मंथन होता हुआ ।

१५—खारी समुद्र की बेला, ताल और तमाल के बनों की पाँति से नीली, दूर होने के कारण पतली दीखती है, मानो लोहे के चक्र की धार पर जमी हुई कीट की रेखा ।

सागर-पौन के सेवन-काज, परै कितै भूमि-भुजंग लखात हैं ।
हैं जल-बीचियाँ कै अहि बृंद सँदेह हिये मैं बड़ौ उपजात हैं ।
पै इनके फन पै जबै आय, परैं रवि की किरनैं अवदात हैं ।
तौ मनि के चमकैं तैं, लखौ, ये सही-सही रूप मैं ही दिखि जात हैं ॥१२
तो-अधरानि की लालिमा-सौं, जो प्रबाल के जूथ ये होड़ लगात हैं ।
संख-समूहनि कौ तिन पै लखौ, तुंग-तरंगनि-बेग-चढ़ात हैं ।
ना कढ़ि पात हैं वे सहजै, इन के अँकुरानि मैं जो फँसि जात हैं ।
पै जल-बेगि-सौं कौनि-हूँ भाँति, बड़ी कठिनाई सौं वे बहि पात हैं ॥१३
पानियैं -पीवन-काज,लखौ, घन या के समीप मैं आय रह्यौ है ।
भौंर के बेग मैं आपनैं सो, येहिं बार-हिं-बार घुमाय रह्यौ है ।
प्यासौ बड़ौ घन या बिधि सौं, जल कौनिहूँ भाँति न पाय रह्यौ है ।
सागर-मंथन कौ वह दृश्य, मनौं यहु फेरि दिखाय रह्यौ है ॥१४
देखियै, सागर की तट भूमि कौ, लोह के चक्र-समान दिखात है ।
ताल-तमालनि की बनराजि सौं, नीलिमा, कैसी भली सरसात है ।
दूरि बिमान सौं याकौं लखैं, यहि तैं यहु छाया यौं हीं दरसात है ।
मानहुँ आयस - चक्र की कोर पै, पंक की रेख अनूप सोहात है ॥१५

१२—साँपों का आकार तरगों का सा है परन्तु उनके फनों में मणि है इससे जाने जाते हैं कि ये साँप हैं ।

१५—बेला अर्थात् समुद्र का तट ।

वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते संभावयत्याननमायताक्षि ।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥१६॥

एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
प्राप्ता मुहूर्त्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥१७॥

कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम् ।
एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥१८॥

क्वचित्पथा संचरते सुराणां क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च ।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥१९॥

१६—हे दीर्घ नेत्री समुद्र तीर की पवन तेरे मुख को केतकी के परागों से रचती है, मानो विम्बाधर की तृष्णा में बँधे हुए मुझको सिंगार कराने में समय का बिताना सहने को असमर्थ जान कर ।

१७—समुद्र के इस तट पर, रेती में फटी हुई सीपियों के फैलाए हुए मोतियों के ढेर वाले पर, फलों से झुकी हुई पूग लता वाले पर, हम विमान के बेग के कारण छन मात्र में आ पहुँचे हैं ।

१८—हे सूँड़ समान जाँघों वाली हे मृगनैनी अब गए हुए मार्ग में दृष्टि कर, यह वनों सहित धरती दूर रहते हुए समुद्र से निकलती सी दीखती है ।

१९—कभी देवताओं के मार्ग में कभी बादलों के में और कभी पक्षियों के में जैसी मेरे मन की रुचि होती है देख उसी विधि से विमान चलता है ।

आयत-लोचनि देखौ इतै, तट-तीर की बायु सुगन्धिन-सानी ।
केतकी-रैनु कौं लै निज संग, बिभूखत है तुव-आनन आनी ।
बिंबन-से अधराघर के, रस कौ अभिलाखी हमैं अनुमानी ।
यामें बिलम्ब सकौ सहि नाहिं, यहै अपनैं जिय मैं जनु-जानी ॥१६
छिनही महँ देखौ बिमान के बेग सौं, सिंधु के वा तट पै हम आये ।
सिकतामयी भूमि पै जाकी अहौ, सिपियाँ मुकतानि की रास बिछाये।
फल-भार-सुपारिन-पादप की, अवली जहाँ दीसति सीस नवाये ।
इतै, तो-सी बिनीता-बिभूति कौ संग, सुभाग ही सौं हम देखन पाये ॥१७
मृगसावक-लोचन हे करभोरु ! सुनौं इतनौं अनुरोध हमारौ ।
निज ग्रीवा कौं नैसुक प्यारी घुमाय, मयाकरि दीठि पिछौंहहिं डारौ।
जितौ धावै बिमान अगाऊँ तितौ, भयौ जात है दूरि समुद्र किनारौ ।
बन-संजुत केती नई बसुधैं, मनौं सागर नैं हियौ फारि निकारौ ॥१८
प्यारी सिया अवलोकौ बिमान, कबौं यह देवन के पथ-धावत ।
औ' कबौं मेघन के मग ह्वै, उड़ौ जात न नेकौ बिलम्ब लगावत ।
आय गयौ अबहीं वहि ओर, जहाँ बिहँगावलि रोर मचावत ।
साँचेहुँ मो-हिय की अभिलाख जितैं चलि जात, तितै यहु धावत ॥१९

१९—आकाश में सबसे ऊपर देवताओं का मार्ग है जिससे नीचे बादलों का और उससे नीचे पक्षियों का ।

असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः ।
आकाशवायुर्दिनयोवनोत्थानाचामति स्वेददलवान्मुखे ते ॥२०॥
करेण वातायनलम्बिते नस्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या ।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥२१॥
अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि ।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ॥२२॥
सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥२३॥

२०—ऐरावत के मद से सुगन्धित, गंगाजी की तरंगों के स्पर्श से शीतल, यह आकाश की पवन तेरे मुख पर दुपहरी में उठे हुए पसीने की बूँदों को सुखाती है।

२१—हे चंडी झरोखे में लटकती हुई बाँह से तुझ कुतुहलवती का छुआ हुआ, चमकती बिजली का भुजबन्द फेंकता हुआ, बादल तुझे मानों दूसरा गहना देता है।

२२—ये छाल ओढ़ने वाले (तपस्वी) जनस्थान को विघ्न रहित जानकर अपने अपने आश्रम मंडलों में, नई बनाई हुई पर्ण कुटी वालों में, बहुत दिन के छोड़े हुओं में बसते हैं।

२३—यह स्थान वह है जहाँ तुझे ढूँढते हुए मैंने एक बिछुआ धरती में पड़ा पाया था, मानो तेरे चरणारविन्द के वियोग की पीड़ा से मौन साधा हुआ।

लैं कै सुरेस के बारन-दान की, गंधि झकोरन मैं सुखदाये।
देव-नदी की कलोलनि सौं, पुनि सीतलताहू लियैं मन-भाये।
अम्बर-बायु बहै गति-मन्द सौं, सोखत स्वेद के बिन्दु सोहाये।
जे तव-कंज-से आनन पै, रवि-आतप लागिबैं सौं ढरि आये ॥२०
कौतुक ही जो बिमान-गवाछ सौं, रावरी नैं कर दीन्हौं निकारी।
धाराधरै परस्यौ जबहीं, तेहि के हिय-भीति भई अति भारी।
ता-महँ जागी तबै छन-जौंन्ह, यहै मन आवत जाहिं निहारी।
तोहिं मनावन-काज मनौं, घन दूजी रह्यौ बलया-कर-डारी ॥२१
छाँड़ि जे भाजे हुते जन-थान–,निबास कौ रावन के भय पागे।
जानि कै बाधा-बिहीन-प्रदेस, चहूँ-दिसि-सौं मुनि आवन लागे।
औ' अपनी-अपनी कुटियानि कौं, लै तृन-पातन-छावन लागे।
सूनी मही कहँ या बिधि सौं, तपती-मुनि-आनि-बसावन लागे ॥२२
याही थली, जहँ हेरि तुम्हैं, हम दोऊ उदास हुते मन - मारे।
राउरी-पाँयन-पंकज सौं गिरौ, नूपुर एक, मही पै निहारे।
सो चुप साधैं परोई रह्यौ, कछू बोल्यौ नहीं हम केतौ पुकारे।
तासु गरौ भरि आयौ हुतौ, मनौं तो पद-कंज-बिछोह के मारे ॥२३

२१—चंडी अर्थात् बहुत कोपने वाली।

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥२४॥
मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम् ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥२५॥
एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥२६॥
गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धाङ्गतकेसरं च ।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ॥२७॥

२४—हे भीरु ! जिस मार्ग से तुझे राक्षस हर ले गया था सो दया करके मुझे इन लताओं ने, बोलने की सामर्थ न रखने वालियों ने झुके हुए पत्तों की डालियों से दिखलाया था ।

२५—और घास के अंकुरों में चाह छोड़ कर हरिणियों ने तेरे मार्ग के मुझ अज्ञानी को बताने के लिए ऊँचे पलकों वाले नेत्र दक्षिण दिशा में चलाए थे ।

२६—आकाश से लगा हुआ यह आगे माल्यवत का शिखर दिखाई देता है जिसमें बादल ने नया मेह और मैंने तेरे विरह का आँसू एक साथ गिराया था ।

२७—और जिसमें मेह की छिड़की हुई पोखरों की सुगन्धि और अधखिली मंजरियों वाले कदम्ब पुष्प और मोरों के मीठे आलाप मुझे तेरे बिना असह्य हुए थे ।

ह्वै अति आरत दीन-मलीन, दोऊ हम, खोजत हे तुम काहीं ।
तेरे बियोग सौं कातर हीं, ये लता, मृदु बोलि सकीं कछु नाहीं ।
पै इन दीन्ह्यौं सँकेत हमैं, भयभीत ह्वै मानौं उठाय कैं बाहीं ।
लै गयौ है तुम्हैं राकस-राज, अबै-हीं-अबै प्रिये, या मग-माहीं ॥२४
लै गयौ कौन कितै तुमकौं, कछू जानत हे न तऊ चलि आए ।
देखीं कुरंगिनी केती इतैं कुस-अंकुर कौ चरिबौ बिसराए ।
हेरैं लगौं दिस-दच्छिन मैं, बरुनीनि कौं ऊपर-ओर उठाए ।
या बिधि प्यारी तिहारौ पतौ, दियौ सैननि सौं निज नैन-भिजाए ॥२५
सामुहैं दीसत उन्नत सृंग, छुऐं नभ कौं मनौं हाथ उठाए ।
है 'गिरि माल'. यहै सुख-धाम, जहाँ बसि हौं कछू द्यौस बिताए ।
पावस के जबै नूतन मेघ, बियोगिनि-जारन कौं घिरि आए ।
तेरे बियोग मैं मैंनै हूँ हे, अँसुवा नव-बूँदनि-संग बहाए ॥२६
सूखी तलैयनि मैं नव-वारिद—बुंदनि गंध जहाँ प्रिय जागी ।
त्यौं हीं कदंबनि-केसरि-गंध-लियै-मुकली कलियाँ कढ़ी रागी ।
कूजन लागे कलापी चहूँ दिसि, कै धुनि मंजु महा रस-पागी ।
तेरे बियोग मैं मेरें हिये ए, तबै बिष-बान-सी हीं बिंधै लागी ॥२७

२४—भीरु अर्थात् डरने वाली ।

पूर्वानुभूत स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु तवोपगूढम् ।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथंचिद्घनगर्जितानि ॥२८॥

आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।
बिडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥२९॥

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णं पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टि ॥३०॥

अत्राविवियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये सस्पृहमीक्षितानि ॥३१॥

२८—और जिस में हे भीरु आगे भोगे हुए तेरे कम्प सहित आलिंगनों की सुध करके मैंने गुफाओं में बढ़ी हुई बादल की गरज जैसे तैसे बिताई थी ।

२९—जिससे मेह की भिगोई भूमि की भाप का योग पाकर नई खिली कन्दलियों से होड़ होती हुई तेरी नेत्र शोभा ने, ब्याह के धुएँ से अरुणता को पहुँची हुई ने,(स्मरण होकर)मुझे पीड़ा दी थी ।

३०—पंपासर के इन जलों को, तट के वानीर बनों से ढके हुओं को, कुछ एक दीखते हुए चंचल सारस वालों को, दूर गई हुई दृष्टि मानो खेद से पीती है ।

३१—यहाँ परस्पर कमल के केसर देते हुए चकवा चकवी के संयोगी जोड़े हैं प्यारी तेरे मुझ वियोगी ने प्रेम से देखे थे ।

घन के गरजैं हीं जहाँ घबराय, भुजानि-भरैं उर-लागि रहीं ।
परिरंभन या बिधि दैकैं सिये ! तन-कंप न नैकहु त्यागि रहीं ।
तिन मंजु बिनोद-मिलापनि की सुधैं, जो बिछुरैं हियौ दागि रहीं ।
अब बारिद की धुनि फैली गुहानि, तहाँ पुनि वे सुधैं जागि रहीं ॥२८
बुँदियान-नये-घन-पावस नैं जबहीं जहाँ भूमिहिं सिंचित कीन्ह्यौ ।
तबै नूतन कंदली की कलियानि, खिलाय सुभाय सँजोग सौं दीन्ह्यौ ।
तिनु, ब्याह के होम कौ धूम लगैं, तुव-राते-बिलोचन होड़न-लीन्ह्यौं ।
सुधिमोहिंदिवायकैंवाछिनकी,तबहींकियौ होप्रिये!मो-हियौझीन्ह्यौ ॥२९
चहुँ बेतस-कुंजन हीं सौं घिरौ, यहु दीसत पंपा-सरोबर बारी ।
तिनमैं कहूँ सारस-बृन्द दुरे, जलपान करैं हिय ह्वै कै सुखारी ।
बहु-दूरि तैं आवन-सौं थकि कैं,अति प्यासी भई,प्रिये!दीठि हमारी ।
यह पीवति है जल कौं सुखमानि,नहीं काहू भाँति सौं जाति निबारी ॥३०
या सर मैं चकवानि के जोरे, अनन्द सौं केलि करैं मन-भाए ।
कंजनि-केसर लै एक - दूजैहिं प्रेम प्रमोदनि- संग चुगाए ।
लाखन लौं अभिलाखनि कौं, इमि धारि कैं तेरे बियोगनि ताए ।
जोरीं बिलोकि प्रिये ! तिनकीं, नहिं जाने किते हम द्यौस बिताए ॥३१

२८—आलिंगन अर्थात् गले लगना ।

२९—धरती की भाप लगी हुई नई कन्दली मानो ब्याह का धुआँ लगे नेत्रों की होड़ करती है ।

३०—खेद से पीना अर्थात देखने से तृप्त न होना । वानीर अर्थात नरमल ।

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥३२॥
अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥३३॥
एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता ।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥३४॥
अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः ।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥३५॥

३२—और इस तट की पतली अशोक लता को, स्तन सदृश मनोहर गुच्छों से झुकी हुई को, तेरे मिलाप के भ्रम से आलिंगन करने के इच्छामान मुझ आँसू गिराते हुए को लक्ष्मण ने बरजा था।

३३—विमान में लटकते हुए सोने के घुँघरुओं का शब्द सुनकर मानो गोदावरी के सारसों की यह पंक्ति आकाश में उड़ती हुई तेरे सन्मुख आती है।

३४—तुझ पेशल मध्या के घड़ों के जल से सिंचे हुए आम के पौधों वाली, मुँह उठाए हुए मृगों वाली, बहुत दिन पीछे देखी हुई, यह पंचवटी मेरे मन को आनन्द देती है।

३५—यहाँ गोदावरी के तट पर मृगया से निवट कर तरंगों की पवन से थकावट मिटा हुआ नरसल की कुटी में एकान्त में तेरी गोद में सिर रक्ख के सोया हुआ मैं सुध करता हूँ।

यहि के तट-छाम असोक-लता, झुकी जाति ही फूलनि-भार के भारे।
अति ओछे-उरोज-से जाके प्रसून, हियैं प्रिये तो भ्रम देत सँवारे।
तुम्हैं पायौ-सो मानि कैं भेंटन-काज, मृनाल-सी दोऊ भुजानि-पसारे।
मम-जानि प्रमाद, बिलोचन-बारि, भरे,-लघु-बन्धु नैं, मोहि निबारे ॥३२
बिमान मैं कंचन-किंकिनी-जाल, रह्यौ धुनि - मंजु महा सरसाय।
सुनैं तेहि, गोदाबरी-तट के, रहे सारस बृन्दहू कंठ उठाय।
उड़ैं नभ की दिसि ये सहसा, मनौ स्वागत तेरौ करैं इतै आय।
बिदेह - सुता इनकी दिसि नैसुक देखिए तौ निज दीठि लगाय ॥३३
कटि छाम पै धारैं भरी गगरी, तुम बाल-रसालनि सींचि बढ़ाये।
कर पल्लव सौं कुस-अंकुर दै, करसायल-बृंद-सौं नेह दृढ़ाये।
बरसैं कितीं बीति गई पै अजौं, तुम्हारी दिसि देखत ग्रीव उठाये।
यह पंचबटी प्रिय मो हिय कौं, अजहूँ लखें देति अनन्द सवाये ॥३४
है यह बेतस - कुंज सोई, तुव संग इकंत कबौं इतै आवत।
जानु पै तेरे धरैं निज सीस, जहाँ मृगया-स्रम दूरि भगावत।
सीतल-मन्द-सुगन्ध-समीर, हुतौ मधुरी निंदिया-दृग - लावत।
गोदावरी-तट-रम्य-प्रदेस, लखैं कछु औरै हिये सुधि आवत ॥३५

३२—वियोग की दशा में राम ने अशोक लता को सीता सदृश देखकर छाती से लगाने को हाथ बढ़ाया, तब लक्ष्मण ने रोका कि यह सीता नहीं है लता है।

३४—पेशल मध्या अर्थात् पतली कटिवाला।

भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ।
तस्याविलाम्भः परिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ।।३६।।
त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः सशनुमते मे लघिमानमात्मा ।।३७।।
एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि ।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ।।३८।।
पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना ।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ।।६९।।

३६—भौंह मरोड़ने ही से जिसने नहुष को इन्द्र की पदवी से भ्रष्ट किया था उस मुनि का, मैले जलों को निर्मल करने वाले का, यह धरती पर किया हुआ घर है ।

३७—उस अनिन्दित कीर्ति के तीन अग्नियों के इस उत्तम धुएँ को, हव्य की सुगन्धि लिए हुए को, विमान के मार्ग में आते हुए को, सूँघकर मुझ रजो गुण रहति का अन्तःकर्ण लघुता को जाता है ।

३८—हे मानिनी शातकर्ण मुनि का पंचाप्सर नाम बिहार सरोवर बनों से घिरा हुआ वह चमकता है, मानो बादलों के बीच में दूर से कुछ एक दीखता हुआ चन्द्रविम्ब ।

३९—आगे उस दाभ के अंकुर मात्र भोजन करने वाले को, मृगों के संग फिरते हुए को, तपस्या से डरने वाले इन्द्र ने पाँच अप्सराओं के यौवनरूपी कपट जाल में फँसाया था ।

पायौ हुतौ सुरनायक कौ पद, या तन तैं जिन जत्न करोरि कैं ।
डार्‌यौ सुरेस के आसन सौं, नहुषैं महिं पै जिन भौंह मरौरि कैं ।
जो बरषा के मलीन जलै, स्व-प्रभाव ही सौं करै स्वच्छ बहोरि कैं ।
है उन कुंभज कौ भुव आश्रम, आगे चलैं यहि के कर-जोरि कैं ।।३६
वा जस रासि अगस्त-मुनीस की, आश्रम-भूमि लखौ नियराति है ।
होम-हुतासन-धूम-सिखा की, सुगन्धि-बिमान-पथै-बढ़ी आति है ।
सूँघि सुगंध वा, चित्त की बृत्ति, रजो-गुन-मुक्त भई ज्यौं दिखाति है ।
त्यौं हिय-मानस-माहिं अनंद की, कौल-कली बिकसी मनौं जाति है ।।३७
मानवती, बनराजनि सौं घिरौ, कैसौ बिहारि-सरोबर सोहै ।
याकौ 'पंचाप्सर' नाउ है, याहीं, प्रियेः सतकर्नि मुनीस बसो है ।
चारु-बलाहक-बृन्दनि मैं, मनौं मंजु-मयंक कौ बिम्ब दुरो है ।
देखिऐ या सर कौ बरबारि, बिलोकन-हारे कौ हीय बिमोहे ।।३८
साधना-बीच कितेक दिनानि-लौं, मात्र-कुसा-अँकुरानिहिं खायौ ।
यौं हीं कुरंगनि के संग मैं, रहि कैं किते-आयु-दिनानि-बितायौ ।
या बिधि बाकौ लखैं तप उग्र, हियैं-अमरेस, महा भय पायौ ।
अप्सरा-पंचनि-मंजुल-लास—बिलासनि - पास-यौं ताहि फँसायौ ।।३९

३६—अगस्त मुनि का आश्रम ।

३७—लघुता को जाना अर्थात् शुद्ध होना ।

तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदङ्गघोषः ।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥४०॥

हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटंतपसप्तसप्तिः ।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥४१॥

अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसंदर्शितमेखलानि ।
नालं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥४२॥

एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम् ।
सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥४३॥

४०—जल के भीतर मंदिर में उस बैठे हुए के संगीत मृदंग की यह ध्वनि आकाशतक उठकर प्रति ध्वनि से पुष्पक के ऊपर लेखनी को छन मात्र गुँजारती है ।

४१—चार प्रज्वलित अग्नियों के बीच में यह दूसरा तपसी सूरज से ललाट तपाने वाला नाम का सुतीक्षण कर्म का सौम्य तपता है ।

४२—इस इन्द्र की शंका उपजाने वाले के डिगाने को अप्सराओं के विलास चरित्र, मुसकानि सहित फेंकी हुई दृष्टियों वाले, मिस से आधी मेखला दिखलाते हुए, समर्थ न हुए ।

४३—यह ऊँची बाँह वाला तपसी मेरे सत्कार के लिए रुद्राक्ष की माला के भुजबन्द वाली, हरिणों की खुजलाने वाली, कुशा की सुईयों को तोड़ने वाली, दाहनी भुजा अनकूल करके इधर करता है ।

तपो-बल सौं सर के जल माहिं, अलच्छ-बिहार-निकेत बनाय ।
लियै सँग स्वर्ग की बारबधूनि, करैं मुनि-केलि महा-मुद पाय ।
निरन्तर ही तहँ बाजैं मृदंग, संगीत के संग मनोहर भाय ।
प्रिया, सुनौ कान दै सब्द सो ब्योम, बिमान अटारिन गूज्यौ है आय ॥४०
देखौ प्रिये इनहूँ तपसी कौं, जो बैठे चहूँ-दिसि धूनी लगाए ।
औ' निज भाल कौं भानु-मरीचिनि-ज्वाल के जालनि देत तपाए ।
सोहैं तपीन-मैं जो सिरमौर, 'सुतीछन' नाम सौं जात कहाए ।
चारु-चरित्र तऊ इनके, अति सांत हैं, औ' सबके मन भाए ॥४१
कौतुक ही इतै आइ सहास, कटाच्छ के तीछन-बान चलाई ।
औ' मिसुकै मुनि कौ, निज छाम, छला-सी मनोहर लंक दिखाई ।
देव-तियाँ करि केतिक भौंह-बिलास औ' मंजुल-भाव बताई ।
कोटि कलानि कै हारीं सबै, इन कौं नहिं नैकौ सकीं बिचलाई ॥४२
कंकन जा मैं, लसै रुदराछ कौ, जासौं, कुरंग गये खुजियाए ।
जा कर सौं 'नित-कर्म' के हेतु, कुसांकुर खोंटे सुचित्तै लगाए ।
हेरि बिमान मैं मोकहँ आपनी-ओर, वा हाथै सप्रेम हलाए ।
हैं अभिनंदन काज लखौ, नभ की दिसि दाहिनी बाँह उठाए ॥४३

४३—अनुकूल अर्थात् सीधा ।

वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किंचित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः ।
दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि संनिधत्ते ॥४४॥

अदः शरण्यं शरभंगनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः ।
चिराय संतर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ॥४५॥

छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसंभाव्यफलेष्वमीषु ।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥४६॥

धारास्वनोन्दारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः ।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः कुकुद्मानिव चित्रकूटः ॥४७॥

४४—मौन के नियम के कारण यह मेरे प्रणाम को कुछ हिलते हुए सिर से लेकर बीच में विमान आने से छुटी हुई दृष्टि को फिर सूरज में लगाता है ।

४५—यह शरण देने वाला पुनीत तपोबन शरभंग नाम तपस्वी का है जिसने बहुत काल तक अग्नि की समधों से तृप्त करके मंत्रों से पवित्र किया हुआ शरीर भी हवन कर दिया ।

४६—उसका अतिथि सत्कार इन सपूत पूतों के समान वृक्षों में, छाया से मार्ग का परिश्रम मिटाने वालों में, बहुत फल देने वालों में, अब तक वर्तमान है ।

४७—झरनों की ध्वनि निकलती हुई गुफा रूपी मुख माला शिखिर की नोक पर लगे हुए बादल रूपी क्रीड़ा की कीच वाला, यह चित्रकूट मेरी दृष्टि को हे ऊँचे अंगों वाली खेंचता है, मानो ठाठ वाला बैल ।

ब्रत, मौन कौ धारैं न बोलैं कछू, मोहिं देखि कैं, 'रंचक सीस डुलाई ।'
यहि भाँति प्रनाम के उत्तर मैं, मुनि मोहिं असीस दई हरषाई ।
मुनिदीठि-दिनेस के बीच लखौ, बिवधान-बिमान भयौ यहु आई ।
निज दीठि कौं फेरि कैं फेरि मुनीस, दिनेस-मरीचिनि माहिं लगाई ॥४४
सामुहैं प्यारी लखौ यहु है, सरभंग-तपोबन-आश्रम सोई ।
पूजत हे जहाँ हीं बिधि सौं, समिधानि-प्रजारि-हुतासन जोई ।
कीन्ह्यौं सदा सरनागत-रच्छन, है जिननैं निज खोलि हियोई ।
अन्त मैं हो जिननैं अपनौं तनु, जोगि की आगि मैं होमि दियोई ॥४५
चारु-पवित्र - चरित्र गये सरभंग-मुनीस वे स्वर्ग सिधारी ।
पै अतिथीनि की सेवा सबै इन पादप-बृन्दनि पै गये डारी ।
छाया तथा मधुरे फल दै, श्रम-पंथिन कौ नित देत निवारी ।
ये तरु आजौ सुसंतति-लौं, ब्रत धारैं सोई कर्त्तब्य बिचारी ॥४६
देखहु कान्त - कलेवर-सीय यहै समुहैं चित्रकूट-पहार है ।
कन्दरा-आनन माहिं महा धुनि, होति गिरैं झरनानि की धार है ।
सोहत सृंग पै बारिद-माल, नदी तट पंक की मानौं बहार है ।
यौं बली बैल-लौं मूधर-चारु बिलोचन कौं सुख देत अपार है ॥४७

४६—उस मुनि के लगाए हुए वृक्ष भी अतिथों का सत्कार करते हैं ।

४७—पहाड़ की उपमा बैल से दी है ।

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी ।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ।।४८।।
अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य ।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयावतंसः परिकल्पितस्ते ।।४९।।
अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात्फलबन्धिवृक्षम् ।
वनं तपःसाधनमेतदत्रेराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ।।५०।।
अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम् ।
प्रवर्तयामास किलानसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ।।५१।।

४८—वह निर्मल निश्चल प्रवाह वाली मंदाकिनी नदी दूर का अन्तर होने के कारण पहाड़ की तलहटी में पतली दीखती है, मानो पृथ्वी के गले में पड़ी हुई मोतियों की माला ।

४९—यह पहाड़ के निकट सुन्दर तमाल वह है जिसका सुगन्धित पत्ता लेकर मैंने तेरे जवांकुर रक्खे हुए कुछ पीले कपोल को शोभित करने के लिए करन फूल बनाया था ।

५०—दंड के त्रास बिना भी सुशीलता सीखे हुए पशुओं वाला, फूलों के चिन्ह बिना ही फलों से लदे हुए वृक्षों वाला, उदय प्रताप प्रगट करने वाला, यह वन अत्रि मुनि के तप का साधन है ।

५१—यहाँ तपस्वियों के नहाने के लिये अनुसूया ने सप्त ऋषियों के हाथ से निकाले हुए हेम कमलों वाली महादेव की सिरमाला (गंगा) बहाई थी ।

कैसी गँभीर तथा सुचि-नीर, प्रबाह-मई-सरिता या सुहाई ।
दूरिसौं दीसति है दुबरी अति मंदाकिनी जग माहिं कहाई ।
भूधर-कंठ के चारिहूँ ओर, बिराजति या बिधि सौं छबि-छाई ।
ग्रीवा मैं मंजु मही की मनौ, मोतियानि की माल काहू पहिराई ।।४८

मथिली देखौ, धराधर के ढिग, सोई तमाल लग्यौ मन-भायौ ।
लै अपनै कर सौं जिहि को, सुरभी लौ-सौ पल्लव मंजु सुहायौ ।
मंजु-कपोलनि - मंडन के हित तेरे लियैं अबतंस बनायौ ।
ओप परी पियरी जिन की, जव अंकुर की सुखमा कों चुरायौ ।।४९

दंड की भीति बिनाहीं इहाँ, निबलैं, बली ना कहूँ पीड़न पावैं ।
त्यौहीं प्रसूनन-आगम सौं पहिलैं तरु - बृन्दन मैं फल आवैं ।
अत्रि - मुनीस कौ सोई तपोवन है यहै जाके प्रसिद्ध प्रभावैं ।
देखिये मैथिली, या जग मैं, अजहूँ जन याकी सुकीरति गावैं ।।५०

हेम-सरोजनि जाके चुनैं गहि सप्त-मुनीस सदा निज पानी ।
जो ससि-सेखर-सीस पै मंजुल मालती-माल-लौं आपु सुहानी ।
त्रै-पथ सौं जो बही तिहुँलोक मैं, मंदाकिनी कहि जाहि बखानी ।
तापस-बृन्दन के हित ही, याहि अत्रि - तिया तप के बल आनी ।।५१

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणामयी समध्यासितवेदिमध्याः ।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥५२॥

त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो बिभाति ॥५३॥

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥५४॥

क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः ।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥५५॥

५२—बीरासन लगाकर ध्यान में बैठने वाले ऋषियों के ये वृक्ष भी वेदियों के मध्य में खड़े हुए निब्यारे की निश्चलता के कारण जोग में ध्यान लगाए हुए से दीखते हैं।

५३—जो श्याम नाम वाला वट का वृक्ष तैंने आगे पूजा था सो फल कर चुन्नियों सहित पन्नों के ढेर की नाईं वह चमकता है।

५४—कहीं फैली हुई कान्ति वाले नीलकों के साथ गुँथे हुए मुक्ता हार की नाईं, कहीं नीले कमलों के साथ पुही हुई स्वेत कमलों की माला की नाईं।

५५—कहीं कल हंसों सहित मान सरोवर के उत्साही पक्षियों (राजहंसों) की पंक्ति की नाईं, कहीं कालागुर की रेखा लगी हुई पृथ्वी की चन्दन रचना की नाईं।

बेदिन के मधि पादप पुँज ये, हैं तपसीन लगाय - बढ़ाये ।
मंद भये तैं समीरन के इनके नहिं डोलत पात-सिखा ये ।
देखि तिन्हैं यौं अडोल-अबोल, बिचार नये कछु यौं हिय आये ।
जोगहिं साधि रहे सब ये, मनौं मारि बीरासन - ध्यान लगाये ॥५२

सामुहैं ठाढ़ौ सिये;बट-बृच्छ जो साँवर-रंग अनूप सुहायौ ।
मेरे भले-हित-याहि प्रिये, पहिलैं तुमनैं कर जोरि मनायौ ।
लाल लगे फल याके लखौ, हरे - पातन सौं यौं बड़ौ मन भायौ ।
मानौं हरीमनि औ' पुखराज की, काहू अनूपम रासै सजायौ ॥५३

सोहत जो कहुँ लीन्हैं प्रभा,छरी-सी,जरी नीलम औ'मोतियान की ।
हारावली, कहुँ ज्यौं बिलसै, अरबिन्द इँदीबर की लरियान की ।
सोभा धरैं कहूँ मानस-जात,-सिता - सित-हंसन-ज्यौं पँतियान की ।
भाल पै भू के कहूँ रचना, सम-चन्दन-स्यामा गुरू-पतियान की ॥५४-५५

५४—इस श्लोक से लेकर ५७ तक में गंगा जमुना के संगम की उपमा है।

क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशा ॥५६॥

क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥५७॥

समुद्रत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात् ।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्तिशरीरबन्धः ॥५८॥

पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलमणिं विहाय ।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि कामाः फलितास्तवेति ॥५९॥

५६—कहीं छाया में छुपे हुए अँधेरे की कबरी की हुई चाँदनी की नाईं, कहीं रंध्रों में आकाश दिखाती हुई शरद घन की स्वेत पंक्ति की नाईं ।

५७—और कहीं काले साँप के भूषन वाले भस्म के अंग राग वाले महादेव के शरीर की नाईं, हे निर्दोष अंग वाली देख जमना की तरंगी से प्रवाह टूटी हुई गंगा शोभायमान है ।

५८—कहते हैं कि यहाँ समुद्र की दो पत्नियों के जल संगम में स्नान करने से तत्वज्ञान के बिना भी पवित्र आत्मा पुरुषों का फिर देह सम्बन्ध नहीं रहता है ।

५९—यह निषादों के राजा का वह गाँव है जहाँ मुझे सिर की मणि उतार कर जटाजूट बाँधते देखकर सुमन्त रोया था कि ले केकई अब तेरे मनोरथ सिद्ध हुए ।

चाँदनौ औ' तुम-सी इकठौर, कहूँ तरु-छाँह तरैं - ज्यौं दिखात है ।
तौ कहूँ नील-अकास मैं सारदी-लौं सित-मेघ-छटा सरसात है ।
कारे-भुजंग-बिभूति - बिभूषित, संभु-सरीर किधौं अवदात है ।
सूरसुता-लहरानि-सौं भिन्न, प्रिये, यह गंग - प्रवाह लखात है ॥५६-५७

यौं, जमुना मिली गंगैं-प्रयाग मैं, द्वै-तन-ज्यौं एक प्रान लखात हैं ।
एहि सिंधु-सपत्निन-संगम पै, बड़ भागी इतै जोई जाय अन्हात हैं ।
ब्रह्म कौं जानैं न जानैं सिये, मन-मैल तऊँ सब ही के बिलात हैं ।
यौं तनु-धारिन के छिन मैं भव बंधन के झगरे कटि जात हैं ॥५८

देखौ, निषादन के अधिराज कौ, है यहु ग्राम सिये, सो सुहायौ ।
कानन-बास-समैं जहाँ हुतौ, हौं निज मौलिमनी कौं बिहायौ ।
औ' बट-छीर मँगाय जहाँ हीं, जटानि को मंजुल जूट बनायौ ।
रोइ परे हे सुमंत बिलोकि, कह्यौ, "भयौ कैकई कौ मन-भायौ" ॥५९

५८—समुद्र की दो पत्नी अर्थात् गंगा और जमुना ।

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः ।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ॥६०॥

जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम् ।
तुरंगमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥६१॥

यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे संभावयत्युत्तरकोशलानाम् ॥६२॥

सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता ।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरंगहस्तैरुपगूहतीव ॥६३॥

६०—जिस (नदी) का करता मुनी लोग यक्षों की स्त्रियों के कुचों की भीगी हुई कमल रज वाले मान सरोवर को कहते हैं, जैसे बुद्धि का महत्व को ।

६१—जो तट पर खड़े हुए यज्ञ खम्बों वाली अश्वमेध के अन्त स्नानों से इक्ष्वाकुवंशियों के अधिक पवित्र किये हुए जलों को अजुध्या (राजधानी) के निकट बहाती है ।

६२—जिसको तट रूप गोद का सुख लेने वाले, उमगते हुए पयों से पले हुए, उत्तर कौशलाधीशों की साधारण धाय की भाँति मेरा मन सम्भावना करता है ।

६३—सो यह सरजू मेरी माता की नाईं उस पूज्यमान राजा की छोड़ी हुई मुझ दूर बसे हुए को मानो ठंडी पवन वाले तरंग रूपी हाथों से अंक में भरती है ।

जाहि के हेम-सरोज-पराग—उरोजन-जच्छ-तियाँ मलैं न्हावत ।
है यहु मानसरोवर सो, निकसी सरजू जेहि तैं, इमि गावत ।
मूल मैं बुद्धि कौ कारन जा बिधि, ग्यानी-रिसी हैं अव्यक्त बतावत ।
जानत याकौ न भेद कोऊ तिमि, पै हैं बिसास तऊ जा पै लावत ॥६०

कूल पै जाके गड़े अजहूँ, पसु बाँधिवै कौं बहु जूप सुहाये ।
औध की वा रजधानी समीप, बहै सरजू सुखमा बगराये ।
पूरन के हय-मेध जबै, हमरे पुरखा इतै आय अन्हाये ।
याके पुनीत जलैं तबहीं, अवगाहि कै औरौं पुनीत बनाये ॥६१

बसे सिकता-मई जे तट गोद मैं, या सरजू के अनन्द सौं आय ।
तथा यहि के बर-छीर-लौं नीरहि, पान कै भे परिपुष्ट अघाय ।
भई यह उत्तर-कौसल के, अधिवासिन की सबहीं बिधि धाय ।
अपूरब है यहि की गुन-गाथा, कही हम पै न काहू बिधि जाय ॥६२

मातनि-लौं सरजू, पितु-सौं ये बियोगिनि ह्वै दुख पाइ रही है ।
सीतल - बायु-तरंग-भुजानि-उठाइ ये, यौं हिय लाइ रही है ॥६३

विरक्तसंध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते ।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥६४॥
अद्धा श्रियं पालितसंगराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः ।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन्संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे ॥६५॥
असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः ।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति ॥६६॥
पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाप्यङ्कगतामभोक्ता ।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ॥६७॥

६४—रंग पलटी हुई सन्ध्या के समान पृथ्वी की पीली धूल आगे उड़ती है इससे मैं शंका करता हूँ कि हनूमान से वृतान्त सुना हुआ भरत सेना सहित मेरे लिए आता है ।

६५—निश्चय वह साधू रक्षा की हुई अछूती राज लक्ष्मी मुझ प्रतिज्ञा पालने वाले को सौंपेगा, जैसे रण में खरादिक का नाश करके लौटे हुए को लक्ष्मण ने तू (सौंपी) ।

६६—गुरु को आगे और सेना को पीछे किए हुये छाल के वस्त्र ओढ़े हुए हाथ में अर्घ लिये हुए वह भरत बूढ़े मंत्रियों सहित मेरी ओर पैदल आता है ।

६७—जिसने युवान होकर भी पिता की दी हुई गोद में आई हुई लक्ष्मी मेरी भक्ति के कारण अनभोगी रक्खी, मानो इतने बरस उसके साथ कठिन आसिधार व्रत साधा ।

साँझ की लालिमा-सी यहु धूरि, लखौ नभ - मंडल छाइ रही है ।
आगम जानि मो लैबे भरत्थ के संग में सैनहुँ आइ रही है ॥६४

हौं प्रतिपाल कियौ पितु-बैन, यहै निहचै अपनैं मन लैहै ।
है यह साधु स्वभाव ही सौं, यहि तैं हमरे जिय आत यहै है ।
जैसें हो लच्छन सौंप्यौ तुम्हैं मोहिं, मारि खरादिक लौटन पै है ।
तैसैंई कैकई-नंद अनन्द सौं, राज - श्रियै हमरै कर दैहै ॥६५

चीरहिं धारैं लियैं कर अर्घ्यहिं, यौं परैं राजकुमार न चीन्हैं ।
ओ' सिगरे जन मंडल के, तिमि आगे लखौ गुरु-देवहिं कीन्हैं ।
पाछैं कियैं चतुरंग-चमू-चय, औ' सँग बूढ़े अमात्यनि लीन्हैं ।
आइ रहे प्रिये, कैकेई-नन्द पयादेहिं तो पग पै दृग दीन्हैं ॥६६

राज के भारहिं सौंप्यौ पिता, हमरे हित कौ तबहूँ इन चीन्हौं ।
अंक मैं आई मही-कमला दिसि, भूलि कबौं इन दीठै न दीन्हौं ।
आजु लौं वा सँग भोरी प्रिया ! असिधार-व्रतै इन पालन कीन्हौं ।
या बिधि सौं रघुबंसनि मैं, सबसौं बढ़ि कैं इनहीं जस लीन्हौं ॥६७

६७—आसिधार व्रत अर्थात् खड्ग की धार का व्रत । "युवायुवत्या सार्द्धयत् मुग्धभर्तृ वदाचरेत् अन्त निर्वृत अंग स्यात आसिधार व्रतंहितत् ।"

एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीयामिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा।
ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभिरुद्वीक्षितं प्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः ॥६८॥
तस्मात्पुरःसरविभीषणदर्शितेन सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः।
यानादवातरददूरमहीतलेन मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः ॥६९॥
इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य स भ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते।
पर्यश्रुरस्वजत मूर्धनि चोपजघ्रौ तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके ॥७०॥
श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियाँश्च प्लक्षान्प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान्।
अन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातैर्वार्तानियोगमधुराक्षरया च वाचा ॥७१॥

६८—दशरथ सुत के इतने कहने पर विमान उसकी इच्छा को अधिदेवतापन से जान कर भरत के पीछे चलती हुई आश्चर्यमान प्रजा के देखते हुए आकाश से उतरा।

६९—सेवा चतुर सुग्रीव का हाथ पकड़ कर राम उस विमान से अग्रगामी विभीषण की दिखलाई हुई, पृथ्वी पर रक्खी हुई, स्फटक मणि जटित डंडों वाली, सीढ़ी होकर उतरा।

७०—इक्ष्वाकु वंश के गुरु को प्रनाम करके उस विनीत वान ने अर्घ लेने से पीछे भाई सहित भरत को आँसू गिराकर छाती से लगाया और अपनी भक्ति के कारण पिता के राज्य का महा अभिषेक त्यागने वाला मस्तक सूँघा।

७१—और जटा बढ़े हुए बड़ के वृक्षों की नाईं डाढ़ी बढ़ने से मुख का रूप पलटे हुए बिनती करते हुए बूढ़े मन्त्रियों पर प्रसन्नता की दृष्टि से और कुशल पूछ कर मीठी वाणी से अनुग्रह किया।

राम के यौं कहते नभजान–अधिष्ठात्री सक्ति नैं भाव - पिछान्यौं।
अंबर तैं पलमारत ही, तब जानहिं लाइ धरा - ठहरान्यौं।
ठाढ़े जके से रहे सिगरे, भरतादिन हूँ कौं न भेद लखान्यौं।
आजु लौं देख्यौ हुतौ काहू ना, नभजान कौं बस्तु अपूरब जान्यौं ॥६८
आय बिभीषन आपु लगे, रघुनाथ कौं मारग-मंजु दिखावन।
सेवा-बिचच्छन त्यौंहीं सुकंठ कौ, पानि गहैं महि पै लगे आवन।
भूमि तैं उन्नत-जान-सोपान, बनौं मनि-सेत कौ जो मन-भावन।
जामैं बिचित्र रची रचना, बड़ौ नैनन को अति लागै सुहावन ॥६९
आवत ही महि पै पहिलैं, गुरु कौं प्रभु नैं अभिवादन कीन्हौं।
वाके अनन्तर बंधु-समर्पित; अर्घ कौ आपु अनन्द सौं लीन्हौं।
आखिन तैं अँसुआ बरसाय कैं, भाइ को गाढ़ौ अलिंगन कीन्हौं।
माथहिं सूँघ्यौ, तज्यौ जेहि नैं, पितु-राज की, तासु सनेह सौं भीन्हौं ॥७०
हेर्‌यौ कृपा करि बूढ़े अमात्यनि, आनन पै जिनके लसीं दाढ़ी।
हीं, बट-पादप ही के समान जटा जिनकीं अतिसै हुतीं बाढ़ी।
पूछी सबै तिनसौं कुसलात, सनेह-सनी बतियाँ-मुख - काढ़ी।
राम को ऐसे लखे अनुरागहिं चित्र - लिखी-सी-प्रजा रही ठाढ़ी ॥७१

६८—अधि देवतापन अथार्त मान लिया हुआ देवता पन।

दुर्जातिवन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष समरेषु पुरः प्रहर्ता ।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे ॥७२॥

सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्विश्यन्नितास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन ॥७३॥

रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रान् ।
तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधाराः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते ॥७४॥

७२—यह रीछ बन्दरों का राजा (सुग्रीव) मेरा आपत्य का मित्र है, यह संग्राम में प्रथम प्रहार करने वाला पौलस्त्य (विभीषन) है, इस प्रकार रघुनन्दन के आदर सहित बखाने हुए दोनों को भरत ने लक्ष्मण को उका कर नमस्कार किया ।

७३—इससे पीछे वह सुमित्रा सुत से मिला और उस विनती करते हुये को लेकर बल से छाती लगाया मानो इन्द्रजीत के प्रहारों के बड़े घावों से उसके कर्कश उर स्थल में अपनी भुजा का मध्य दुखाने के लिए ।

७४—तब राम की आज्ञा से बन्दर सेना के स्वामी मनुष्य रूप होकर बड़े हाथियों पर चढ़े, उनके बहुत ठौर से मद की धारा बरसाने पर उन्होंने पहाड़ के चढ़ने का सुख अनुभव किया ।

"ठाढ़ौ सुकंठ लखौ समुहैं, यहई भयौ आपद-बंधु हमारौ ।
राकस-राज को बंधु है ये, जेहि नै बढ़ि आगे है अस्त्र प्रहारौ ।
ज्यौ हीं सुकंठ-बिभीषन कौं, परिचौ दियौ राम, त्यौं ही मन-धारौ ।
सौमित्र तैं पहिलैं इनकौ नमि, कैकई-नंदन नैं सतकारौ ॥७२

भेंटि सुकंठ - बिभीषन कौं, पुनि दीठिहिं लक्खन की दिसि-डारी ।
औ' तिन्हैं गाढ़ौ आलिंगन दै, भरि प्रेम सौं, मानौं बिलोचन बारी ।
जुद्ध मैं रावन के सुत नैं जेहि पै हुती कोपि कैं सक्ति-प्रहारी ।
वा-व्रन-पूरित-व्रच्छ सौं, आपनैं, बच्छैं मिलाइ कैं कीन्ह्यौं दुखारी ॥७३

कपीन के नायक राम कौ आयसु, मानिबे मैं न करी कछु बार ।
धरैं बपु मानुष कौ सिगरे, भये बारन-बृंदन जाय सवार ।
बहै जिन की सूँड़ि - गंड-थली सौं,धारा बहुधा मद-बारि की धार ।
महीधर के अवरोहन कौ सुख, या बिधि सौं तिन पायौ अपार ॥७४

सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां भेजे रथान्दशरथप्रभवानुशिष्टः ।
मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयैर्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः ।।७५।।

भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताकमध्यास्त कामगति सावरजो विमानम् ।
दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्यस्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम् ।।७६।।

तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः ।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात्प्रत्युद्धृतां धृतिमयीं भरतो ववन्दे ।।७७।।

७५—निशाचरों का स्वामी भी दशरथ सुत की आज्ञा से साथियों समेत रथों पर चढ़ा जिनकी शोभा यद्यपि कृत्रिम थी तो भी उसके माया कल्पित रथों से तोले न गए ।

७६—फिर इच्छा पूर्वक चलते हुए सुन्दर पताका वाले विमान पर रघुपति भाइयों सहित चढ़ा, मानो साँझ समय चमकती हुई बिजली वाले बादल पर बुद्ध और वृहस्पति के योग से शोभायमान चन्द्रमा ।

७७—वहाँ मानो प्रलय से आदि वराह की उद्धारी हुई पृथ्वी को, मानो बादलों की घटा से शरद की (उद्धारी हुई) चाँदनी को, दशकंठ के संकट से राम की उद्धारी हुई धैर्यवती सीता को भरत ने बन्दना की ।

आयसु राम कौं मानि बिभीषन, सेवक-बृंदन-संग सुहाये ।
स्यंदन माहिं बिराजे सबैं, जिनकौं, तिनके हित राम पठाये ।
हैं सिगरे रथ औधहि के, सिलपीन के हाथ-सजाये-बनाये ।
देव-बिनिर्मित-जान तऊ, तिनकी कछु छाँह छुऐ नहि पाये ।।७५

फेरि कैं कोसल नाथ बिमान मैं, बंधुन-संग-लियैं अवरोहे ।
जानत जो मन की गति कौं, अरु चंचल जासु पताका सबै हे ।
मानौं मयंक-बृहस्पति औ' बुध के सँग साँझ समै नभ सोहे ।
राजत जामैं बलाहक की अवली अरु बिज्जु - छटा मन - मोहे ।।७६

वा प्रलैकाल में सोभामयी, बसुधा जिमि आदि बराह उधारी ।
बीतत ही बरषा-रितु होति ज्यौं चन्द्र कला, छँटे-मेघ निनारी ।
त्यौं ही दसानन-कष्टनि सौं, परिमुक्त भई जो बिदेह-दुलारी ।
कैकई - नन्दन ताकौं प्रनाम कियौ भरि मंजुल लोचन-बारी ।।७७

७५—राम के रथ यद्यपि मनुष्यों के बनाए थे तो भी उनकी शोभा को विभीषन के माया से बने हुए रथों की शोभा न पहुँची ।

७६—राम के साथ भरत और लक्ष्मण दो भाई रथ पर चढ़े ।

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः ।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ॥७८॥
क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण ।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥७९॥

७८—तब रावण की विनती भंग करके पतिव्रत रखने वाला जानकी के चरनों का वह पूज्यमान युग्म और बड़े भाई की भक्ति में जटा हुआ उस साधू का सीस दोनों मिलकर एक दूसरे को पवित्र करने वाले हुए ।

७९—प्रजा के पीछे हौले हौले चलते हुए पुष्पक पर श्रेष्ठ काकुत्स्थ ने आध कोस जाकर शत्रुघन के सजाये हुए तम्बुओं वाले अजुध्या के बड़े उपवन में डेरा किया ।

निमिराज-सुता सिय के दौउ वे पद,हैं, जिन कंजनि की छबै-छीन्यौं ।
ठुकराय कैं रावन की प्रनै-भीख दृढ़-व्रत कौ जिन-पालन कीन्यौं ।
सुत-कैकई-साधु-जटा-जुत-सीसहू, अग्रज-काज महाव्रत लीन्यौं ।
मिलि एक नैं दूजे कौं,कै-कैंपवित्र,यौं लोक मैं थाप्यौ आदर्स नवीन्यौं ॥७८

मनहरण

आगे प्रभु-जान, पाछें प्रजा-मुद मंद-गति, चलि रही फूल बरसाय-बरसाय कै ।
मन्द करि दीन्हीं है बिमान-गति याही लागि, अवध लखान्यौ कहूँ आधे कोस आयकैं ।
सबन निवास कीन्ह्यौं रम्य-बाटिकानि माहिं राख्यौ रिपुहन जहाँ सिविरि सजाय कैं ।
कौसिलाधिराज कौ सुखद अभिषेक अब, ह्वैं है दिन और महूरत सुभ पाय कैं ॥७९

॥ चतुर्दशः सर्गः ॥

भर्तुः प्रणाशादथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने।
अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ ॥१॥
उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ।
विस्पष्टमस्त्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात ॥२॥
आनन्दजः शोकजमश्रु-बाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद।
गङ्गासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः ॥३॥

चौदहवाँ सर्ग

१—तिस पीछे पति के मरने से सोग की दशा को पहुँची हुई दोनों जननी वहाँ दोनों दशरथ कुमारों ने एक साथ देखीं, मानों आसरा लिए हुए वृक्ष के कट जाने से (कुम्हलाई हुई) दो लता।

२—क्रम से उन दोनों विनती करते हुओं को, बैरियों के मारने वालों को, पराक्रमों से शोभायमानों को, दोनों (माताओं) ने आँसुओं के धुँधले पन के कारण स्पष्ट न देखा, पुत्र स्पर्श के सुख के अनुभव से जाना।

३—आनन्द से उपजे हुए उनके ठंडे आँसू ने दुःख का तत्ता आँसू तोड़ दिया, जैसे हिमालय के झरने ने घाम का तपाया हुआ गंगा सरजू का जल।

चौदहवाँ सर्ग

सार

स्वामि-स्वर्ग-अभिगमन-अनंतर, राम-लखन जब आये।
दोउ-जननिन की सोच्य-दसा इमि, लखि नैननि-जल छाये।
भई और तैं और, न निज-तन नैसुक जात निहार्‌यौ।
जिमि अधार-तरु, दसा लतनि की, काहुँ काटि जेहिं डार्‌यौ ॥१

करत प्रनाम जथा-क्रम मातनि दुवौ सत्रु-संहारी।
जिन रन-अरिन-हराय दिखायौ निज भुजबल अति भारी।
उमगत-दृगनि-बारि की धारा या लगि सकीं न देखी।
पै सुत-परसन-सुख-अनुभव सौं लीन्ह्यौं जानि बिसेखी ॥२

तब आनंद-जनित-अँसुवन कौ उमगि जुगल-चख-वारी।
दीन्ह्यौं रोकि तप्त-दृग-जलकौं जो बहि चल्यौ अगारी।
ज्यौं हिम-नग-तुषार-संजुत-जल, बहत धरा पै आवत।
आतप-तापित-गंग-सरजू के सीतल जलहिं बनावत ॥३

२—क्रम से अर्थात् राम को कौसिल्या ने और लक्ष्मण को सुमित्रा ने।

ते पुत्रयोर्नैऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां स वीरसूशब्दमकामयेताम् ॥४॥
क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती ।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्वन्दे ॥५॥
उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्त्ता शुचिना तवैव ।
कृच्छ्र महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या ॥६॥
अथाभिषेकं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः ।
निर्वर्तयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः ॥७॥

४—पुत्रों के अंग में राक्षस के अस्त्रों के चिन्ह दया से गीलों की नाईं छूते हुए उन्होंने छत्री जाति की स्त्रियों की आकांक्षा की हुई भी वीरसू पदवी न चाही ।

५—"पति को दुख देने वाली मैं कुलच्छनी सीता हूँ" ऐसे अपना नाम लेती हुई बधू ने स्वर्ग वासी सुसर की दोनों रानियों की समान भक्ति से वन्दना की ।

६—"हे बेटी उठ ! भाई सहित यह भर्ता तेरे ही पवित्र आचरण के प्रताप से बड़े दुःख को पार हुआ है ।" ऐसे उस प्यार करने योग्य से उन्होंने प्यारा वचन भी सत्य कहा ।

७—फिर रघुवंश की ध्वजा (रामचन्द्र) का अभिषेक जननियों के आनन्द के आँसुओं से आरम्भ पाया हुआ बूढ़े मन्त्रियों ने तीर्थों से लाये हुए सोने के कलसों के जलों से पूरा किया ।

तव राकस - आयुध-प्रहार-छत अजहुँ अपूरति जानी ।
परसि आंगुरिन सौं हरुएँहीं हियैं अमित दुख मानी ।
जन्म छत्रि-कुल माहिं भयौ अरु बीर भूप सौं ब्याहीं ।
तऊँ मोह-बस बीर-प्रसू-पद जननिन - भायौ नाहीं ॥४
"सीता' नाम हमारौ जैसौ, त्यौं हौं, सबनि - सतायौ ।
मेरे - हितहिं स्वामि-देवर नैं, बन-बसि-दुखनि - उठायौ" ।
यौं कहि, स्वर्गीय-ससुर-देव की, दोउ महिषिनि-सम जानी ।
पूज्यौ सिय, तिन-पगनि-सीस-धरि, भक्ति-भाव-उर-आनी ॥५
"उठु बच्छे, तव-पावन-चरितहि, यहु दिनु हमैं दिखायौ ।
सानुज-तो-पति, बिपति-सिंधु-तरि, सकुसल औधहिं आयौ ।
यौं मातनि कहे बचन सत्य, जो सदा लगत प्रिय नाहीं ।
स्रवन-सुखद पै रहे बैन अरु रह्यौ सत्य तिन माहीं ॥६
दोउ मातनि-आनंद-जनित-दृग-जल, जो हो, बच्छल - धारौ ।
प्रथमहिं सुभ अभिषेक राम कौ, तासौं गयौ सँवारौ ।
बृद्ध अमात्यनि कीन्हौं पूरन, ता - सन समुद सुहायौ ।
हेम-कलस-भरि-पुन्य-सलिल, जो तीर्थन-सौं गयौ लायौ ॥७

४—वीर सू अर्थात् सूरवीर जनने वाली ।

६—सच्चा वचन बहुधा कड़वा होता है ।

सरित्समुद्रान्सरसीश्च गत्वा रक्षाःकपीन्द्रैरुपपादितानि ।
तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः ॥८॥
तपस्विवेषक्रिययापि तावद्यः प्रेक्षणीयः सुतरां बभूव ।
राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा तस्योदिताऽऽसीत्पुनरुक्तदोषा ॥९॥
समौलरक्षोहरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः ।
विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम् ॥१०॥
सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः ।
धृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायसंघात इव प्रवृद्धः ॥११॥

८—नदियों और सागरों और सरोवरों को जाकर राक्षस और वानरेशों के लाए हुए जल उस जयशील के सीस पर गिरे, जैसे बादलों से उत्पन्न होने वाले पानी विन्ध्याचल के (सीस) पर ।

९—जो तब तक तपस्वी के भेस की रचना में भी अति सुन्दर था उसके राजेन्द्र रूप की सजावट से उठी हुई शोभा पुनरुक्तदोषा (अर्थात् दुगुनी) हुई ।

१०—वह सेना का स्वामी तुरहियों की धुनि से पुरवासियों के समूह को आनन्द देता हुआ मंत्रियों और राक्षसों और बन्दरों समेत पुरखों की राजधानी में, भवनों में खीलों की बरसा होती हुई में, ऊँचे तोरनों वाली में, गया ।

११—भाई (शत्रुघन) समेत लक्ष्मण से मन्द मन्द चमर होता हुआ, रथ पर बैठा हुआ, भरत से छत्र होता हुआ, मानो साक्षात् साम इत्यादि (उपायों) का पूरा समुदाय ।

जातुधान - साखामृग-मुखिया मिलिकैं चहुँ दिसि धाये ।
सरित-समुद्र-सरनि सौं वे सब, पुन्य-सलिल भरि लाये ।
अरु जय-सील राम-सिर पै उन बिमल-बारि इमि नायौ ।
जथा - बिन्धि-गिरि-सिखर-नीरधर प्रमुदित जल-बरषायौ ॥८

लगत हुते जो राम मनोहर, बेष - तापसहु - धारी ।
तिनकी कहिय कहा अब सोभा, राजसी - साज-सँवारी ।
भूखन - नवल - जराय - जरे-परिधान पहिरि इमि राजे ।
ह्वै गई दुगुनित तन-सोभा अब निरखि मदन जेहि लाजे ॥९
राकस-बानर-बृद्ध अमात्यनि सँग निज सैन - लिवाई ।
देत अनंद प्रजानन-मन कौं बहु तूरनि बजवाई ।
कियौ प्रवेस - राजधानी में पुरिखन की, रघुराई ।
बरसि रहीं खीलैं भौननिसौं जहँ रहीं धुज फहराई ॥१०

रिपुहन-लखन दोउ ओरन तैं चामर मंद डुलाये ।
त्यौंहीं स्वेत-छत्र-सिर-ऊपर भरत समोद लगाये ।
राजत, रथ पै राम साम-दामादिक - सम छबि छाये ।
कौसल-भूपन की रजधानी अवध माहिं चलि आये ॥११

प्रासादकालागुरुधूमराजिस्तत्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना ।
वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मुक्ता स्वयं वेणिरिवाबभासे ॥१२॥

श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथास्थां रघुवीरपत्नीम् ।
प्रासादबातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽजंलिभिः प्रणेमुः ॥१३॥

स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयं सा बिभ्रती शाश्वतमङ्गरागम् ।
रराज शुद्धेति पुनः स्वपुर्यै संदर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा ॥१४॥

१२—पवन की तोड़ी हुई काला गुरु के धुएँ की रेखा भवनों में शोभायमान दीखी, मानों बन से लौटे हुए रघुवर की आप खोली हुई उस पुरी की वेणी ।

१३—सासुओं की सुन्दर वेश रचाई हुई, कर्णी रथ में बैठी हुई, रघुपति की पत्नी को अजुध्या की नारियों ने भवनों के झरोखों में दीखती हुई अंजुलियों से प्रणाम किया ।

१४—कान्तिमान प्रभामंडल वाला अनुसूया का दिया हुआ सदा रहने वाला अंगराग धारण किए हुए वह शोभायमान दिखलाई दी, मानों "शुद्ध है" यह कह कर अपनी पुरी को पति की दिखलाई हुई फिर अग्नि में विराजमान ।

कढ़त सौधके बातायन - सौं अगर - धूप की रेखा ।
प्रबल बायु कौ बेगपाय पुनि भिन्न होत सबिसेखा ।
प्रोषित पतिका-अवध-प्रिया की राजत जनु सोइ बेनी ।
बनसौं लौटि जाहिं रघुबर नैं दयो खोलि, सुख - दैनी ॥१२

भूषन-बसन-जासु-सासुन-मिलि अंगनि - रुचिर सँवारी ।
करनी-रथ पै लसत जनक-नृप-दुहितहिं तबहिं निहारी ।
बैठीं सुघर - सौध - बातायन अवधपुरी की बामा ।
जोरि जुगुल-कर-संपुट सीतहिं प्रमुदित कीन्ह प्रनामा ॥१३

फैलत ओप-प्रभा - मंडल की जासौं निकरि सुहाई ।
अनुसूया के दये सतत - अँगरागहिं अंग - लगाई ।
सबही बिधि सौं सुद्ध-सियहिं-पुरवासिन-राम दिखावत ।
बैठी अनल माहिं जनु मैथिल-राज-सुता छबि-छावत ॥१४

१२—यहाँ पुरी को पत्नी भाव में रक्खा है जब तक पति परदेश में हो स्त्री वेणी नहीं खोलती ।

१३—कर्णी एक प्रकार का छोटा रथ स्त्रियों के बैठने का होता है ।

१४—प्रभा मंडल अर्थात् चमक का घेरा ।

वेश्मानि रामः परिबर्हवन्ति विश्राण्य सौहार्दनिधिः सुहृद्भ्यः ।
बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ॥१५॥
कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब सत्यान्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद्गुरुर्नः ।
तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भरतस्य मातुः ॥१६॥
तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधाभिः ।
संकल्पमात्रोदितसिद्धयस्ते क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन ॥१७॥
सभाजनायोपगतान्स दिव्यान्मुनीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः ।
शुश्राव तेभ्यः प्रभवादि वृत्तं स्वविक्रमे गौरवमादधानम् ॥१८॥

१५—मित्रता के सागर राम ने मित्रों को सामग्री सहित स्थान देकर चित्रमात्र बचे हुए पिता के पूजाग्रह में आँसू गिराते हुए प्रवेश किया ।

१६—वहाँ हाथ जोड़ कहा, "हे माता हमारा पिता जो स्वर्ग रूपी फल वाले सत्य से न डिगा यह सोचने योग्य तेरा ही सुकृत है" यह कहकर भरत की महतारी की लज्जा हरी ।

१७—और सुग्रीव विभीषण इत्यादि का सत्कार बनाई हुई सामग्रियों से ऐसा किया कि चाही हुई वस्तु तुरन्त मिलने के कारण वे मन में अचम्भे से दब गए ।

१८—सत्कार निमित आए हुए दिव्य मुनियों को उसने आगे बिठाकर मारे हुए बैरी का जन्म पर्यन्त वृतान्त अपने पराक्रम में गौरवता देने वाला, उन से सुना ।

तब सौहार्द - सिंधु - रघुबर नैं, सुग्रीवादि टिकाये ।
सुघर सौध मैं जहँ बिराम के साधन हुते सजाये ।
गये जनक-पूजा-मंदिर मैं तिनकौ चित्र निहारी ।
नैन - नलिनि की बारि-धारसौं ताकी अवनि पखारी ॥१५
"जाही कौ फल पाय बास है मिलत अमरपुर माहीं ।
वा स्रुति-संमत - सत्य - मार्ग सौं हटे जनक जो नाहीं ।
अंब ! तुम्हारौ चिंतनीय सोइ पुन्यहिं वाकौ कारन" ।
कहि कर जोरि भरत माता की लाजहिं कियौ निवारन ॥१६
तब कपिराज-बिभीषन कौ यौं आदर कियौ घनेरौ ।
जैसौ तिन मनहूँ मैं चाह्यौ पायौ सोइ बहुतेरौ ।
मन - चाहीं बस्तुन-सौं जब तिन निज सनमानहिं देख्यौ ।
उपज्यौ तबही तिनके हिय मैं अचरज अमित बिसेख्यौ ॥१७
जे रघुबर - सनमान-करन-हित बहु मुनिबर चलि आये ।
सतकारित कै सबै गये वे, बरासननि बैठाये ।
तिनसौं सुन्यौ चरित वा रिपुकौ रनमैं जाहि गिरायौ ।
यौं निज बल - बिक्रम - गौरव कौ जानि महा सुख पायो ॥१८

१५—दशरथ का चित्र ही रहा था आप स्वर्गवासी हो चुका था ।

१८—जीते हुए बैरी के पराक्रम की बड़ाई से जीतने वाले का पराक्रम बढ़ता है ।

प्रतिप्रयातेषु तपोधनेषु सुखादविज्ञातगतार्धमासान् ।
सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान् रक्षःकपीन्द्रान्विससर्ज रामः ॥१९॥
तच्चान्मचिन्तासुलभं विमानं हृतं सुरारेः सह जीवितेन ।
कैलासनाथोद्वहवाय भूयः पुष्पं दिवः पुष्पकमन्वमँस्त ॥२०॥
पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः ।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम् ॥२१॥
सर्वासु मातृष्वपि वत्सलत्वात्स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत् ।
षडाननापीतपयोधरासु नेता चमूनामिव कृत्तिकासु ॥२२॥

१९—मुनियों के लौट जाने पर राम ने राक्षसों और बन्दरों के स्वामियों को, सुख से आधा महीना बीता न जाने हुओं को, सीता के और अपने हाथ से उत्तम भेंट पाए हुओं को, जाने की आज्ञा दी ।

२०—और अपनी इच्छा से तुरन्त मिलने वाला देवताओं के बैरियों से जीत सहित लिया हुआ वह आकाल के पुष्प सरीखा पुष्पक विमान फिर कुवेर के चढ़ने को भेज दिया ।

२१—पिता की आज्ञा से इस प्रकार बनवास भुगतकर राज्य पर बैठे राम ने जैसे धर्म अर्थ काम में वैसे ही भाईयों में समान व्यवहार वरता ।

२२—सब माताओं में भी वह प्यार के कारण तुल्य सत्कार करने वाला हुआ, जैसे छः मुखों से क्षीर खेंची हुई कृतिकाओं में स्वामिकार्तिक ।

कियौ लपोधन - मुनिन जबै हीं निज आश्रमनि पयान्यौं ।
गयौ बीति षट मास तऊ जिन तिनकौ अंत न जान्यौं ।
दै अपनैं कर भेंट जनक - नृप - सुता जिनहिं सनमानी ।
बिदा कियौ तिन - रिच्छ-कपिन कौं प्रमुदित सारँगपानी ॥१९
सुमिरन करत तुरत मन मैं हीं पल - मारत जो आयौ ।
नासि निसाचर-राज-प्रान कौं जाहि हुत्यौ प्रभु पायौ ।
स्वर्गिक-पुहुप - सरिस पुष्पक कौं हरि हिय मैं हरखाई ।
अलकाधिपति - सवारी के हित दियौ बहुरि पहुँचाई ॥२०
या बिधि पितु - आयसु सौं रघुपति कानन-बास-बिताई ।
बंस - क्रमागत-बहुरि अवध कौ राज-मुदित - मन पाई ।
धर्म - अर्थ अरु काम-सरिस निज-अनुजन कौं प्रभु मान्यौं ।
कियौ मृदुल ब्यवहार सबनिसौं सादर नित-सनमान्यौं ॥२१
कौसल्या, कैकई, सुमित्रा, रहीं मातु प्रभु केरी ।
मानि समान-भाव यौं सब सौं राखी प्रीति घनेरी ।
पियौ दूध जिन षट कृतिकन को षटमुखहूँ मुदमानी ।
उन जननिन, ज्यौं हो सनमान्यौं, सिव-सुत-सुरसेनानी ॥२२

२०—आकाश का फूल अर्थात आकाश की शोभा पुष्पक विमान पहले कुवेर का था रावण ने उससे छीन लिया था सो राम ने फिर कुवेर को दिया ।

तेनार्थवाँल्लोभपराङ्गुखेन तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान् ।
तेनास लोकः पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री ॥२३॥
स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा ।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ॥२४॥
तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु ।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥२५॥
अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण ।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन ॥२६॥

२३—प्रजा उस निर्लोभी से धनवान, विघ्नों का डर मेंटने वाले से क्रियावान, उस नीति पर चलाने वाले से पितावान, उसी दुख हरने वाले से पुत्रवान ।

२४—एक समय प्रजा के कारज देखभाल कर उसने विदेहराज की बेटी के साथ विलास किया, मानो भोग के चाव से उसका सुन्दर भेस की हुई लक्ष्मी के साथ ।

२५—चित्र सालाओं में इच्छा पूर्वक इन्द्रियों का विषय भोगते हुए उन दोनों को दंडक वन से पाए हुए दुख भी स्मरण होकर सुख हुए ।

२६—तब सीता अधिक मनोहर नेत्रों वाले मुख मे शरसमान पीले से, बोले बिना ही गर्भ जताने वाले से, पति को आनन्द की दाता हुई ।

भयौ लोक धनवान, लोभ सौं बिमुख प्रभुहिं इमि पाई ।
कर्मनिष्ठ हूँ भयौ, दियौ जब बाधा - बिघन - नसाई ।
पितावान तब भयौ, जबैही हरि नेता बनि छायौ ।
दीन्ह्यौं सोक हटाय जबैहीं, पुत्रवान कहवायौ ॥
राज-काज देखत यौं रघुपति, सुभ अवसर कौं पाई ।
रमैं बिदेह - राज - तनया सौं समुद-नेह सरसाई ।
उन हूँ संग उपभोग - करन हित इमि अभिलाष बढ़ाई ।
मनहुँ सियाकौ रुचिर भेष धरि राज श्री चलि आई ॥२४
लसत सौध-भीतिन पै बनके मोहक चित्र बनाये ।
रमत,बिदेह-राज - दुहिता संग जहँ इंद्रिन सुख पाये ।
जद्यपि बसि दंडक - कानन मैं उन दुख बहुत उठाये ।
पै तिनकौ पुनि सुमिरि हीय मैं होत अनंद सवाये ॥२५
इन्दीबर-सम बिमल बिलोचन, सरस स - चीकन खासे ।
सर-सम-पियर बतावत, गर्भहिं दोउ, बर-बदन प्रभासे ।
मैथिलराज - सुता अति आनन्द दीन्ह्यौं निज पिय काहीं ।
जद्यपि मन-अभिलाख - राम सौं कबहुँ कह्यौं तिन नाहीं ॥२६

२५—चित्रसालाओं में दंडक वन के स्थानों के चित्र लिखे हुए थे उनके देखने से बन की सुधि आई ।

२६—तात्पर्य यह है कि सीता उस समय गर्भवती थी ।

तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम् ।
विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम् ॥२७॥

सा दष्टनीवारबलीनि हिंस्रैः संबद्धवैखानसकन्यकानि ।
इयेष भूयः कुशवन्ति गन्तुं भागीरथीतीरतपोवनानि ॥२८॥

तस्यै प्रतिश्रुत्य रघुप्रवीरस्तदीप्सितं पार्श्वचरानुयातः ।
आलोकयिष्यन्मुदितामयोध्यां प्रासादमभ्रंलिहमारुरोह ॥२९॥

२७—उस पतले अंग वाली को, रंग पलटे हुए पयोधर वाली को, लज्जावती रामा को, एकान्त में छाती से लगाकर (गर्भ) जाने हुए रमणशील ने मनोरथ पूछा ।

२८—उसने गंगा तीर के दाभ वाले तपोवनों को, दुष्ट पशुओं के धान की बलि खाए हुओं को, बनवासियों की लड़कियों से बहनेला जोड़ने के स्थानों को, फिर जाने की इच्छा की ।

२९—उसके उस मनोरथ को स्वीकार करके रघुवर टहलुए सहित सुवस बसती हुई अजुध्या को देखता हुआ बादल में लगे हुए भवन पर चढ़ गया ।

अति दूबरी प्रियाहिं अंक मैं एक बार प्रभु लैकैं ।
वाके जुग-कुच-अग्र-भाग पै - कछु स्यामता चितै कै ।
पाय इकंत लगाय कंठ सौं महामोद मन मानी ।
पूछ्यौ तासु हियै अभिलाखहिं अति - हित - सारँग पानी ॥२७

फिरि, उन तपोबननि में, जहँ हैं, सह - कुस - गंगा-नेरे ।
तथा दुष्ट पसु खाय रहे हैं नीबारनि-जिन केरे ।
जहँ तापस - तनयानि सौं सीता, गाढ़ौ नेह लगायौ ।
तहाँ जानकौ, प्रिय पीतम सौं निज मनसाहिं बतायौ ॥२८

पूजन के हित प्रिया-मनोरथ रघुकुल-भूषन भाख्यौ ।
देखन-काज मुदित साकेतहिं पुनि मन मैं अभिलाख्यौ ।
लीनैं साथ गुप्तचर कौं हरि, सौध-अटा चढ़ि आये ।
रह्यौ उँचाई माहिं आपु जो नभसौं होड़ लगाये ॥२९

२७—पयोधरों के मुख का रंग पलटा हुआ देखकर राम को प्रतीत हुआ कि सीता गर्भवती है इसलिए उसके मन की चाह पूछी ।

२८—माँस खाने वाले पशु भी तपोवन में न्यार खाते थे । इन तपोवनों में सीता जी ने बनवासियों की लड़कियों से बहनेला जोड़ा था ।

ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानां सरयूं च नौभिः ।
विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे ॥३०॥
स किंवदन्तीं वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः ।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्पं पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः ॥३१॥
निर्बन्धपृष्टः स जगाद सर्वं स्तुवन्ति पौराश्चरितं त्वदीयम् ।
अन्यत्र रक्षोभवनोषितायाः परिग्रहान्मानवदेव देव्याः ॥३२॥
कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण ।
अयोघनेनाय इवभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे ॥३३॥

३०—उसने ऋद्धिमान हाटों वाले राजमार्ग और नाव चलती हुई सरजू और विलासी पुरवासियों के बसे हुए नगर निकट के उपवन देख देख कर मन बहलाया ।

३१—उस बोलने वालों के मुखिया ने, शुद्ध आचार वाले ने, शेषनाग समान जंघा और भुजा वाले ने, बैरियों के जीतने वालों में श्रेष्ठ ने, भद्रनाम दूत से अपने वृतान्त सम्बन्धी लोक चरचा पूछी ।

३२—उस बारम्बार पूछे हुए ने कहा, "हे नरदेव तुम्हारे सब चरितों को नगर के लोग सराहते हैं (परन्तु) राक्षस के घर में रही हुई रानी को ग्रहण करने के बिना ।"

३३—कहते हैं कि पत्नी की निन्दा के इस बड़े अपजस से वैदेही के प्यारे का चोट लगा हुआ हृदय विदीरन हो गया, मानो लोहे के घन से तपा हुआ लोहा ।

सबहिं भाँति धनसौं परिपूरन, राज मार्ग अवरेख्यौ ।
खेवत तहाँ बिपुल तरनिन कौं सरजू सरि पै देख्यौ ।
पुर उपकंठ बहुरि अवलोक्यौ अमित बगीचिन - माहीं ।
करत आय बहु-नगर-निवासी नित बिहार जिन माहीं ॥३०
परमबागमी, सेषनाग - सम - उर-बिसाल भुज - वारे ।
अति बिसुद्ध आचार, झारि जिन अरिगन के मद डारे ।
तहँ एकान्त गुप्तचर भद्रहिं अपने पास बुलाई ।
तासन निज चरित्र सम्बन्धी चरचा राम चलाई ॥३१
पूछ्यौ साग्रह जबहिं गुप्तचर सौं श्रीराम - खरारी ।
तब तेहिं कछु सकुचाय हिये मैं, या विधि गिरा उचारी ।
"नाथ ! सकल-अभिराम-राम, गुन गावत - प्रजा उमाहत ।
पै राकस गृह-निवसि-सिया कौ, ग्रहन न कोऊ सराहत ॥"३२
इमि अपवाद सुन्यौं जाया कौ राम असह दुख मानी ।
जामैं सबै भाँति अपजस अरु सकल सुकीरति - हानी ।
बिदर्‌यौ हियौ सिया के पिय कौ बिषम बिथा इमि पाई ।
मानहुँ तप्त लोह पै घन की गरू चोट परी आई ॥३३

किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामृत संत्यजामि ।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः ॥३४॥
निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति-वाच्यं त्यागेन पत्न्याःपरिमार्ष्टुमैच्छत् ।
अपिस्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानांहि यशो गरीयः ॥३५॥
स संनिपात्यावरजान्हतौजास्तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् ।
कौलीनमात्माश्रयमाचचक्षे तेभ्यः पुनश्चेदमुवाच वाक्यम् ॥३६॥
राजर्षिवंशस्य रविप्रसूतेरुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम् ।
मत्तः सदाचारशुचेः कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य ॥३७॥

३४—"क्या अपने अपजस की कथा सुनी अनसुनी करूँ अथवा निर्दोष पत्नी को त्यागूँ" इस प्रकार एक पक्ष के आश्रय की असमर्थता के कारण वह झूले की नाईं चलायमान चित्त वाला हुआ ।

३५—और अपवाद को दूसरे उपाय से न मिटने वाला निश्चय करके उसको पत्नी के त्याग से मिटाना चाहा, क्योंकि इन्द्रियों के विषय से क्या अपने देह से भी प्यारा यश के धनियों को, यश होता है ।

३६—उस तेज घटे हुए ने भाइयों को, उसका बिगड़ा रूप देखकर हर्ष मिटे हुओं को इकट्ठा करके अपनी निन्दा उनसे कहीं और फिर यह बचन कहा ।

३७—देखो मुझ शुद्ध आचरण वाले से यह कलंक राज ऋषियों के वंश को, सूरज के, कुल को, कैसा लगा मानो मेह की पवन से दर्पण को ।

"सुनत रहौं निज-अपजस-गाथा या बिधि सौं दिनराती ।
अथवा सुद्ध सिया कौं त्यागौं करि पाहन - सी छाती ।"
इमि संकल्प-बिकल्पनि मैं परि राम अधिक घबरानैं ।
झूला-पैंगनि - सम-भई उनकी, इत-उत चित - दौरानैं ॥३४
मिटत न अन्य उपायन सौं हरि निज कलंक निरधार्‌यौ ।
तब जायहिं परित्यागि ताहि प्रभु मेटन हिये बिचार्‌यौ ।
मानत जहाँ जसोधनी जस कौं तनहूँ तैं अधिकाई ।
कहहु भला इन्द्रिय-बिषयन की तहँ कह बात चलाई ॥३५
तब अनुजनि निज निकट बुलायौ तेजहीन - रघुराई ।
दीन्ह्यौं राम-बिकार-निरखि जिन सिगरौ हर्ष बिहाई ।
मैथिलराज-सुता कौं पहलैं, सब अपवाद जतायौ ।
पीछैं तिनहिं निदेस-रूप सौं या बिधि बचन सुनायौ ॥३६
"दिनकर-कुल-संभव राजनि मैं ऐसौ अपजस देखौ ।
सबहिं भाँति आचरन सुद्ध, मो मैं कलंक अवरेखौ ।
लाग्यौ यहु अपवाद हाय बर - बिमल - बंस मैं ऐसौ ।
मैलौ होत स्वच्छ दरपन हूँ मेघ-पवन सौं जैसौ ॥३७

३४—एक पक्ष का आश्रय अर्थात दोनों बातों में एक को स्वीकार करना ।

पौरेषु सोऽहं बहुलीभवन्तमपां तारङ्गेष्विव तैलबिन्दुम् ।
सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकस्थाणुमिव द्विपेन्द्रः ।।३८।।
तस्यापनोदाय फलवृत्तावुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः ।
त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां षुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव ।।३९।।
आवैमि चैनामनघेति किंतु लोकापवादो बलवान्मतो मे ।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ।।४०।।
रक्षोवधान्तो न च मे प्रयासो व्यर्थः सवैरप्रतिमोचनाय ।
अमर्षणःशोणितकाङ्क्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ।।४१।।

३८—सो पुरवासियो में पानी की लहरों में तेल की नाईं फैले हुए इस प्रथम अपवाद के सहने को मैं समर्थ नहीं हूँ, जैसे बँधने के खम्भ को हाथी ।

३९—इसके मिटाने के लिये मैं फल की उत्पत्ति के निकट पहुँची हुई में भी निसपृही होकर जनक सुता को त्यागूँगा, जैसे आगे पिता की आज्ञा से पृथ्वी (त्यागी) ।

४०—" और यह निर्दोष है " ऐसा मैं जानता हूँ परन्तु मेरे मन में लोकापवाद प्रबल है, पृथ्वी की छाया ही को प्रजा ने निर्मल चन्द्रमा का कलंक ठैराया है ।

४१—और राक्षस बध पर्यन्त मेरा परिश्रम व्यर्थ न था, वह बैर लेने के लिये था, क्या पैर से छूने वाले को कोपित साँप लोहू की आकांक्षा से डसता है ।

बाढ़त तैल-बिन्दु ज्यौं परिकैं बारि तरंगनि माहीं ।
तैसेहिं यह अपबाद फैलि रह्यौ, पुरबासीन - अथाहीं ।
काहू भाँति बंधुऔ ! अब तौ सहि न सकत एहि-काहीं ।
बिकट बंध-खंभहिं बर-बारन जा विधि चाहत नाहीं ।।३८
ताहि हटावन - काज गयौ रहि एकहि मात्र उपाई ।
जेहि-कठोर-गर्भा कौ आयौ प्रसव समै नियराई ।
दैहौं तेहि बिदेह - तनयै यौं मनहूँ सौं बिसराई ।
जैसैं पाय जनक - अनुसासन दयौ हो राज - बिहाई ।।३९
जानत हौं जानकिहिं पाप कौ लग्यौ लेसहू नाहीं ।
तौहूँ मो-मत सौं, बहुबल है जन-अपवादन माहीं ।
जदपि अबनि की छाया ससि मैं परत लोग सब मानत ।
तऊ सर्ब साधारन वाकौं निपट कलंक बखानत ।।४०
रह्यौ बैर परसोधन के हित सकल प्रयास हमारौ ।
राकस-निधन बन्यौं जो साधन ताहि न ब्यर्थ बिचारौ ।
छुवत पाँव - सौं जो कोउ - कबहूँ, क्रुद्ध - भुजंगम काहीं ।
ताकहँ डसत तुरन्तहिं जद्यपि रुधिर - पान - रुचि नाहीं ।।४१

३९—फल की उत्पत्ति के निकट पहुँची हुई अर्थात् गर्भवती ।

तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः ।
यद्यर्थिता निर्वृतवाच्यशल्यात्प्राणन्मया धारयितुं चिरं वः ॥४२॥
इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशमीशम् ।
न कश्चन भ्रातृषु तेषु शक्तो निषेद्धुमासीदनुमोदि वातुं ॥४३॥
स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकत्रयगीतकीर्तिः ।
सौम्येति चाभाष्य यथार्थभाषी स्थितं निदेशे पृथगादिदेश ॥४४॥
प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव ।
स त्वं रथीत द्व्यपदेशनेयां प्रापय्य बाल्मीकिपदं त्यजैनाम् ॥४५॥

४२—इसलिए जो अपवाद के बाण से छिदे हुए प्राणों को मुझ से कुछ दिन रखाया चाहते हो तो मेरा यह निश्चय तुम करुणा चितवालों के बरजने योग्य नहीं है ।

४३—ऐसे कहते हुए स्वामी को, जानकी में अत्यन्त कठोरता ठाने हुए को, बरजने अथवा प्रवृत करने के लिए उन भाईयों में कोई समर्थ न हुआ ।

४४—उस तीन लोक में गाई हुई कीर्ति वाले ने, लक्ष्मण के बड़े भाई ने, यथार्थ वक्ता ने, आज्ञाकारी लक्ष्मण को देखकर और हे सौम्य ऐसा कह कर एकान्त में आज्ञा दी ।

४५—तेरी गर्भवती भावज निश्चय तपोवनों में चाह रखती है सो उस मिस से इस ले जाने योग्य को तू रथ में लेकर बाल्मीक के आश्रम में छोड़ आ ।

यातैं दया - द्रवित - हिय करकैं मेरे निहचै काहीं ।
अब तनिकौ बिरोध काहू बिधि भूलि कीजियै नाहीं ।
जो चाहत तुम सब मैं मिलिकैं कछू दिन और गुजारौं ।
काढ़ि बिद्ध-अपबाद - बिसिख कौं निज प्राननि कौं धारौं ॥"४२

तीनिहुँ भाइन तबहिं रामकौ रूखौ रुख पहिचानौं ।
जनक - सुता - सीता-प्रति - स्वामी कौ निठुराई ठानौं ।
कियौ समर्थन नाहिं काहु नैं राम - बिचारन काहीं ।
पै तिनकौ प्रतिबाद करन कौ साहस हू कियौ नाहीं ॥४३
तीनिहुँ लोकन मैं प्रसिद्ध अति - धवल - सुजस जिन केरौ ।
सतत - सत्य - भाषी - सीतापति तबहिं अनुज तन हेरौ ।
लखनहिं 'अमित सौम्यदर्सन' ! कहि निकट एकंत बुलायौ ।
अतिसै निठुर-निदेस आपनौ या बिधि तिनहिं सुनायौ ॥४४

"गर्भवती यह राउर - भाभी अति उछाह हिय राखति ।
तप-निधान-दरसन-हित कानन जान अमित अभिलाखति ।
तातैं सियहिं सुखद स्यंदन पै लछिमन आपु चढ़ाई ।
बाल्मीक आस्रम के नियरैं देहु त्यागि येहिं जाई" ॥४५

स शुश्रुवान्मातरि भार्गवेण पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत् ।
प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तदाज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ॥४६॥

अथानुकूलश्रवणप्रतीतामत्रस्नुभिर्युक्तधुरं तुरंगैः ।
रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे ॥४७॥

सा नीयमाना रुचिरान्प्रदेशान्प्रियंकरो मे प्रिय इत्यनन्दत् ।
नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम् ॥४८॥

जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्सव्येतरेण स्फुरता तदक्ष्णा ।
आख्यातमस्यै गुरु भावि दुःखमत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन ॥४९॥

४६—पिता की आज्ञा से माता को बैरी की नाईं परसराम का मारना सुने हुए उस (लक्ष्मण) ने जेठे भाई की वह आज्ञा अंगीकार की, क्योंकि बड़ों की आज्ञा सोच विचार के योग्य नहीं होती है ।

४७—तब मन चाही बात सुनने से सन्तुष्ट जानकी को बिना भड़कने वाले घोड़े जुते हुए रथ पर, सुमन्त के रास पकड़े हुए पर, चढ़ाकर (लक्ष्मण) सिधारा ।

४८—मनोहर स्थानों में पहुँचाई हुई सीता ने "मेरा पति मेरा मनोरथ पूरा करने वाला है" इस प्रकार आनन्द माना उसको अपने में कल्पवृक्ष पन छोड़कर असि पत्रपन लिया हुआ न जाना ।

४९—जिस होनहार भारी दुःख को मार्ग में उससे लक्ष्मण ने छुपाया सो उसको फड़कती हुई दाहनी आँख ने, बहुत काल के लिए प्यारे का दर्शन खोई हुई, ने जता दिया ।

पहिलैं सुनी - हुती तिन अकरुन-भृगुबर-करनी सारी ।
मानि जनक-आदेस सत्रुसम जिन निज - जननि सँघारी ।
यौं गुनि जेठ-बंधु-अनुसासन तिन सिर पै धरि लीन्ह्यौं ।
अपनैं बड़ेन निदेसन पै कछु जात बिचार न कीन्ह्यौं ॥"४६

निज अनुकूल बचन - रचना सुनि, बाढ़ी प्रीति सवाई ।
मैथिल - राज - सुताहिं लखन नैं स्यंदन - साजि चढ़ाई ।
भरकत जासु बाजि नहिं नैंकहुँ रासि सुमंत उठाये ।
मंदहिं - मंद चलत मुनिबर की परनसाल ढिग आये ॥४७

या बिधि कानन-रुचिर-प्रदेसनि-निरखत सिय हरखानी ।
भयौ नाह - अनुकूल याहि लगि, धन्य भाग निज मानी ।
पै यह बात सपनहूँ मैं अति भोरी जानि न पाई ।
सुरतरु - मृदुता त्यागि गही पति, असि-तरु-पात-तिखाई ॥४८

सुख-दुख-साथी जदपि लखन तिन्हैं रथ चढ़ाय बन लाये ।
निठुर-बंधु के काज-कलापनि रंच न उनहिं जनाये ।
तदपि सीय कौं, फरिक दाहिनैं, नयन - कंज - दुखदाई ।
'ह्वैहै नाह दरस अति दुर्लभ मानहुँ दियौ जनाई ॥४९

४७—गर्भवती की चाह पूरी करने से पुन्न होता है इस मिस से सीता को बन में छोड़ना उचित है ।

४८—असिपत्र नाम एक वृक्ष का है जिसके पत्ते खड़ग के आकार के होते हैं ।

सा दुर्निमित्तोपगताद्विषादात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा ।
राज्ञः शिवं सावरजस्य भूयादित्याशशंसे करणैरबाह्यैः ।।५०।।
गुरोर्नियोगाद्वनितां वनान्ते साध्वीं सुमित्रातनयो विहास्यन् ।
अवार्य तेवोत्थितवीचिहस्तैर्जह्नोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात् ।।५१।।
रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहात्तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य ।
गङ्गा निषादाहृतनौविशेषस्ततार संधामिव सत्यसंधः ।।५२।।
अथ व्यवस्थापितवाक्कथंचित्सौमित्रिरन्तर्गतवाष्पकण्ठः ।
औत्पातिको मेघ इवाश्मवर्षं महीपतेः शासनमुज्जगार ।।५३।।

५०—बुरे शगुन के सोच से उस तुरन्त कुम्हलाए हुए मुखारबिन्द वाली ने "भाईयों सहित राजा की कुशल हो" ऐसे अन्तः कर्ण से असीस दी ।

५१—बड़े की आज्ञा से सुशीला स्त्री को बन के बीच में छोड़ते हुए लक्ष्मण आगे बहती हुई गंगा ने मानों तरंग रूपी बाँह उठाकर निषेध किया ।

५२—सारथी के रोके हुए घोड़ों वाले रथ से उस भावज को तट पर उतार कर केवट की लाई हुई नाव से वह सच्ची प्रतिज्ञा वाला गंगा को उतर गया, जैसे अपनी प्रतिज्ञा को ।

५३—फिर जैसे तैसे वाणी सँभाल कर आँसुओं से कंठ भरे हुए लक्ष्मण ने राजा का आदेश उगला, मानो बादल ने उत्पात की पाषान वर्षा ।

फरकत बाम-बिलोचन या लगि, हिय-असगुन-गुनि वाकौं ।
हिय - हित-नव - अरबिंद-सरिस भो बदन मलीन सिया कौ ।
मन-ही-मन बहु बार मनायौ—'मेरे देवर-स्वामी ।
सकुसल रहैं, प्रसन्न सदा हीं, हरि ! अंतरजामी !!'५०
दारुन - निठुर - निदेस बंधु कौ सिर-धरि निज-हिय-दागी ।
बन-पहुँचाय सती भाभी कौं, चलन-चहत हे त्यागी ।
बहति गंग की धार सामुहैं बीचिन - बाहु उठाई ।
"छाँड़िय जनि निरीह-अबला कौं जनु यह कह्यौ तहाँई ।।"५१
रौक्यौ रासि-खैंचि बाजिन कौं बिमल पुलनि पै आई ।
लियौ उतारि पानि-गहि भाभिहिं स्यंदन कौं ठहराई ।
तहँ केवट तरनी लै आयौ तापै चढ़ि सकुचाई ।
सत्य - संध - प्रण - सरिस - गंगकौ कियौ पार तेहि ठाँई ।।५२
गद-गद-कंठ रोकि निज आँसुनि, बानिहिं लखन सँभारी ।
जब-रघुनाथ-निदेस-सिया सौं ज्यौं-त्यौं कह्यौ उचारी ।
ताखन ऐसौ लगौ सुमित्रा - सुत - कहनौं - दुख - पागौ ।
मनहुँ महा - उतपाती - जलधर उपल - गिरावन लागौ ।।५३

५१—मानो गंगा ने लक्ष्मण को कहा कि तू सीता को बन में छोड़ता है यह अनुचित है ।

ततोऽभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना ।
स्वमूर्तिलासप्रकृतिं धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम ।।५४।।
इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदकस्मात्पतिरार्यवृत्तः ।
इति क्षितिः संशयितेव तस्यै ददौ प्रवेशं जननी न तावत् ।।५५।।
सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दुःखं प्रत्यागतासुः समतप्यतान्तः ।
तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धो मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः ।।५६।।
न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि ।
आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं पुनःपुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द ।।५७।।

५४—तब तिरस्कार रूपी लू की मारी गिरते हुए गहने रूपी फूलों वाली लता की नाईं सीता अपनी जननी भूमि पर तुरन्त गिरी ।

५५—इक्ष्वाकुवंशी शुद्ध आरचनी पति ने तुझे अकस्मात क्यों छोड़ा, मानो इस प्रकार शंका करती हुई धरती माता ने उसे उसी समय प्रवेश न दिया (अर्थात धरती ने समाने को ठौर न दिया) ।

५६—मूर्छित रहते हुए उसने दुःख न जाना फिर चैतन्य होकर अन्तःकरण में जली, सुमित्रा सुत के उपाय से पाई हुई चेतना उसको मूर्छा से अधिक दुःख दाई हुई ।

५७—और बिना अपराध भी न्यारी करने के इच्छावान पति को सुशीला ने कुबचन न कहा, बारम्बार सदा के दुखिया अपने दुष्कृती आपे की निन्दा की ।

तब अपमान - प्रचंड - लूक नैं दियौ जाहिं झुरसाई ।
अरु आभरन - प्रसूननि जाके दीन्ह्यौं सबनि गिराई ।
सीता-लता सहमि सहसा इमि परी पछारहिं खाई ।
आदि - जनम - कारन - जिमि-अवनी - अंक गिरी मुरझाई ।।५४
जब इच्छ्वाकु-कुल-कुमुद-कलाधर, ठौर दियौ तोहिं नाहीं ।
कारन कछुक रहस्य - भर्यौ है तो परित्यागनि-माहीं ।
या बिधि मनहुँ बिचार अवनि-मा निज मन मैं करि लीन्ह्यौ ।
याही लगि निबास तेहिं सीतहिं अपनैं अंक न दीन्ह्यौं ।।५५
मूर्छित भई बिदेह-नन्दिनी यातैं दुःख न जान्यौं ।
ह्वै सचेत पुनि बिरह-बिथा की तापैं सौगुनी मान्यौं ।
जद्यपि करि अनेक - उपचारन लखन - मूरछा - टारी ।
भई चेतना, पै मूर्छा तैं ताहि महा दुखकारी ।।५६
जद्यपि निहकलंक सीता हीं, तौ हूँ जिन कौं त्याग्यौ ।
उन, स्वामी-पद-कमलनि, जिन कौ, मन-पूरब-वत लाग्यौ ।
कह्यौ तिनहिं दुरबचन न एकौ, अमित धीर - हिय-धार्यौ ।
सतत-दुःख - भाजन - निज-भागहिं, बारहिंबार धिकार्यौ ।।५७

आश्वास्य रामावरजःसतीं तामाख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः ।
निघ्नस्य मे भर्तृनिदेशरौक्ष्यं देविक्षमस्वेति बभूव नम्रः ॥५८॥
सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव ।
बिडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्रात्रा यदित्थं परवानसि त्वम् ॥५९॥
श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण विज्ञापय प्रापितमत्प्रणामः ।
प्रजानिषेकं मयि वर्तमानं सूनोरनुध्यायत चेतसेति ॥६०॥
वाच्यस्त्वया भद्रचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यप्समक्षम् ।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥६१॥

५८—राम के छोटे भाई ने उस सती को ढाँढस देकर बाल्मीकि के आश्रम का मार्ग बताते हुए "हे देवी स्वामी की आज्ञा से किया हुआ मुझ पराधीन का कठोरपन क्षमा करना" ऐसे कहकर सीस नवाया ।

५९—सीता ने उसे उठाकर बचन कहा "हे सौम्य मैं तुझ से प्रसन्न हूँ तू चिरंजीव रह" क्योंकि जैसे विष्णु इन्द्र का ऐसे तू जेठे भाई का आधीन है ।

६०—सब सासुओं को क्रम से मेरा प्रणाम पहुँचाकर तुम्हारे पुत्र का गर्भ मुझ में वर्तमान है इसकी कुशल हृदय से मनाओ यह कहना ।

६१—उस राजा से मेरा कहा हुआ कहना कि आँख के सामने भी मुझ अग्नि में शुद्ध हुई को लोक अपवाद सुनकर त्यागा, क्या यह प्रसिद्ध कुल के योग्य है ।

राम-अनुज तब सती-सीय कौं बहुत बिधि धीर बधायौ ।
तथा आदि - कबि के आश्रम कौ मारग तिनहिं दिखायौ ।
"हौं हूँ पराधीन, प्रभु - आयसु - पालि करी निठुराई ।
या लगि क्षमा करिय" कहि दीन्ह्यौं अपनौं सीस नवाई ॥५८
निमि - कुल-केतु-सुता-सीता, तब लखनहिं लियौ उठाई ।
"हौं प्रसन्न तुम सौं चिरजीवहु, मानी बंधु - रजाई ।
जिमि सनमानि सक्र-अनुसासन, हरि - सुर-काज - सँभारी ।
बैसेहि जेठ - बंधु कौ आयसु तुम लीन्ह्यौ सिर - धारी ॥५९
कहियौ मम - प्रनाम सासुन - सौं तात जथाक्रम जाई ।
अरु इतनौ संदेस हमारौं दीजौ तिनहिं सुनाई ।
"राखति गर्भ माहिं तुव-सुतकौ-कुल - अंकुर जिय - जानी ।
याकी कुसल मनावति रहियौ राज - मातु, हित - मानी" ॥६०
उन भूपति सौं जाय तात इमि कहियौ संदसौ मेरौ ।
'त्यागौ अनल-परीच्छा लै मोहिं अनुचित-उचित न हेर्‌यौ ।
सुनि झूठे लोकापवाद कौं तजी आपनी जाया ।
सास्त्र - बिदित जग-बिदित - भानु-कुल-जोग यहै रघुराया ॥६१

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ॥६२॥
उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः ।
तदास्पदं प्राप्य तयातिरीषात्सोढास्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥६३॥
निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् ।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥६४॥
किंवा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन् ।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥६५॥

६२—और मुझ में तुम अच्छी बुद्धि वाले का यह (त्याग) मन से होना शंका के योग्य नहीं है, मेरे ही जन्मान्तर के पापों के फल का प्रबल उदय है ।

६३—पाई हुई लक्ष्मी को त्याग कर आगे तुम मेरे साथ बन में रहे थे इसलिये तुम्हारे घर में मुझ प्रतिष्ठा सहित बसती हुई को वह अति क्रोध के कारण न सह सकी ।

६४—निशाचरों के सताए हुए पतियों वाली तपस्विनियों को तुम्हारे प्रताप से शरण की दाता होकर (अब) मैं तुम्हारे होते हुए और के शरण कैसे जाऊँगी ।

६५—अथवा इस तुच्छ जीतव में, तुम्हारे वियोग के कारण निकम्मे में, निस्सन्देह चाह छोड़ देती कदाचित कुक्षा में रक्खा हुआ रक्षा के योग्य तुम्हारा गर्भ मुझ को बिघ्न न होता ।

या, राउर - कल्यान-बुद्धि नै, या बिधि त्याग हमारौ ।
कीन्ह्यौ निज - इच्छानुकूल, तौ सकहु कौन अधारौ ।
उदय भये हैं पूर्व जन्म के अब मम - पाप - पहारा ।
ऐसे समय तज्यौ याही - लगि कोसल - नाथ उदारा ॥६२
पहिलै अवध पुरी की राउर-राजश्रियहिं तजि दीन्ह्यौं ।
महा-मोद-मन-मानि संग - मम कानन कौ मग लीन्ह्यौं ।
रहत भानसौं राज - भवन मैं, वा नैं मोहिं निहारौ ।
सहि न सकी उत्कर्ष हमारौ, तेहिं अति रोषहिं धारौ ॥६३
मुनि पतनिन, जिनके स्वामिन कौं अति राकसनि-सतायौ ।
नाथ - कृपा-हौं अभय-दान दै, जिनकौ कबहुँ बसायौ ।
तुम्हरे अछत नाथ ! अब कैसैं औरन जाय जुहरिहौं ।
अरु सरनागत बनि, बिनीत ह्वै अपनैं हाथ पसरिहौं ॥६४
दारुन-बिषम-बियोग आपुकौ या बिधि सौं पुनि पाई ।
देती बिफल-तुच्छ प्राननि कौं निहचै नाथ ! बिहाई ।
करि निवास यहु तेज रावरौ - उदर - दरीची माहीं ।
अंतराय, जौ स्वर्ग - जान मैं, या बिधि पारत नाहीं ॥६५

६५—जीतव में चाह छोड़ना अर्थात् मरने से न डरना ।

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥६६॥
नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।
निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ॥६७॥
तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते ।
सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः ॥६८॥
नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः ।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदित वनेऽपि ॥६९॥

६६—सो मैं बालक जनने से पीछे सूरज में दीठि लगाकर ऐसा तप करूँगी जिससे फिर जन्मान्तर में भी तुम ही मेरे भरता हो और वियोग न हो ।

६७—बर्णाश्रमों की जो रक्षा है सोई मनु ने राजा का धर्म कहा है । इसलिये तुम्हारी इस भाँति निकाली हुई भी मैं तपस्विनी की नाईं देखने योग्य हूँ ।

६८—"ऐसा ही होगा" इस भाँति उसकी बात ग्रहण करके दृष्टि से बाहर लक्ष्मण के जाने पर वह अति दुख से कंठ खोल कर डरी हुई कुररी (कुँज) की नाईं बहुत रोई ।

६९—मोरों ने नाच छोड़ा, वृक्षों ने फूल, हरिणियों ने मुँह में ली हुई घास, उसके समान दुखी पन को पहुँचे हुए बन में भी अत्यन्त रोना पड़ा ।

दोहद - दुख - बिसराय, और हौं, तव-संतति-जनमाई ।
करि हौं पुनि ऐसौ कठोर तप, रवि - दिसि-दीठि-लगाई ।
जातैं पुनर्जनम एहि जग मैं, जहाँ कहूँ हौं पाऊँ ।
तुम पति होउ, बियोग न हो पै, सदा कमल-पद ध्याऊँ ॥६६
बरना श्रम - परिपालन कौ क्रम जो नृप-धर्म कहायौ ।
सकल सुकृत कौ मूल जाहि पुनि मनु - महराज बतायौ ।
या लगि ऐसेहु समय माहिं तुम जदपि दियौ मोहिं त्यागी ।
तऊँ सामान्य - तापसी मोकौं, जानत रहियै सभागी ॥६६
"ऐसौ ही ह्वै है" कहि, सिय-बच, हिय-धरि लखन सिधारे ।
आँखिन-ओट होत ही उन के, लहि उसाँस कह्यौ 'हा ! रे ! ।
औ' पुनि दुसह - बियोग-भारसौं सुसकि - सुसकि सौभागीं ।
ह्वै भयभीत तहाँ कुररी - लौं सीता रोवन - लागीं ॥६८
निरखि सिया-संताप कलापिन दीन्ह्यौं नृत्य बिहाई ।
सम-दुख मानि बिटप-बेलिन हूँ दीन्हैं सुमन गिराई ।
निज - मुख-लियैं दर्भ-अँकुरनि कौं त्यागि मृगिनहूँ दीन्ह्यौ ।
मानहुँ रुदन देखि जानकि कौं बनहुँ रुदन बहु कीन्ह्यौ ॥६९

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः ।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥७०॥

तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद्विरता ववन्दे ।
तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच ॥७१॥

जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा ।
तन्मा व्यथिष्ठा विषयान्तरस्थं प्राप्तासि वैदेहि पितुर्निकेतम् ॥७२॥

उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि ।
त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे ॥७३॥

७०—कुशा और ईंधन लाने के लिये गया हुआ रोने की ओर चलता हुआ कवि (बाल्मीकि) उसके पास जा निकला, जिसका शोक बहेलिये का वेधा हुआ पक्षी देखने से उत्पन होकर श्लोकता को पहुँचा था ।

७१—आँखों का रोकने वाला आँसू पोंछ कर विलाप त्यागी हुई सीता ने उसकी वन्दना की, गर्भ के चिन्ह जानने वाले मुनि ने उसको, "सपूती हो" यह असीस देकर कहा ।

७२—मैंने ध्यान करके जान लिया तू मिथ्या अपवाद से कोपे हुए पति की त्यागी है, हे वैदेही तू पिता ही के दूर बने हुए घर में आई है इसलिये सोच मत कर ।

७३—तीन लोक के कंटक मिटाने वाले पर भी, सत्य प्रतिज्ञाई पर भी, अपनी बड़ाई न करने वाले पर भी, बिना बात तेरे साथ अनर्थ करने वाले राम पर भी मेरा क्रोध ही है ।

सुनत क्रौंच कौ रुदन, बान सौं मार्‌यौ जाहि निषादा ।
छन्द - रूप मैं प्रगट भयो हो, जिन को करुन बिषादा ।
जो समिधा - कुस - लैबे के हित, पहिलेहिं बनहिं सिधाये ।
सुनि दारुन - बिलाप वे मुनिबर, जहँ सिय हीं तहँ आये ॥७०
पोंछि नयन की बारिधार कौं, समुहैं मुनिहिं बिलोकी ।
अरु निज करुन - बिलाप-कलापहिं, सीता ताखन रोकी ।
दोऊ कर-संपुट जोरि आदि - कबि-पद-प्रनाम तेहिं कीन्ह्यौं ।
"देहु जनम बर-बीर-सुतन कौं" उन आसिष इमि दीन्ह्यौं ॥७१
"सुनि मिथ्या - अपवाद रामनैं तुमहिं त्यागि जो दीन्ह्यौं ।
सो निज दिब्यदृष्टि सौं सीते ! जानि सबै मैं लीन्ह्यौं ।
अब निज हिय सौं बिषम-बिषादहिं देबौ सुता बिहाई ।
अरु इमि लेबौ जानि पिता के दूजे घर हौं आई ॥७२
"तिहूँ लोक-रावन-कंटक कौं, जिन दियौ जदपि उपारी ।
चाहत निज सराहना जो नहिं सत्य - प्रतिज्ञ - खरारी ।
पै यहि भाँति अकारन सहसा लखि निरबासन तेरौ ।
तऊँ अब क्रोध-अनल भरकै लग्यौ उन रघुपति प्रति मेरौ ॥७३

७०—वाल्मीकि का आदि श्लोक यह है "मानिषाद प्रतिष्ठा त्वम् अगमः शाश्वतीः समाः यत् क्रोजचमिथुनादेकम् अवधीः काममोहितम् ।

तवोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते ।
धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तन्न येनासि समानुकम्प्या ॥७४॥
तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन् ।
इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते ॥७५॥
अशून्यतीरां मुनिसंनिवेशैस्तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्य ।
तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः संपत्स्यते ते मनसः प्रसादः ॥७६॥
पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकृष्टरोहि ।
विनोद यिष्यन्ति नवाभिषङ्गामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम् ॥७७॥

७४—तेरा बड़ा कीर्तिमान ससुर मेरा मित्र था, तेरा पिता पंडितों की आवागमन मिटाने वाला है, तू पतिव्रताओं में मुख्य है, फिर जिससे तू मेरी दया के योग्य न हो सो क्या है।

७५—तपस्वियों के सतसंग से सुशीलता सीखे हुए जीवों वाले इस तपोवन में तू निधड़क रह यहाँ तुझ सुख पूर्वक जनने वाली की सन्तान के जातकर्म होंगे।

७६—तपस्वियों की कुटियों से घिरे हुए तीर वाली में, पापों (अथवा शोकों) की हरने वाली तमसा में, स्नान करने उसके तटों पर इष्ट देवता का पूजन करने से तेरे मन को प्रसन्नता होगी।

७७—ऋतु के फूल फल और बिना बोए उपजे हुए पूजा के अन्न लाती हुई अच्छा बोलने वाली मुनि कन्या तुझ नए दुःख वाली को आनन्द देंगी।

कीर्तिमान तव - ससुर - अवधपति हे प्रिय-सखा हमारे।
त्यौं तुव-जनक, जनक-संतन - भव - दुःख हैं काटन हारे।
पतिब्रता - बनितनि मैं सीते ! प्रथमहिं रेख तुम्हारी।
कृपापात्र तुम यातैं जानकि क्यौं नहिं होहु हमारी ॥७४
रहि तपसिन के संग बिनय जहाँ सीखैं बन-पसु सारे।
निबसहु तेहि कानन महँ हियतैं सब भय-भाय बिसारे।
सुखसौं इतहिं जनहु सुभ-संतति अभिनव - गुन-गन पाँती।
तिनके संसकार स्रुति - संमत हौं करिहौं सब भाँती ॥७५
जहँ मुनिजन सुख मानि मुदित मन परनकुटीरनि छाई।
करैं निवास, वाहि तमसा-ढिग, जेहि दियै दुरित नसाई।
पुनि अन्हाय सरि पुन्य - सलिल मैं इष्टदेव - अवराधी।
ह्वै हौ अवसि प्रसन्न सीय तुम दूरि होयगी ब्याधी ॥७६
रितु - गुन-जानि अमित फल फूलनि मुनि-तनाया तहँ लाई।
अन उपजायौ अन्न लाइकैं अरु मृदु - बचन सुनाई।
नव दारुन - अपमान - जनित - दुख तुम्हरे हियतैं टारी।
रहिहैं बनी बिनीत भाव सौं सखि तापसी - कुमारीं ॥७७

पयोघटैराश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः ।
असंशयं प्राक्तनयोपपत्तेः स्तनंधयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥७८॥
अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां वाल्मीकिरादाय दयार्द्रचेताः ।
सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय ॥७९॥
तामर्पयामास च शोकदीनां तदागमप्रीतिषु तापसीषु ।
निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु ॥८०॥
ता इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः ॥८१॥

७८—अपने बल के अनुसार पानी के घड़ों से आश्रम के पौधों को सींचती हुई तू निश्चय सन्तान की प्राप्ति से पहले ही अंचल पीने वाले का हेज जानेगी ।

७९—उस अनुग्रह सराहती हुई को दयावान वाल्मीकि ने ले जाकर साँझ समय अपने आश्रम में बैठे हुए हरिणों से घिरी हुई वेदी वाले में, शान्त पशुओं वाले में पहुँचाया ।

८०—और उसके आने से प्रसन्न तपस्विनियों में वह शोक की सताई हुई सोंपी, जैसे अमावस ने पितृयों की सार खेंची हुई पिछली चन्द्रकला औषधियों में ।

८१—उन्होंने हिंगोट के तेल से उजाली हुई, भीतर पवित्र मृगचर्म बिछी हुई कुटी, उसको रहने के लिये दिन के अन्त पर सन्ध्या पूजन से पीछे दी ।

अरु निज - बल-अनुरूप कुंभमैं सरित-सलिल भरि लाई ।
आश्रम के लघु बिरबनि दै जल अनुदिन-सींचि बढ़ाई ।
पुत्र - प्रसव सौं पहिलेहिं या बिधि करि तिनकी रखवारी ।
सिसुन-दूध-प्यावन कौ सब सुख पैहौ जनक-दुलारी ॥७८
सुनि मुनि-बचन, अहेतु - कृपा कौं, सिय-सराहि स्वीकारौ ।
तेहि आश्रम लै गये उनहिं मुनि, जो हो सत-गुन-ढारौ ।
सन्ध्या-समय, बेदि - ढिग - बैठी, जहँ मृग-सावक-राजी ।
जहाँ तपोबन की गुन-गरिमा - महिमा अनुपम छाजी ॥७९
सुनि सुख-दैन आगमन उनकौ, तपस्विनीं हरषानीं ।
सौंप्यौ तिनहिं सोक-दूबरि-सियैं, सादर इमि मुनि ग्यानीं ।
पितर-गृहीत - सार, ज्यौं ससि की अन्त्य-कला कौं लाई ।
देति, अमावस आपु औषधिन, अति मन - मोद बढ़ाई ॥८०
गये अस्तगिरि कौं बासर-मनि जब संध्या नियराई ।
जहँ इंगुदी तेल सौं भरिहो दीपक दियौ जराई ।
अरु कुरंग कौ चर्म लाइ हो दीन्ह्यौ अवनि बिछाई ।
तहाँ तापसिनि तब सीतहिं यौं दीन्हीं, कुटी - सजाई ॥८१

७८—अंचल पीने वाला अर्थात् पुत्र ।

तत्राभिषेकप्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनातिथिभ्यः ।
वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासंततये बभार ॥८२॥
अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ।
शशंस सीतापरिदेवनान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय ॥८३॥
बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥८४॥
निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः ।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥८५॥

८२—वहाँ स्नान के नियम से उस बसती हुई ने, छाल के वस्त्र ओढ़ती हुई ने, शास्त्र अनुसार अतिथों का सत्कार करती हुई ने, पति का वंश रखने के लिये कन्दमूलों से शरीर पाला ।

८३—"स्वामी अब भी पछताता है कि नहीं" यह जानने की इच्छा करके इन्द्रजीत के मारने वाले ने भी उसकी आज्ञा पूरी करने का वृत्तान्त सीता के विलाप तक बड़े भाई से कहा ।

८४—राम तुरन्त आँसुओं सहित हुआ मानो ओस बरसाने वाला पूस का चन्द्रमा, (क्योंकि) उस अपवाद से डरे हुए ने जानकी घर से निकाली थी मन से नहीं ।

८५—शोक को आप ही रोक कर उस धीमान ने, वर्ण आश्रम की चौकसी में जागते हुए ने, रजो गुन रहित मनवाले ने, ऋद्धिमान राज्य को भाइयों सहित भोगते हुए मर्यादा में रक्खा ।

नितहिं न्हाय तमसा - सरिमैं तहँ मैथिल - राजदुलारी ।
बिधिवत करि पूजन अतिथिन कौ निज-तन-बलकल-धारी ।
रघुकुल - केतु - अंस कौ अंकुर - गर्भ लियैं बैदेही ।
कंद - मूल - फल - खाय लगी प्रतिपालन सो निज देही ॥८२
'अब हूँ ना अनुतापित ह्वै हैं राजा - राम हमारे !'
आये यौं मन-गुनत, इन्द्रजिव - मद हर - मारन वारे ।
अरु इन्दीबर जुगुल - बिलोचन बारि - धार बरसाई ।
लखन कह्यौ जो कछु सिय, बरन्यौ सो, रामहिं समुझाई ॥८३
तब रघुबर के नयन-नलिन सौं उमगि चली जल धारा ।
मनहुँ पूस के निसि-नायक सौं बरसन लग्यौ तुसारा ।
जदपि लोक - अपवाद - भीति सौं दियौ त्यागि सिय काहीं ।
पै निज-मन सौं कबहुँ राम नैं उन्हैं निकार्‌यौ नाहीं ॥८४
परम - सुधी, बरनाश्रन - रच्छन मैं जो सजग महीपा ।
रोकि सोग - आवेग तबहिं मनि - मान भानु - कुल-दीपा ।
ह्वै मित - भोगि बंधु - बाँधव-जुत हिय अति धीरज आनी ।
सासन कियौ समृद्ध अवध पैं, 'राम-राज' सनमानी !! ॥८५

तामेकभार्यां परिवादभीरोः साध्वीमपि त्यक्तवतो नृपस्य ।
वक्षस्यसंघट्टसुखं वसन्ती रेजे सपत्नीरहितेव लक्ष्मीः ॥८६॥

सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार ।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्तुः
सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे ॥८७॥

८६—अपवाद से डरकर उस अकेली सुशीला पत्नी के भी त्यागने वाले राजा की गोद में अति सुख से बसती हुई लक्ष्मी दीप्तिमान हुई, मानो बिना सौत वाली ।

८७—जो कि सीता को त्याग कर रावण के बैरी ने और न ब्याही और उसी की प्रतिमा का साथी बनकर यज्ञ किए, कानों में पहुँच हुए पति के इस वृत्तान्त से परित्याग का कठिन दुःख जैसे तैसे सहा ।

मानि लोक - अपवाद महाभय जिन पतिब्रत - सिय त्यागी ।
सुखसौं कियौ अलिंगन कमला ताके हिय सौं लागी ।
अरु कीन्ह्यौ निवास निहकंटक समुद राम-गृह - माहीं ।
रही सौति की भीति कतहुँ कछु पदमा के मन नाहीं ॥८६

हरिगीतिका

तजि मैथिली, लंकेस - अरि नहिं, दूसरी कन्या बरी ।
बनबाय वाकी हेम - मूरति, जग्य संपादित करी ।
अति दुखद जब यह हाल मैथिल - सुता - स्रौननि मैं पर्‌यौ ।
करि कठिन हिय वानैं सहयौ, निजत्याग कौ दुखरौ खर्‌यौ ॥८७

———

॥ पंचदशः सर्गः ॥

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम् ।
बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम् ॥१॥
लवणेन विलुप्तेज्यास्तामिस्रेण तमभ्ययुः ।
मुनयो यमुनाभाजः शरण्यं शरणार्थिनः ॥२॥
अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन्न प्रजह्रुः स्वतेजसा ।
त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ॥३॥
प्रतिशुश्राव काकुत्स्थस्तेभ्यो विघ्नप्रतिक्रियाम् ।
धर्मसंरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः ॥४॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

१—सीता को त्याग कर उस पृथ्वी पालक ने केवल रत्नाकर समुद्र रूपी तागड़ी वाली पृथ्वी ही भोगी ।

२—लवन निशाचर के यज्ञ मिटाए हुए जमना वासी मुनी शरण माँगते हुए उस शरण देने वाले के पास पहुँचे ।

३—राम को विद्यमान देखकर उन्होंने उस (राक्षस) में अपने तेज से प्रहार न किया, रखवाले के न होने ही पर शाप के बली तप का व्यय करते हैं ।

४—काकुत्स्थ ने उनसे विघ्न मिटाने की प्रतिज्ञा की, धर्म की रक्षा ही के निमित धनुष धारी (विष्णु) का औतार पृथ्वी पर होता है ।

पन्द्रहवाँ सर्ग

दोहा

जनकराज-तनया-सियहिं, परित्याग्यौ तेहि काल ।
सागर - रसना - बसुमतिहिं भोग्यौ एक-भुवाल ॥१

चौपाई

निवसत, दिन-मनि-सुता-किनारे, लबन मेटि जिनके मख डारे ।
ते सब मुनि-गन-असुर सताये, अवध-नरेस-सरन चलि आये ॥२
बिद्यमान रामहिं गुनि लीन्ह्यौं, रोष-ज्वाल-तेहिं छार न कीन्ह्यौं ।
जब कोऊ रच्छक कौं न निहारत, तप-ब्यय-साप-अस्त्र मुनि मारत ॥३
मुनि-तप-बिघन-बिनासन-हेतू, कीन्ह्यौं प्रन तब रघु-कुल-केतू ।
धर्महिं थापि हरन महिं भारा, या लगि लियोइ बिष्णु-अवतारा ॥४

ते रामाय वधोपायमाचख्युर्विबुधद्विषः ।
दुर्जयो लवणः शूली बिशूलः प्रार्थ्यतामिति ॥५॥
आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघवः ।
करिष्यन्निव नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात् ॥६॥
यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परंतपः ।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥७॥
अग्रजेन प्रयुक्ताशीस्ततो दाशरथी रथी ।
ययौ वनस्थलीः पश्यन्पुष्पिताः सुरभीरभीः ॥८॥

५—"शूल सहति लवन अजित है बिना शूल हो तब मारो" इस प्रकार उन्होंने देवताओं के बैरी के मारने का उपाय राम को बतलाया ।

६—तब उनकी रक्षा के लिए राम ने शत्रुघन को आज्ञा दी, मानो शत्रु मारने से उसका नाम यथार्थ करने के लिये ।

७—रघुवंशियों में कोई हो बैरियों के नाश को अकेला ही समर्थ होता है, जैसे उत्सर्ग को अपवाद ।

८—तब जेठे भाई का असीस दिया हुआ निडर दशरथ कुमार रथी होकर सुगन्धित फूलों वाले बनों को देखता हुआ गया ।

साधन-निधन देव-रिपु केरौ, मुनि बताय रामहिं इमि प्रेर्‌यौ ।
"दुर्जय भयौ सूल कौं पाई, या-बिनु होइ हनिय तब जाई ॥"५

दोहा

दियौ पठै रिपुहनहिं मुनि-मख-रच्छन-हित राम ।
जनु चरितारथ-करन-हित या बिधि उनकौ नाम ॥६

चौपाई

तपधारी-रघुबंसिन माहीं, ऐसौ कोउ कहुँ दीसत नाहीं ।
जो न अरिन इमि तुरत नसावत, जिमि उत्सर्ग अपवाद हटावत ॥७
चढ़ि रथ दशरथ-निडर - कुमारा, चल्यौ राम-आयसु-अनुसारा ।
निरखत कानन अमित सुहाये, पुहपनि-सुरभि-गंधि बगराए ॥८

५—लवन को दरदान था कि जब तक हाथ में शूल रहेगा किसी से मारा न जायेगा ।

७—व्याकरण में साधारण नियम को उत्सर्ग कहते हैं और जब वह नियम किसी आदेश से टूटता है तो तोड़ने वाला आदेश अपवाद कहलाता है ।

रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये ।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत् ॥९॥

आदिष्टवर्त्मा मुनिभिः स गच्छँस्तपतां वरः ।
विरराज रथप्रष्ठैर्बालखिल्यैरिवांशुमान् ॥१०॥

तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यतः ।
रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने ॥११॥

तमृषिः पूजयामास कुमारं क्लान्तवाहनम् ।
तपःप्रभावसिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभिः ॥१२॥

९—राम की आज्ञा से पीछे चलती हुई सेना उसका प्रयोजन साधने में अध्ययनार्थक धातु के पीछे की अधि की नाईं हुई ।

१०—रथ के आगे चलते हुए मुनियों का मार्ग दिखलाया हुआ वह तेजस्वियों का मुखिया चलने में शोभायमान हुआ, जैसे बाल खिल्यों का (मार्ग दिखलाया हुआ) सूरज ।

११—रथ के शब्द को सुनकर चाव से हिरनों के देखे हुए ने पहली रात मुनी के आश्रम में बिताई ।

१२—ऋषि ने उस वाहन थके हुए कुमार को तपस्या के प्रभाव से प्राप्त होने वाली उत्तम सामग्रियों से सत्कार किया ।

तबहिं राम-अनुसासन पागी, तिन पाछैं सैना-जिमि लागी ।
जिमि 'इङ्' धातु-प्रयोग-पिछाऊँ, 'अधि' उपसर्गहु लगत सदाऊँ ॥९

रथ-चढ़ि चले जब रिपुहन आगे, पथ-दिखात तब मुनि इमि लागे ।
जनु जब दिवसनाथ कढ़ि आवत, बालखिल्य, पथ-तिनहिं दिखाबत ॥१०

दोहा

जहँ सुनि रथ-धुनि मगहु हे, चितये बदन-उठाय ।
तहँ बालमीकि-आश्रम-निसहिं रिपुहन-बितयौ जाय ॥११

चौपाई

बाहन-सह जो थकित कुमारा, बहु बिधि मुनि तेहि कहँ सतकारा ।
तप-बल सब रिधि-सिधिनि बुलाई, तुरत सुखद बस्तुनि मँगवाई ॥१२

९—इङ धातु का अर्थ आप ही अध्ययन अर्थात् पढ़ना है उसके साथ अधि उपसर्ग मिलाने से कुछ प्रयोजन नहीं निकलता परन्तु फिर भी अवश्य मिलाया ही जाता है । ऐसे ही यद्यपि शत्रुघन के साथ सेना के जाने से कुछ प्रयोजन न था फिर भी राम ने सेना साथ भेजी ।

तस्यामेवास्य यामिन्यामन्तर्वत्नी प्रजावती ।
सुतावसूत संपन्नौ कोशदण्डाविव क्षितिः ॥१३॥
संतानश्रवणाद्भ्रातुः सौमित्रिः सौमनस्यवान् ।
प्राञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्य प्रातर्युक्तरथो ययौ ॥१४॥
स च प्राप मधूपघ्नं कुम्भीनस्याश्च कुक्षिजः ।
वनात्करमिवादाय सत्त्वराशिमुपस्थितः ॥१५॥
धूमधूम्रो वसागन्धी ज्वालाबभ्रुशिरोरुहः ।
क्रव्याद्गणपरीवारश्चिताग्निरिव जंगमः ॥१६॥
अपशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणानुजः ।
रुरोध संमुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम् ॥१७॥

१३—उसी रात में उसकी गर्भवती भावज ने पूरे दिनों दो पुत्र जने, जैसे पृथ्वी ने कोश और दंड ।

१४—भाई की सन्तान सुनने से हर्षवान सुमित्रा सुत सवेरे हाथ जोड़कर मुनि की आज्ञा लेता हुआ रथ जोत चल दिया ।

१५—वह मधूपघ्न (नाम नगर) में पहुँचा और कुम्भीनसी का बेटा बन से पशुओं का समूह भेट की नाईं लिए हुए आता मिल गया ।

१६—धुएँ के समान धुँधले रंग वाला, बस की गन्धि वाला, ज्वाला समान लाल केशों वाला, मांसाहारी पक्षियों से घिरा हुआ, मानो चिता की जलती हुई अग्नि ।

१७—शूल रहित पाकर उस लवन पर लक्ष्मन के छोटे भाई ने धावा किया, रन्ध्र प्रहारियों को जीत सन्मुख ही रहती है ।

तेहि निसि मैथिल राज-सुताके, जनमैं जुगल-सुवन-बर बाँके ।
सब गुन-खानि अमित मन भाये, कोस दंड मनु महिं उपजाये ॥१३
अग्रज-सुवन-जनम-सुनि काना, रिपुहन - महामोद - मन - माना ।
होत प्रभात मुनिहिं सिर-नाई, चले साजि-रथ पाय - रजाई ॥१४
जब मधुपघन-नगर नियरायौ, कुँभीनसी सुवन तब आयौ ।
लै कर-सम-बन जीवनि-झारी, भेंटन - हेतु - महा बलधारी ॥१५

दोहा

बसा-गंध, सिर - बभ्रु - कच, धूम - धूसरित - गात ।
सो, राकस - गन-घिर्‌यो हो, चिता-अनल-सम-जात ॥१६

चौपाई

तेहि-खन तहाँ लखन-लघु - भाई, रोक्यौ ताहि सूल - बिनु - पाई ।
छिद्र-निरखि जे अरिहिं-प्रचारत, जोरि पानि जय तिनहिं जोहारत ॥१७

१५—रावण की बहन कुम्भीनसी का बेटा लवनासुर था ।

१७—रन्ध्र प्रहारी=दुर्बल ठौर पर मारने वाला ।

नातिपर्याप्तमालक्ष्य मत्कुक्षेरद्य भोजनम् ।
दिष्ट्या त्वमसि मे धात्रा भीतेनेवोपपादितः ॥१८॥
इति संतर्ज्य शत्रुघ्नं राक्षसस्तज्जिघांसया ।
प्रांशुमुत्पाटयामास मुस्तास्तम्बमिव द्रुमम् ॥१९॥
सौमित्रेर्निशितैर्बाणैरन्तरा शकलीकृतः ।
गात्रं पुष्परजः प्राप न शाखी नैर्ऋतेरितः ॥२०॥
विनाशात्तस्य वृक्षस्य रक्षस्तस्मै महोपलम् ।
प्रजिघाय कृतान्तस्य मुष्टिं पृथगिव स्थितम् ॥२१॥
ऐन्द्रमस्त्रमुपादाय शत्रुघ्नेन स ताडितः ।
सिकतात्वादपि परां प्रपेदे परमाणुताम् ॥२२॥

१८—मेरे पेट को आज थोड़ा भोजन देखकर मानो डरे हुए विधाता ने मेरे भाग्य से तू भेजा है ।

१९—इस प्रकार शत्रुघन को भय दिखाकर राक्षस ने उसके मारने के लिए बड़ा पेड़ मोथे के तिनके की नाईं उखाड़ा ।

२०—राक्षस का फेंका हुआ पेड़ पैने वाणों से बीच ही में कट कर शत्रुघन के शरीर तक न पहुँचा (उसके) फूलों की रज पहुँची ।

२१—उस वृक्ष के टूटने से राक्षस ने उस पर बड़ा पत्थर फेंका, मानो यम की अलग की हुई मुट्ठी ।

२२—शत्रुघन ने इन्द्र का अस्त्र उठा कर उस पर मारा (वह पत्थर) रेत पन से भी परे परमाणु पन को पहुँचा ।

सक्यौ बुझाय न मम जठरागी, बिधि भयभीत रह्यौ एहि लागी ।
अब हिय मैं मनु अति सकुचाई, तुमहिं भाग सन दीन्ह पठाई ॥१८
रिपुहन-कहँ एहि बिधि धमकाई, अरु मारन-हित हिय-हुलसाई ।
लखि बिसाल तरु एक अगारी, मोथा-सम तेहिं लीन्ह उपारी ॥१९
रिपुहन क्रोधित बिसिख प्रहार्‌यौ, खंड-खंड तरु कौंकरि डार्‌यौ ।
लग्यौ पुहुप-पराग-तनु आई, फेंक्यौ बिटप न पर्‌यौ लखाई ॥२०

दोहा

तरु-कटतहिं तिन बधन-हित, राकस अमित रिसाय ।
मुठिका-सम जमराज की, दीन्हीं सिला चलाय ॥२१

चौपाई

रिपुहन इन्द्र-अस्त्र कर लीन्ह्यौं, अति मन-माखि प्रहारन कीन्ह्यौं ।
रेनुहुँ तैं अति - खीन-सिला के, भे परमानु ताहि - खन वाके ॥२२

२२—परमाणु=धूल का अत्यन्त छोटा टुकड़ा ।

तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिणं दोर्निशाचरः ।
एकताल इवोत्पातपवनप्रेरितो गिरिः ॥२३॥
कार्ष्णेन पत्रिणा शत्रुः स भिन्नहृदयः पतन् ।
आनिनाय भुवः कम्पं जहाराश्रमवासिनाम् ॥२४॥
वयसां पङ्क्तयः पेतुर्हतस्योपरि विद्विषः ।
तत्प्रतिद्वन्द्विनो मूर्ध्नि दिव्याः कुसुमवृष्टयः ॥२५॥
स हत्वा लवणं वीरस्तदा मेने महौजसः ।
भ्रातुः सोदर्यमात्मानमिन्द्रजिद्वधशोभिनः ॥२६॥
तस्य संस्तूयमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभिः ।
शुशुभे विक्रमोदग्रं व्रीडयावनतं शिरः ॥२७॥

२३—दाहनी भुजा उठाकर राक्षस उस पर दौड़ा, मानो उत्पात की पवन का फेंका हुआ अकेले ताड़ वृक्ष वाला पहाड़ ।

२४—कृष्ण के वान से छिदे हुए हृदय वाले उस बैरी ने गिरते हुए पृथ्वी का कंप उपजया आश्रम वासियों का मिटाया ।

२५—मरे हुए राक्षस के ऊपर पक्षियों को पंक्ति गिरी (और) उसके बैरी के सीस पर फूलों की दिव्य वरषा ।

२६—उस वीर ने लवन को मार लिया तब अपने को इन्द्र जीत के मारने से शोभा पाने वाले महा तेजस्वी भाई का सहोदर माना ।

२७—कृतार्थी तपस्वियों के उस सराहे हुए का सिर प्रताप के कारण ऊँचा नम्रता के कारण नीचा शोभा को पहुँचा ।

रिपुहन-बध-हित राकसराई, धायौ दाईं - भुज यौंहि उठाई ।
मनहुँ पवन - प्रेरित-गिरि कोई, धारैं एक ताल - तरु होई ॥२३
नारायन - सर रिपुहन मारी, दियौ बच्छ - थल तासु बिदारी ।
गिरतहिं महि-तेहिं दियौ कँपाई, संग-मुनीनहुँ - कंप हिराई ॥२४
माँसाहारी - खग ललचाये, मृतक-सुरारि-पाहिं गिरि छाये ।
अरु उत दिब्य - प्रसूननि केरी, बरसी लखन - अनुज - सिर-ढेरी ॥२५

दोहा

या बिधि लवनहिं मारि रन, रिपुहन अति बलधाम ।
सोदर लखन कुमार कौं, कियौ जथारथ नाम ॥२६

चौपाई

तब कृतकृत्य मुनीन - सुखारी, लखन - अनुज - अस्तुत अनुसारी ।
जिन-सिर-ऊँच्यौ सौरज-कारन, सो झुक्यौ लस्यौ बिनय के भारन ॥२७

२३—राक्षस का शरीर था सोई मानो पहाड़ था और उसने भुजा उठाई थी सोई ताड़ का वृक्ष था ।

उपकूलं स कालिन्द्याः पुरीं पौरुषभूषणः ।
निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मधुरां मधुराकृतिः ॥२८॥
या सौराज्यप्रकाशाभिर्बभौ पौरविभूतिभिः ।
स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवापनिवेशिता ॥२९॥
तत्र सौधगतः पश्यन्यमुनां चक्रवाकिनीम् ।
हेमभक्तिमतीं भूमेः प्रवेणीमिव पिप्रिये ॥३०॥
सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत् ।
संचस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि ॥३१॥
स तौ कुशलवौ मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया ।
कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥३२॥

२८—उस पुरुषार्थ रूपी भूषन वाले ने विषयों में चाह न रखने वाले ने सौम्य रुप ने, कालिन्दी के तट पर मथुरा पुरी बसाई ।

२९—जो अच्छे राज्य के कारण पुरवासियों की प्रकाशवान विभूतियों से सुशोभित दिखलाई दी, मानो स्वर्ग में न समाने वाले मनुष्य लाकर बसाई हुई ।

३०—वहाँ मन्दिर में उस बैठे हुए ने चक्रवाकिनी जमुना को पृथ्वी की सुवर्ण जटित वैणी की नाई देखते हुए आनन्द माना ।

३१—दशरथ के और जनक के सखा मुनि ने भी प्रीति से जानकी के दोनों पुत्रों का संस्कार विधि पूर्वक किया ।

३२—कहते हैं कि उस कवि ने कुशओं से और लवों (अर्थात् दाभी और गऊ की पूँछ के बालों) से गर्भ की पीड़ा मिटे हुए उन दोनों को उन्हीं के नाम से कुश और लव नाम दिया ।

बिषय - बिगत सुन्दर-बपु धारी, पौरुष-भूषन जस - अधिकारी ।
कालिन्दी के कूल सुहाई, मथुरा नामक पुरी बसाई ॥२८
संपति नगर-निवासिन केरी, इमि सुराज लहि बढ़ी घनेरी ।
मनहुँ अमरपुर जे न समाये, इहाँ लाइ ते गये बसाये ॥२९
सौध-गबाछ-बैठि बपु - बेषी, कोक-कोकि-सह-जमुनहिं देखी ।
बिबिध हेम-भूषन जो सजाई, अवनि - बेनि-सी लसति सुहाई ॥३०

दौहा

दसरथ - जनक-सुमीत-रिषि, बालमीकि साचार ।
कियौं मैथिली-सुतन्ह कौ, बेद-बिहित - संस्कार ॥३१

चौपाई

लै कुस-धेनु - पुच्छ के बारन गर्भ - बिथा मुनि-कीन्हि-निबारन ।
याही-लगि कुस-लव अभिरामा, मुनिबर धर्‌यौ सुतन्ह कर नामा ॥३२

३०—स्याम बरन जमना है सोई मानो पृथ्वी रूपी नायका की वैनी है और उसके तट पर चकवा चकवी हैं सोई सोने के वैनी बन्द हैं ।

साङ्गं च वेदमध्याप्य किंचिदुत्क्रान्तशैशवौ ।
स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ॥३३॥
रामस्य मधुरं वृत्तं गायन्तौ मातुरग्रतः ।
तद्वियोगव्यथां किंचिच्छिथिलीचक्रतुः सुतौ ॥३४॥
इतरेऽपि रघोर्वंश्यास्त्रयस्त्रेताग्नितेजसः ।
तद्योगात्पतिवत्नीषु पत्नीष्वासन्द्विसूनवः ॥३५॥
शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः सुबाहौ च बहुश्रुते ।
मधुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुकः ॥३६॥
भूयस्तपोव्ययो मा भूद्वाल्मीकेरिति सोऽत्यगात् ।
मैथिलीतनयोद्गीतनिःस्पन्दमृगमाश्रमम् ॥३७॥

३३—और बालपन से कुछ निकले हुओं को अंगों सहित वेद पढ़ाकर अपनी रची हुई कविता, कवियों की पहली सीढ़ी, उनसे गवाई ।

३४—माता के आगे राम का वृतान्त मीठे स्वर से गाकर दोनों बेटों ने उसकी विरह विथा कुछ घटाई ।

३५—तीन अग्नियों के तेज समान और भी तीनों रघुवंशी अपने अपने संयोग से गर्भवती स्त्रियों में दो दो पुत्र वाले हुए ।

३६—बड़े भाई में उत्साह रखने वाले शत्रुघन ने शत्रुघाती और सुबाहु दो बहुश्रुत पुत्रों को मथुरा और विदिशा सोंपी ।

३७—बाल्मीकि के तप में फिर हानि न हो, इसलिए सीता के बेटों का गाना सुनने में ध्यान लगाए हुए हरिणों वाले आश्रम को वह छोड़ गया ।

बीतत सिसुता के मुनिराई, सांगवेद सब दिये पढ़ाई ।
पुनि वा रामायनहिं गवायौ, आदि काव्य जो अपु - निरमायौ ॥३३
चरित राम के मधुर सुहावन, लगत मातु समुहैं दोउ गावन ।
गाय बियोग-बिथा तहँ बाँकी, करत हलुकि कछु कछुक सिया की ॥३४
त्रेता - अनल-तेज-बपु-धारन, तीनिहुँ दसरथ - राज - कुमारन ।
निज-निज भामिनि-संग-सुहाये, सबहिन द्वै-द्वै सुत जनमाये ॥३५

दोहा

द्वै सुत रिपुहन कैं भये सत्रूघाति - सुबाहु ।
मथुरा-बिदिसा भार तिन्ह, सौंप्यौ सहित उछाहु ॥३६

चोपाई

गए न पुनि मुनि-आश्रममाहीं, मुनि तप-बिघन होय कछु नाहीं ।
जहँ कुरंग - गन ध्यान लगाये, सिय-सुत-गीत सुनत मन लाये ॥३७

३३—अंगों सहित वेद अर्थात् वेद और वेदांग ।

३५—भरत और लक्ष्मण और शत्रुघन के दो दो पुत्र हुए ।

३६—बहुश्रुत=जिसने बहुत शास्त्र सुना हो अथवा पढ़ा हो ।

बशी विवेश चायोध्यां रथ्यासंस्कारशोभिनीम् ।
लवणस्य वधात्पौरैरीक्षितोऽत्यन्तगौरवम् ॥३८॥
स ददर्श सभामध्ये सभासद्भिरुपस्थितम् ।
रामं सीतापरित्यागादसामान्यपतिं भुवः ॥३९॥
तमभ्यनन्दत्प्रणतं लवणान्तकमग्रजः ।
कालनेमिवधात्प्रीतस्तुराषाडिव शार्ङ्गिणम् ॥४०॥
स पृष्टः सर्वतो वार्तमाख्यद्राज्ञे न संततिम् ।
प्रत्यर्पयिष्यतः काले कवेराद्यस्य शासनात् ॥४१॥
अथ जानपदो विप्रः शिशुमप्राप्तयौवनम् ।
अवतार्याङ्कशय्यास्थं द्वारि चक्रन्द भूपतेः ॥४२॥

३८—और (उस) बली ने, लवन वध के कारण पुरवासियों के अत्यन्त गौरवता से देखे हुए मार्ग रचनाओं से शोभायमान अजुध्या में प्रवेश किया ।

३९—उसने सभा के बीच सभासदों सहित बैठा हुआ, सीता के त्याग से पृथ्वी का अनोखा स्वामी, राम देखा ।

४०—जेठे भाई ने उस लवन के मारने वाले को, प्रणाम करते हुए को सराहा, जैसे कालनेमि के बध से प्रसन्न होकर इन्द्र ने विष्णु को ।

४१—उस पूछे हुए ने राजा से सब वार्ता कही, (परन्तु) किसी समय आप ही अर्पण करने के इच्छा मान आदि कवि की आज्ञा से सन्तान का (वृतान्त) न कहा ।

४२—तिस पीछे कोई ग्रामीण ब्राह्मण यौवन अवस्था को न पहुँचा हुआ बालक गोद रूपी शय्या से रक्खा हुआ राजा के द्वार पर उतार कर चिल्लाया ।

कौसलपुरी बहुरि पगु धारा, पुरबासिन जेहिं हुलसि सँवारा ।
लवनहिं हन्यौं अतुल बलरासी, आदर देय रहे पुर वासी ॥३८
सेवित-लसित-सभासद-संगा, सिय त्यागी - करुनार्द्रित - अंगा ।
रिपुहन, तहँ लख्यौ रामहिं कैसे, कोउ बिसेष पुहमी-पति जैसे ॥३९
लखि रिपुहन कहँ करत प्रनामा, कीन्ह्यौं इमि अभिनन्दन रामा ।
जिमि हरि-मान कियौ सुरनाथा, काट्यौ कालनेमि जिन माथा ॥४०

दोहा

सकल बृत्त-रिपुहन कह्यौ, सिर धरि राम-निदेस ।
पै न कह्यौ सिय-सुत-जनम, पालि मुनीस-अदेस ॥४१

चौपाई

एक दिन नगर-बिप्र तहँ आयौ, प्रानहीन-सुत जो संग लायौ ।
धारि अंक सौं तेहिं महि दीन्ह्यौं, बहुरि बिलाप-कलापनि कीन्ह्यौं ॥४२

४१—बाल्मीकि ने शत्रुघन से कह दिया था कि रामचन्द्र से लव कुश के जन्म का वृत्तान्त मत कहना क्योंकि किसी दिन इन बालकों को मैं आप ही राम के अर्पण करूँगा ।

शोचनीयासि वसुधे या त्वं दशरथाच्च्युता ।
रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात्कष्टतरं गता ॥४३॥
श्रुत्वा तस्य शुचो हेतुं गोप्ता जिह्राय राघवः ।
न ह्यकालभवो मृत्युरिक्ष्वाकुपदमस्पृशत् ॥४४॥
स मुहूर्तं क्षमस्वेति द्विजमाश्वास्य दुःखितम् ।
यानं सस्मार कौबेरं वैवस्वतजिगीषया ॥४५॥
आत्तशस्त्रस्तदध्यास्य प्रस्थितः स रघूद्वहः ।
उच्चचार पुरस्तस्य गूढ़रूपा सरस्वती ॥४६॥
राजन्प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्वते ।
तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि ततः कृती ॥४७॥

४३—हे पृथ्वी ! तू अभागी है जो दशरथ से पीछे राम के हाथों में पहुँचकर अधिक से अधिक कष्ट को प्राप्त हुई ।

४४—उसके शोक का कारण सुनकर रक्षा करने वाला राघव लज्जित हुआ क्योंकि (तब तक) अकाल मृत्यु ने इक्ष्वाकुओं का देश नहीं देखा था ।

४५—"थोड़ी देर क्षमा करो" ऐसे दुखी ब्राह्मण को आसा देकर उसने यम के जीतेने की इच्छा से कुवेर का विमान (अर्थात् पुष्पक) मँगाया ।

४६—हथ्यार बाँधे हुए उस पर चढ़कर रघुबंशियों का नायक चला, उसके सामने गुप्तरूपी सरस्वती ने कहा ।

४७—हे राजा ! तेरे राज्य में कुछ दुराचार हो रहा है उसको खोज कर मिटा दे तब तू कृत कृत्य होगा ।

"दसरथ - सम महिपालहिं पाई, अब तू परी राम - बस आई ।
नितहिं कष्ट पावत सब लोगू, या लगि भई सोचिबे जोगू ॥"४३
तेहिं सोकाकुल-बच सुनि काना, लज्जित भए राम भगवाना ।
अब लौं रघु-कुल सासन-माहीं, काहु अकाल-मीचु लहि नाहीं ॥४४
छमिय मोहिं छिन एक, बिनै कैं, दुखित दुजहिं इमि, धीर धरैं कैं ।
दरन-हेत तबहीं जम-मानहिं, सुमिर्‌यौ श्रीहरि, देव-बिमानहिं ॥४५

दोहा

लै आयुध चढ़ि जान पै, जबहिं गवन प्रभु कीन्ह ।
गूढ़-स्वरूपा-सरस्वती, तब इमि बच कहि दीन्ह ॥४६

चौपाई

"राजन ! कहुँ यहि राज-तुम्हारे, अनाचार, मत होत हमारे ।
ताकहँ ढूँढ़ि मेटिहौ जबहीं, ह्वैहौ आप कृतारथ तबहीं ॥"४७

४६—गुप्त रूपी सरस्वती ने कहा अर्थात आकाश बानी हुई ।

इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम् ।
दिशः पपात पत्त्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना ॥४८॥
अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनम् ।
ददर्श कंचिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम् ॥४९॥
पृष्टनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमपः ।
आत्मानं शम्बुकं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम् ॥५०॥
तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम् ।
शीर्षच्छेद्यं परिच्छद्य नियन्ता शस्त्रमाददे ॥५१॥
स तद्वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कमिव पङ्कजम् ।
ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु कण्ठनालादपातयत् ॥५२॥

४८—इस आप्त वचन (आकाश वाणी) से वर्ण विकार के मिटाने के लिये राम विमान पर, वेग के कारण निश्चल ध्वजा वाले पर, दिशाओं को गया ।

४९—निदान इक्ष्वाकुवंशी ने धुएँ से लाल आँखों वाला, वृक्ष की शाखा से लटकता हुआ, एक अधोमुख तपसी देखा ।

५०—कहते हैं कि राजा के नाम और वंश पूछे हुए उस धुआँ पीने वाले ने अपने को स्वर्ग का आकांक्षी शम्बुक नाम शूद्र बतलाया ।

५१—तपस्या में अधिकारी न होने के कारण प्रजा में उस दुःख पहुँचाने वाले को सिर काटने योग्य निश्चय करके राजा ने हथ्यार लिया ।

५२—उसके सिर को, आग की चिनगारियों से झुलसी हुई डाढ़ी वाले को राम ने पाले के मारे केसरों वाले कमल की नाई कंठ रूपी नाल से गिरा दिया ।

आप्तबचन सुनि रघुकुलकेतू, बरन-बिकार ढूँढ़िबे-हेतू ।
चढ़ि तेहिं जान सबैं दिसि छापी, पवन-बेग-जेहिं धुजा न काँपी ॥४८
लोचन अरुन धूम-बस मीचैं, लटकत बिटप-डार के नीचैं ।
अवनि-ओर मुख कियैं बिसेष्यौ, तप-रत एक पुरुष प्रभु देख्यौ ॥४९
पियत-धूम कौं, कुल अरु नामा, पूछ्यौ, जबहिं ताहि सन रामा ।
कह्यौ सूद्र संबुक इमि भाखी, "तपत परम-पद कौं अभिलाषी" ॥५०

दोहा

पाप ह्वै रह्यौ, सूद्र कौ, नहिं तप कौ अधिकार ।
मारन-जोग बिचारितेहिं, कीन्ह कृपान - प्रहार ॥५१

चौपाई

जा मुख की ही सन-सम दाढ़ी, पावक की चिनगारिन - डाढ़ी ।
जो सर-हिम-हत-कमल समाना, कंठ-नाल-काट्यौ-भगवाना ॥५२

कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम् ।
तपसां दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना ॥५३॥

रघुनाथोऽप्यगस्त्येन मार्गसंदर्शितात्मना ।
महौजसा संयुयुजे शरत्काल इवेन्दुना ॥५४॥

कुम्भयोनिरलंकारं तस्मै दिव्यपरिग्रहम् ।
ददौ दत्तं समुद्रेण पीतेनेवात्मनिष्क्रयम् ॥५५॥

तं दधन्मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना ।
पश्चान्निववृते रामः प्राक्परासुर्द्विजात्मजः ॥५६॥

तस्य पूर्वोदितां निन्दां द्विजः पुत्रसमागतः ।
स्तुत्या निवर्तयामास त्रातुर्वैवस्वतादपि ॥५७॥

५३—शुद्र ने निज राजा के हाथ से दंड पाकर अच्छों की गति पाई, न कि स्वधर्म उल्लंघी कठिन तप से ।

५४—रघुनाथ को भी महा तेजस्वी अगस्त्य मार्ग में आप दर्शन देने वाला मिला मानो शरद ऋतु को चन्द्रमा ।

५५—अगस्त्य ने उसको देवताओं के ग्रहण करने योग्य गहना, अपने मोल की नाईं प्रसन्न समुद्र का दिया हुआ, दिया ।

५६—उसको सीता के कंठ व्यापार रहित भुजा में पहने हुए राम पीछे लौटा, ब्राह्मण का मरा हुआ बालक पहले ।

५७—पुत्र पाए हुए ब्राह्मण ने उस यम से भी रक्षा करने वाले को पहले कही हुई निन्दा स्तुति से निवारण की ।

निज-मन-चह्यौ भूप-सन पायौ, समुचित दंड सूद्र मन-भायौ ।
लही संत-सदगति जेहि माहीं, करि तप सुपथ उलंघ्यौ जाहीं ॥५३
चलत पंथ इमि रघु-कुल-भूषन, मिले अगस्तहिं, जौ तप-पूषन ।
सरद-काल जिमि आपु सुहावन, मिलत ससिहिं जग-ताप-नसावन ॥५४
लियौ पान करि मुनिवर जेहीं, ताकी मुक्ति-मूल्य मनु तेहीं ।
अरपन सिंधु जो भूषन कीन्ह्यौं, रामहि कुँभजोनि सोइ दीन्ह्यौं ॥५५

दोहा

सिय-गर-बंचित - बाहु मैं, भूषन धारि ललाम ।
प्रथम जियौ दुजराज सुत, पाछैं लौटे राम ॥५६

चौपाई

निज मृत सुतहिं बहुरि दुज पायौ जम सौं जेहिं रघुनाथ छुड़ायौ ।
कीन्हि राम - निन्दा, जेहिं टेरी, बदल्यौ अस्तुति महँ तेहिं फेरी ॥५७

५५—समुद्र को तीन चुल्लू करके अगस्त्य मुनि पी गया था फिर पेट से निकाला तब समुद्र ने अपने जीव दान के पलटे अगस्त्य को बड़े मोल का रत्न अर्पण किया ।

५६—सीता के व्यापार रहित भुजा अर्थात् जिस भुजा को सीता का आलिंगन मिट गया था ।

५७—पहले जो निन्दा की थी उसके पलटे स्तुति की ।

तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्षःकपिनरेश्वराः ।
मेघाः शस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः ॥५८॥
दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैनमभिजग्मुर्महर्षयः ।
न भौमान्येव धिष्ण्यानि हित्वा ज्योतिर्मयान्यपि ॥५९॥
उपशल्यनिविष्टैस्तैश्चतुर्द्वारमुखी बभौ ।
अयोध्या सृष्टलोकेव सद्यः पैतामही तनुः ॥६०॥
श्लाघ्यस्त्यागोऽपि वैदेह्याः पत्युः प्राग्वंशवासिनः ।
अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माञ्जायाहिरण्मयी ॥६१॥
विधेरधिकसंभारस्ततः प्रववृते मखः ।
आसन्यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः ॥६२॥

५८—उस यज्ञ के निमित घोड़ा छोड़ने वाले पर राक्षसों और बन्दरों और मनुष्यों के स्वामियों ने भेटों से वरसा की, जैसे नाज पर बादलों ने पानी से।

५९—न्योते हुए महाऋषि पृथ्वी के स्थानों ही को नहीं नक्षत्र रूपी स्थानों को भी छोड़ छोड़कर उसके पास दिशाओं से आ पहुँचे।

६०—उपशल्यों में बैठे हुए उन मुनियों से चार द्वार रूपी मुखों वाली अजुध्या तुरन्त लोक सृष्टा ब्रह्मा की मूर्ति के समान शोभायमान हुई।

६१—वैदेही का त्याग भी बड़ाई के योग्य हुआ क्योंकि यज्ञशाला में बसते हुए, बिना दूसरी स्त्री वाले, पति की वही सोने की पत्नी बनी।

६२—तिस पीछे जितनी चाहिये उससे अधिक सामग्री वाला यज्ञ हुआ, जिसमें कामों के बिगाड़ने वाले राक्षस ही रक्षक बने।

अस्वमेध-हित हय-छोड़त-खन, नर-बानर-राकसन-पतिन सुन।
इमि भेंटें दई रामहिं हरषी, जिमि जलधर-जल-सस पै बरषी ॥५८
पाय निमंत्रन मुनि-गन सारे रघुनायक पहँ अवध-सिधारे।
नहिं केवल अवनीतल-वारे, नभमंडल वारे हु पधारे ॥५९
ठहरी जहँ मुनिगन की राजी, तहँ इमि अवधपुरी छबि छाजी।
मनु वाके चहुँ द्वार सुहाये, चतुरानन-सन-होड़-लगाए ॥६०

दोहा

बंदनीय सब-भाँति हो, बैदेही कौ त्याग।
मख-सुबरन-सिय-मूर्ति मैं, रख्यौ राम अनुराग ॥६१

चौपाई

अमित सजाय जग्य-संभारन, लगे सकल मख-काज-सँवारन।
बाधा जे हे राकस पारत, बनि रच्छक ते बिघन-निवारत ॥६२

६०—उपशल्य=नगर के आस पास की भूमि।

अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः ।
मैथिलेयौ कुशलवौ जगतुर्गुरुचोदितौ ॥६३॥
वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किन्नरस्वनौ ।
किं तद्येन मनो हर्तुमलंस्यातां न शृण्वताम् ॥६४॥
रूपे गीते च माधुर्यं तयोस्तज्ज्ञैर्निवेदितम् ।
ददर्श सानुजो रामः शुश्राव च कुतूहली ॥६५॥
तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ ।
हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली ॥६६॥
बयोवेषविसंवादी रामस्य च तयोस्तदा ।
जनता प्रेक्ष्य सादृश्यं नाक्षिकम्पं व्यतिष्ठित् ॥६७॥

६३—फिर गुरू की प्रेरणा से सीता के लव और कुश बेटों ने बाल्मीकि की रची हुई रामायण जहाँ तहाँ गाई ।

६४—राम का वृतान्त, बाल्मीकि का कथा हुआ, किन्नरों का सा उनका कंठ, फिर क्या था जिससे वे सुनने वालों का मन मोहने को समर्थ न होते ।

६५—उनके रूप और गीत की मधुरता, जानने वालों को सराही हुई, राम ने प्रसन्न होकर भाईयों समेत देखी और सुनी ।

६६—उनका गाना सुनकर एकाग्रचित वाली अश्रुमुखी सभा शोभायमान दीखी, जैसे ओस टपकती हुई निव्यारे की बन भूमि ।

६७—बैस और भेष के बिना (और सब भाँति) उनकी और राम की सादृश्यता देखकर लोग उस समय आँख खोले रह गए (अर्थात् अचम्भे में आ गए) ।

तब गुरुबर्ज प्रेरना-पाएन, लव-कुस-जुगल-मैथिली-जाएन ।
रची आदि कवि जो रामायन, घूमि-घूमि कियौ ताकौ गायन ॥६३
राम चरित, बाल्मीकि-बिधायक, किन्नर कंठी-लव-कुस-गायक ।
जहँ ऐसौ रस-सिंधु उमाहा, स्रोतनि तँह फिरि चाहिए काहा ? ६४
गीत, रूप, बहु माधुरताई, सब-गुन निपुन लख्यौ रघुराई ।
मन-महँ सुख-सब-भाइन मान्यौं, तिनहिं सराहत-हिय-हुलसान्यौं ॥६५

दोहा

सभा, गान-सुनि, मगन इमि, आँसुन ढारत जात ।
झरति-ओस बन-भूमि-जिमि, लहि निरबात प्रभात ॥६६

चौपाई

वय अरु बेष न रंच विचारी, निपट राम-अनुसारि-निहारी ।
बिस्मित प्रजा अमित अनुरागी, अपलक तिनहिं बिलोकन लागी ॥६७

६६—अश्रुमुखी = आँसू गिराती हुई ।

उभयोर्न तथा लोकः प्रावीण्यन विसिष्मये ।
नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया यथा ॥६८॥
गेये को नु विनेता वां कस्य चेयं कृतिः कवेः ।
इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंसताम् ॥६९॥
अथ सावरजो रामः प्राचेतसमुपेयिवान् ।
ऊरीकृत्यात्मनो देहं राज्यमस्मैन्यवेदयत् ॥७०॥
स तावाख्याय रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ ।
कविः कारुणिको वव्रे सीतायाः संपरिग्रहम् ॥७१॥
तात शुद्धा समक्षं नः स्नुषा ते जातवेदसि ।
दौरात्म्याद्रक्षसस्तां तु नात्रत्याः श्रद्दधुःप्रजाः ॥७२॥

६८—मनुष्य उनकी प्रवीणता से इतने चकित न हुए जितने कि राजा के प्रीति पूर्वक दिए हुए दान में (उनके) निस्पृहीपन से ।

६९—"गाने में कौन तुम्हारा गुरु है और किस कवि की यह रचना है" इस प्रकार आप ही राजा के पूछे हुए उन दोनों ने बाल्मीकि बतलाया ।

७०—तब भाईयों सहित राम ने बाल्मीकि के पास जाकर देह के बिना सब राज्य उसको अर्पण किया ।

७१—उस दयालु कवि ने राम को वे दोनों सीता सुत उसी के पुत्र बतलाकर सीता ग्रहण करने के लिए कहा ।

७२—हेत तात ! तुम्हारी बधू (सीता) हमारे सामने अग्नि में शुद्ध हो चुकी है परन्तु राक्षस की दुष्टता के कारण यहाँ की प्रजा ने उसको विश्वास नहीं किया ।

लोगनि, दुहुँ-चतुराइहिं पेखी, भयौ न उतनौ अचरज लेखी ।
दियौ दान नृप जो अवरेखी, लियौ न सो, लखि भयौ बिसेखी ॥६८
"है रचना यह केहि कबि केरी ? किन सिखई यह कला घनेरी ?
एहि बिधि नृप जब बात उठाई, "बाल्मीकि" कहि दुहुँनि बताई ॥६९
तब सँग लै तीनिहुँ लघु भाई, राम आदि - कबि के ढिग जाई ।
केवल निज सरीर नहिं दीन्ह्यौं, मुनिहिं राज सब अरपन कीन्ह्यौं ॥७०

दोहा

परम दयालु मुनीस तब, रामहिं कह्यो बुझाय ।
"स्वीकारिये सीता - सहित, निज पूतन रघुराय" ॥७१

चौपाई

कह्यौ राम "यह बधू तिहारी, अनल-सुद्धि, हौं जाहिं निहारी ।
सुनि-गुनि रावन की कुटिलाई, परजा-मन-सरधा न बिठाई ॥७२

७०—अर्थात् शरीर अर्पण न किया और सब कुछ दिया ।

ताः स्वचारित्रमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली ।
ततः पुत्रवतीमेनां प्रतिपत्स्ये त्वदाज्ञया ।।७३।।
इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमान्मुनिः ।
शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धिं नियमैरिव ।।७४।।
अन्येद्युरथ काकुत्स्थः संनिपात्य पुरौकसः ।
कविमाह्वाययामास प्रस्तुतप्रतिपत्तये ।।७५।।
स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया ।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः ।।७६।।
काषायपरिवीतेन स्वपदार्पितचक्षुषा ।
अन्वमीयत शुद्धेति शान्तेन वपुषैव सा ।।७७।।

७३—उनको अपने चरित्र बतलाकर जानकी विश्वास करावे तब उस पुत्रवती को तुम्हारी आज्ञा से ग्रहण करूँगा ।

७४—राजा के इस प्रकार प्रतिज्ञा करने पर मुनि ने आश्रम से चेलों के द्वारा जानकी बुलवाई जैसे तपों के द्वारा अपनी अर्थ सिद्धि ।

७५—तब राम ने दूसरे दिन पुरवासी इकट्ठे करके ऊपर कहे हुए के प्रतिपादन निमित कवि बुलवाया ।

७६—फिर पुत्रों समेत सीता के साथ मुनि तेजस्वी राम के सन्मुख गया, मानो स्वर और संस्कार समेत गायत्री साथ सूरज के सन्मुख ।

७७—वह मूहे वस्त्रों से ढके हुए, अपने चरणों में दीठि लगाए हुए, शान्त शरीर ही से "शुद्ध है" ऐसी जानी गई ।

पै बहोरि, निज सुद्धि दिखाई, देइ प्रजहिं बिस्वास कराई ।
तबहिं पुत्रवति जनक-दुलारी, स्वीकरिहैं तव - बचन सिर-धारी ।।७३
जब रघुपति इमि बचन सुनायौ,सिखनि-पठै मुनि सियहिं बुलायौ ।
इमि जिमि कोउ नियम ब्रतधारी, लेत सिद्धि निज निकट हँकारीं ।।७४
दूजे दिवस राम सुखरासी, लिये बुलाय सकल पुर-बासी ।
अनल - सुद्धि निरनय के ताईं, मुनिहिं बुलायौ कहि रघु-साईं ।।७५

दोहा

लसे सुतन-जुत सियहिं लै, इमि मुनि रघुपति-पास ।
मनु,स्वर-सावित्री-सहित, रवि - ढिग करत प्रकास ।।७६

चौपाई

काय-कषाय-बस्त्र सिय धारे, लोचन-जुगल चरन-दिसि डारे ।
मनहुँ, दिखाय सान्त ब्रति देही, "भाखति, सुद्ध अहै बैदेही" ।।७७

जनास्तदालोकपथात्प्रतिसंहृतचक्षुषः ।
तस्थुस्तेऽवाङ्मुखाः सर्वे फलिता इव शालयः ॥७८॥
तां दृष्टिविषये भर्तुर्मुनिरास्थितविष्टरः ।
कुरु निःसंशपं वत्से स्ववृत्ते लोकमित्यशात् ॥७९॥
अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्जितं पयः ।
आचम्योदीरयामास सीता सत्यां सरस्वतीम् ॥८०॥
वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे ।
तथा विश्वंभरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि ॥८१॥
एवमुक्ते तया साध्व्या रन्ध्रात्सद्योभवाद्भुवः ।
शातह्रदमिव ज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥८२॥

७८—उस समय उनकी ओर से दीठि हटाए हुए वे सब मनुष्य सिर झुकाए खड़े ही रहे मानो पके हुए धान ।

७९—हे बेटी ! पति के सामने लोगों को अपने वृतान्त में शंका रहित कर, यह आज्ञा उसको आसन पर बैठे हुए मुनि ने दी ।

८०—तब बाल्मीकि के शिष्य का लाया हुआ पवित्र जल आचमन करके सीता ने सत्य वाणी कही ।

८१—मन से बचन से, कर्म से जो पति में मेरा ब्रत भंग नहीं है तो हे भूमि देवी ! तू मुझे समा लेने को योग्य है ।

८२—उस सती के ऐसे कहने पर पृथ्वी के नये छिद्र से बिजली के उजाले की भाँति का प्रकाश का पुंज निकला ।

तब, सिय-तन-सनदीठि-हटाये, बैठे महिं दिसि सीस-झुकाये ।
सोहत सकल प्रजा-जन कैसे, पाके - धान खेत - महँ जैसे ॥७८
तब,मुनि,जो बैठे बर-आसन; तिन, इमि सियहिं दीन्ह अनुसासन ।
"पति-समुहैं निज सुद्धि-प्रकासी, करिय निसंक सकल-पुरबासी" ॥७९
तबहीं मुनिबर सिष्य सिधायौ, पावन-सलिल सपदि लै आयौ ।
तेहि-अचवन करि मुदित अमोली, सीता, सत्य गिरा इमि बोली ॥८०

दोहा

"मन-बच-क्रम-पति-विषय मैं, हौं न कियौ बिभिचार ।
अबनि-अंब ! तौ अंक-लहि, करिय मोहि स्वीकार ॥"८१

चौपाई

जब एहि बिधि सिय-बचन-प्रकासा, अबनि फारि इमि कढ्यो उजासा ।
मनु चपला चमकी नभ-माहीं, भूषित करति खमंडल काहीं ॥८२

८२—समुद्र हैं सोई मानो पृथ्वी की तागड़ी है ।

तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषेदुषी ।
समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्वसुंधरा ॥८३॥
सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम् ।
मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन्पातालमभ्यगात् ॥८४॥
धरायां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैषिणः ।
गुरुर्विधिबलापेक्षी शमयामास धन्विनः ॥८५॥
ऋषीन्विसृज्य यज्ञान्ते सुहृदश्च पुरस्कृतान् ।
रामः सीतागतं स्नेहं निदधे तदपत्ययोः ॥८६॥
युधाजितश्च संदेशात्स देशं सिन्धुनामकम् ।
ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः ॥८७॥

८३—उसमें नागफण के ऊपर रक्खे हुए सिंघासन पर बिराजमान समुद्र की तागड़ी वाली साक्षात बसुधा प्रगट हुई।

८४—पति के चरणों में दृष्टि लगाई हुई सीता को वह गोद में लेकर उस (राम) के नहीं नहीं ऐसा कहते कहते पाताल को गई।

८५—सीता के फिर लेने के इच्छामान उस धनुषधारी का, पृथ्वी के ऊपर कोप दैवशक्ति दिखाने वाले गुरू ने शान्त किया।

८६—यज्ञ के अन्त पर राम ने सत्कार किए ऋषियों को और मित्रों को विदा करके सीता का स्नेह उसके पुत्रों में रखा।

८७—और उस प्रजा पालक ने युधाजित के कहने से ऐश्वर्य मान भरत को सिन्धु नाम देश सोंपा।

तबहिं सिंघासन अहि-फन-धारी, प्रगटी अबनि अमित छबिवारी।
अम्बु-रासि-करधनी बनाई, सब लोगन कह परी दिखाई ॥८३
पति-पद-पंकज दीठि लगाए, सियहिं अवनि-माँ अंक-बिठाए।
"नहिं ! नहिं !" कहत रहे मनु रामा, गई पताल धरा निज-धामा ॥८४
सीतहि लेहुँ अवनि - सन फेरी, इच्छा भई राम - मन - केरी।
पै, गुरु बिधि-बल-जाननिहारौ, जो तेहिं रघुपति-रोष-निवारौ ॥८५

दोहा

मख - समापि - रिषि - मीतनहिं पठयौ दै उपहार।
सुतन-माहिं सिय-नेह कौं, राख्यौ राम उदार ॥८६

चौपाई

भरत - जुधाजित - मातुल केरौ, पाइ - सँदेस - राम - हिय - हेरौ।
मातुल-बचन-मानि पुनि लीन्ह्यौं, भरतहिं राज सिंधु कौ दीन्ह्यौं ॥८७

८५—कुरू=ब्रह्मा।

८७—युधाजित नाम भरत के मामा का था।

भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम् ।
आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम् ॥८८॥
स तक्षपुष्कलौ पुत्रौ राजधान्यास्तदाख्ययोः ।
अभिषिच्याभिषेकार्हौ रामान्तिक्रमगात्पुनः ॥८९॥
अङ्गदं चन्द्रकेतुं च लक्ष्मणोऽप्यात्मसंभवौ ।
शासनाद्रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरौ ॥९०॥
इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः ।
भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधुः क्रमात् ॥९१॥
उपेत्य मुनिवेषोऽथ कालः प्रोवाच राघवम् ।
रहः संवादिनौ पश्येदावां यस्तं त्यजेरिति ॥९२॥

८८—वहाँ भरत ने गधर्वों को युद्ध में जीत कर वीणा उनसे ग्रहण कराई हथियार छुड़ा दिए ।

८९—वह तक्ष और पुष्कल दो पुत्रों को, अभिषेक के योग्यों को, इन्हीं नामों की दो राजधानियों में अभिषेक कराकर फिर राम के पास गया ।

९०—अंगद और चन्द्रकेतु अपने दो बेटे लक्ष्मण ने भी रघुनाथ की आज्ञा से कारापथ देश के स्वामी बनाये ।

९१—इस प्रकार पुत्रों को स्थापित करके उन नरेशों ने पति के लोक को गई हुई माताओं के श्राद्ध इत्यादि कर्म क्रम से किए ।

९२—तब राघव के पास मुनि के भेस में काल ने जाकर कहा "एकान्त में हम दोनों को बात-चीत करते हुए जो कोई देखे उसको त्यागो ।

तहँ गंधर्ब भरत - सन - हारे, मानि महा-भय आयुध डारे ।
जो गायन महँ परम प्रबीना, बहुरि उठाय लई तिन बीना ॥८८
तुच्छ अरु पुष्कल-सुतन प्रबीरा, नामान्वित-नगरनि रनधीरा ।
सौंपि, उन्हैं अधिराज बनाई, आये लौटि जहाँ रघुराई ॥८९
अंगद-चन्द्रकेतु जिन-नामा, उत दोऊ सुतन, जो बल-गुन-धामा ।
राम-निदेस-लखन-सिर-धारी, कीन्ह्यौं कारापथ - अधिकारी ॥९०

दोहा

एहि बिधि-सौं प्रभु सुतन मैं, बाँटि राज सब दीन्ह ।
स्वर्ग गईं जननीन को, क्रम सौं किरियनि कीन्ह ॥९१

चौपाई

तब धरि काल मनुज कर चोला, आइ राम - ढिग सबिनय बोला ।
"जो हमैं, करत इकंत मैं बाता, देखे ताहि तजिय सुरत्राता ॥९२

८९—अभिषेक करना=राजगद्दा पर बिठाना ।

तथेति प्रतिपन्नाय विवृतात्मा नृपाय सः ।
आचख्यौ दिवमध्यास्व शासनात्परमेष्ठिनः ।।९३।।
विद्वानपि तयोर्द्वाःस्थः समयं लक्ष्मणोऽभिनत ।
भीतो दुर्वाससः शापाद्रामसंदर्शनार्थिनः ।।९४।।
स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित् ।
चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः ।।९५।।
तस्मिन्नात्मचतुर्भागे प्राङ्नाकमधितस्थुषि ।
राघवः शिथिलं तस्थौ भुवि धर्मस्त्रिपादिव ।।९६।।
स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम् ।
शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम् ।।९७।।

९३—"ऐसा ही हो" इस प्रकार प्रतिज्ञा करने वाले राजा को उस निज रूप प्रगट किए हुए ने ब्रह्मा की आज्ञा से कहा "स्वर्ग में बास करो।"

९४—द्वार पर बैठे हुए लक्ष्मण ने प्रतिज्ञा जानते हुए भी राम दर्शन के अभिलाषी दुर्वासा के शाप से डरकर उनका संवाद भंग किया।

९५—सरजू तीर पर जाकर उस योग मार्ग के ज्ञानी ने बड़े भाई की प्रतिज्ञा देह त्याग से पूरी की।

९६—अपने उस चौथाई भाग के पहले स्वर्ग वासी होने पर राघव पृथ्वी में तीन पैर वाले धर्म की नाईं सिथिल रहा।

९७—बैरी रूपी हाथियों के अंकुशरूपी कुश को कुशावती में (और) मीठे बचनों में सत्पुरुषों के आँसू बहाने वाले लव को शरावती में स्थापित करके वह।

"एवमस्तु" कहि प्रभु-प्रन कीन्ह्यौं,तब निज-रूप काल धरि लीन्ह्यौं ।
कह्यौ बचन-"अब सुनिय नरेसा,चलिय स्वर्ग अस बिधि आदेसा" ।।९३
ठाढ़े लखन, राम के द्वारे, प्रभु - रूख-प्रन के जाननहारे ।
दुरबासा - आग्रह-भय मानी, गये जहँ बैठे सारँग पानी ।।९४
सपदि जाय सरयू - सरि-तीरा, जोग-क्रिया-ज्ञानी-प्रन-बीरा ।
तुरतहिं तहाँ देह तजि दीन्हीं, पूरन बंधु - प्रतिग्या कीन्हीं ।।९५

दोहा

गयौ अंस चौथौ सरग, जानि धरम - धुर-धीर ।
त्रि-पग-धरम-वत भूमि पै, भये सिथिल रघुबीर ।।९६

चौपाई

जो अरि-नाग-सरिस बल धारत, अंकुस-लौं जिनकौ सिर-फारत ।
तेहिं - कुस-सुतकौं निकट बुलायौ, कुसावती-अधिराज बनायौ ।।
जेहि मुख-सुनत मधुर-बर बैना, लावति प्रजा, बारि - भरि-नैना ।
तेहि लव कौं बुलाय असुरारी, कीन्ह्यौ सरावती-अधिकारी ।।९७

९४—सम्वाद भंग किया अर्थात् जहाँ राम और काल एकान्त में बातचीत करते थे वहीं दुर्वासा का आगमन कहने को लक्ष्मण गया।

उदक्प्रतस्थे स्थिरधीःसानुजोऽग्निपुरःसरः ।
अन्वितः पतिवात्सल्याद्गृहवर्जमयोध्यया ॥९८॥
जगृहुस्तस्य चितज्ञाः पदवीं हरिराक्षसाः ।
कदम्बमुकुलस्थूलैरभिवृष्टां प्रजाश्रुभिः ॥९९॥
उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना ।
चक्रे त्रिदिवनिश्रेणिः सरयूरनुयायिनाम् ॥१००॥
यद्गोप्रतरकल्पोऽभूत्संमर्दस्तत्र मज्जताम् ।
अतस्तदाख्यया तीर्थं पावनं भुवि पप्रथे ॥१०१॥
स विभुर्विबुधांशेषु प्रतिषन्नात्ममूर्तिषु ।
त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥१०२॥

९८—स्थिर बुद्धि राम अग्नि होत्र को आगे और स्वामी की प्रीति से साथ चलने वाली बिना घरों की अयुध्या को पीछे लिये हुए भाइयों सहित उत्तर दिशा को चला ।

९९—चित्त की जानने वाले राक्षसों और बन्दरों ने उसका मार्ग प्रजा के कदम्ब कलियों समान आँसुओं से छिड़का हुआ लिया ।

१००—उस विमान पाए हुए ने, भक्तों पर दया करने वाले ने, पीछे चलने वालों के लिए स्वर्ग की नसैनी सरजू बनाई ।

१०१—वहाँ नहाने वालों का, संघट्ट गोप्रतर (अर्थात गौओं के उतारे) के समान हुआ इसलिए वह पवित्र तीरथ पृथ्वी में उसी नाम से विख्यात हुआ ।

१०२—देवताओं के अंशवालों को अपनी अपनी मूर्ति मिलने पर प्रभू ने देवतापन पाए हुए पुरवासियों के लिये दूसरा स्वर्ग बनाया ।

आगे अग्निहोत्र करि आछे, थिरमति राम चले तेहि पाछे ।
सरजू - तट-दिसि-प्रेम-अभंगा, गवनी प्रजा अवध-पति-संगा ॥९८
प्रभु-मन-बात- परखियन, प्यारौ, हरि-राकसन, सोई मग-धारौ ।
जेहि पै प्रजा - कदम-कली-सी ही, आँसुन-बरसा होइ रही ही ॥९९

कुंडलिया

जिन, रघुपति के लेन-हित, आइ चुकौ हो बिमान ।
तिन, अनुगन-हित-सरजू - करि, सरग-नसेनि-समान ॥
सरग-नसेनि-समान, जहाँ - जन-सुरभिन - न्हायौ ।
भयो सोइ 'गुप्तार-घाट', जेहि जस - जग छायौ ॥
देव-अंस - सुग्रीव आदि, निज - रूप - लीन, तिन ।
लह्यौ दूसरौ स्वर्ग, निर्मयौ, अवध-जनन, जिन ॥

९८—बिना घरों की अयुध्या अर्थात अयुध्या की प्रजा ।

१०२—देवताओं के अंश वाले=सुग्रीव इत्यादि ।

निर्वर्त्यैवं दशमुखशिरश्छेदकार्यं सुराणाम्
विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत्सर्वलोकप्रतिष्ठाम् ।
लङ्कानाथं पवनतनयं चोभयं स्थापयित्वा
कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च ।।१०३।।

१०३—इस प्रकार देवताओं का रावण बध रूपी कार्य सिद्ध करके और लंका पति (विभीषण) और पवन सुत (हनूमान) दोनों को दक्षिण और उत्तर पर्वतों में कीर्ति के दो खम्भों की नाईं स्थापित करके विष्णु ने अपनी सब लोकों को धारण करने वाली मूर्ति में प्रवेश किया ।

हरिगीतिका

एहि भाँति रघुकुल-कुमुद-बिधु सुरकाज सकल बनाइकैं ।
पुनि,बिष्णु लोकनि-धरन-अविसे निज-बपुष मैं आइ कैं ।।
निज-कीर्ति के जुग-खंभ-सम,हनुमत बिभीषनैं जानि कैं ।
गिरि-उत्तर-दच्छिन पाहिथाप्यौइमि लसतसनमानिकैं ।।१०३

———

॥ षोडशः सर्गः ॥

अथेतरे सप्त रघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुरोजन्मतया गुणैश्च ।
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि ॥१॥
ते सेतुवार्त्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः ।
अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्ततीयुः ॥२॥
चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम् ।
सुरद्विपानामिव सामयोनिर्भिन्नोऽष्टधा विप्रससार वंशः ॥३॥

सौलहवाँ सर्ग

१—तब और सातों रघुवंशी बीरों ने जेठे कुश को बड़े पन के कारण और गुणों के कारण भाग में श्रेष्ठ वस्तु अधिक लेने वाला किया, सुभ्रातपन उनके कुल की रीति ही थी ।

२—पुल बाँधना, खेती बनजी की रक्षा करना, हाथी पकड़ना (इन) मुख्य गुणों वाले सफल कामों में अति समर्थ होकर भी उन्होंने एक दूसरे की बटी हुई सीमा उल्लंघन न की, जैसे समुद्रों ने बेला ।

३—विष्णु के अंश से उपजा हुआ उन निरन्तर दान प्रवृति वालों का यह वंश सामयोनि सुरगजों की नाईं आठ ओर बँट कर फैला ।

सोलहवाँ सर्ग

सवैया

दूसरे सात प्रवीरन नैं, रघुबंस मैं जेठौ कुसै मिलि मान्यौं ।
जन्म सौं औ' गुन-गौरब सौं, तेहि कौं बहु आदर दै सनमान्यौं ।
रत्ननि औ' मनि-मानिक रासि कौ भाग प्रभूत दियौ मन मान्यौं ।
ऐसे सुभायपने कौं निबाहि, सदा कुलरीति कौ पालनौं ठान्यौं ॥१
गौ कृषि-बंज-सुरच्छन मैं, लही सेतुन-बाँधन मैं निपुनाई ।
बारन-बृन्दनि कौं बस मैं, करिबे की सिखी सबै चातुरताई ।
ह्वै कैं समर्थ सबै बिधि यौं, न बिभाजित-राज पै दीठि लगाई ।
जैसैं रहै मरजाद मैं सिन्धु, बहै कबहूँ नहिं कूल बिहाई ॥२
दासरथी-हरि-अंसनि-पुत्रनि कौ, गुन-गौरब-भू-न समायौ ।
दान-प्रबृत्ति मैं बिस्व मैं कोऊ, नहीं इनकी समता करि पायौ ।
यौं सामवेद के बारनि-लौं, रघु-बंसहु बाढ़ि महीतल छायौ ।
आठहुँ भूपनि, आठौं दिसानि के, छोरनि लौं जस कौं बगरायौ ॥३

१—सुभ्रातपन=भाइयों में प्रीति ।

२—बेला=समुद्र की सीमा ।

३—विष्णु के अंश=राम लक्ष्मण भरत शत्रुघन । दान प्रवृति के दो अर्थ हैं, दान देना और मद बहाना पहला कुश लव इत्यादि से सम्बन्ध रखता है दूसरा सुरगजों से । सामयोनि अर्थात् सामवेद से उत्पन्न होने वाला ।

अथार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः ।
कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषामदृष्टपूर्वां वनितामपश्यत् ॥४॥
सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुहूतभासः ।
जेतुः परेषां जयशब्दपूर्वं तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध ॥५॥
अथान पोढार्गलमप्यगारं छायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम् ।
सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतल्पः ॥६॥
लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते ।
बिभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम् ॥७॥
का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किंवा मदभ्यागमकारणं ते ।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥८॥

४—एक दिन आधी रात के समय दीपक झिलकते हुए सोते मनुष्यों वाले शय्या घर में जगते हुए कुश ने आगे न देखी हुई स्त्री प्रोषित पतिका के भेस में देखी ।

५—उस सज्जन साधारण राजश्री वाले के इन्द्र समान तेजस्वी के, बैरियों को जीतने वाले कुटम्भी के, सन्मुख खड़ी होकर उसने जय शब्द कह कर हाथ जोड़े ।

६—तब अर्गला लगे हुए आदर्श मन्दिर में भी छाया की नाईं पहुँची हुई को दशरथ सुत के चकित बेटे ने अगला आधा शरीर सेज से उठाकर कहा ।

७—तू गुप्त स्थान में भी आ गई है और तेरा प्रभाव योग का सा नहीं दीखता है और तू दुखियों का रूप धारण कर रही है, मानो शीत के उपद्रव को कमलिनी ।

८—हे सुन्दरी तू कौन है और किसकी स्त्री है और मेरे पास आने से क्या तेरा प्रयोजन है सो तू जितेन्द्री रघुवंशियों का मान पराई स्त्री के व्यवहार में विमुख जान कर बतला ।

आधिक-राति बितीत भई, अरु दीप-प्रकास-लही मलिनाई ।
सोबत हे सिगरे, कुस के, निदिया नहिं नैननि मैं नियराई ।
ताखन सैन-निकेतन मैं इक, प्रोषिता-सी बनिता चलि आई ।
जा कुल-अंगना की अब लौं, अबलोकी नहीं कहूँ रूप लुनाई ॥४
राजत राजश्री-सोभा अपार, - सुरेस लौं-तेज - प्रताप के धारी ।
सत्रु - जयी-गृही के समुहैं, कर-जोरि कै 'जैति' कह्यौ सुकुमारी ।
अर्गला-बारे - अगारिनि मैं, तेहि दर्पन-छाया - समान निहारी ।
आगिलौ गात उठाय कै सेज सौं, तासौं कह्यौ कुस-बैन उचारी ॥५-६
"गुप्त अगार मैं आई जऊ, तऊ जोग - प्रभाव लखात न तेरौ ।
त्यौं दुखिया लौं कियैं निज बेष, सरोरुह - जैसौं - तुषार कौ पेरौ ।
कौन हौ, का की प्रिया तुम सुन्दरी, आइबे मैं इतै कौन निबेरौ ।
जानौं, कबौं रघुबंसिन नैं, सपनेहूँ न आन-तियानि कौं हेरौ" ॥७-८

५—सज्जन साधारण=सज्जनों के समान ।

६—अर्गला=द्वार मूदने की लकड़ी ।

तमब्रवीत्सा गुरुणानवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन ।
तस्याः पुरः संप्रति वीतनाथां जानीहि राजन्नधिदेवतां माम् ॥९॥
वस्वौकसारामभिभूय साहं सौराज्यवद्धोत्सवया विभूत्या ।
समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम् ॥१०॥
विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे ।
विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्यं दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम् ॥११॥
निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥१२॥

९—वह उससे बोली, "हे राजा जिस निर्दोष पुरी के वासियों को तेरा पिता अपने पुर जाने का उत्साही ले गया उसी की अधिदेवी मुझ अनाथ को तू जान"।

१०—सो सुराज्यपन के प्रताप से मैं नित्य उत्सवों को विभूति के द्वारा अलकापुरी को तिरस्कार करके तुझ पूरी शक्ति वाले सूर्य वंशी के होते हुए दीन दशा को पहुँची हूँ।

११—गिरे हुए सैकड़ों अटे अटारी वाली, टूटे हुए परकोटे वाली, मेरी बस्ती स्वामी के बिना अस्त में डूबते हुए सूरज वाली, प्रचंड पवन के विथराए हुए बादलों वाली, सन्ध्या की होड़ करती है।

१२—रातों में जो राजमार्ग मधुर शब्द करते हुए दीप्तमान नूपरों वाली अभिसारिकाओं के आने जाने का था उस में अब चिल्लाते मुख की चिनगारियों से माँस ढूँढती हुई गीदड़ी फिरती हैं।

"जाइबे काज जबै निज - धाम, तुम्हारे पिता तजि जाहि सिधारे।
लै गये साथ प्रजाहि सबै, 'अधिदेवि' अहौं, सुनौं, वाकी दुलारे।
जो ही सुराज कीं सम्पदा सौं, अलकापुरी हू कौ सदा धिरकारे।
रावरे - जैसे समर्थ महीप के, होत भयें यह हाल हमारे !! ९-१०

भौन-अटारिन भग्न-भये-लखि, बैभव सो, हिय - फारि रह्यौ है।
औध निवास-सो, यौं अब मो, तनु-राम-बियोग मैं बारि रह्यौ है।
बूड़त - भानु के अंबर-डंबर - मेघनि कौ जोइ छाइ रह्यौ है।
पौन-प्रचंड बिदारि रह्यो वाहि, ता - सम दृस्य दिखाइ रह्यौ है ॥११

जा राज-मारग पै निसि मैं अभिसारिका भावतीं आवतीं-जावतीं।
नूपुर-पैंजनि-पायल की, झनकार महा सुख - दैनि सुनावतीं।
वा मग मैं कितीं स्यारिनियाँ, अब आमिख-खंडनि ढूँढ़ती धावतीं।
औ' रव-घोर करै अति सै, मुख-सौं चिनगारिन कौ बरसावती ॥१२

९—अधिदेवी=मानी हुई देवी अथवा मूर्ति।

१२—अभिसारिका उस नायका को कहते हैं जो पति के पास आप जाय।

आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥१३॥
वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः ।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषवर्हाः क्रीडामयूरा वनर्हिणत्वम् ॥१४॥
सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान् सरागान् ।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते में ॥१५॥
चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥१६॥
स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥१७॥

१३—जो बावड़ियों का जल प्रमदाओं की हथेलियों से चपेटे खाकर मृदंग की गम्भीर ध्वनि की रीस करता था सो अब बन के भैंसों के सींगों का झकोरा हुआ कठोर शब्द करता है ।

१४—छत्रियों की बैठक मिटने से वृक्षों पर रहने वाले मृदंग ध्वनि के अभाव से नाचना त्यागे हुए, दावानल की चिनगारियों से जली पूँछ वाले, पालतू मोर जंगली मोरों की दशा को पहुँच गये हैं ।

१५—और मेरे जिन सीढ़ियों वाले मार्गों में रमणशीला स्त्री महावर लगे हुए चरण रखती थी उनमें (अब) तुरन्त हरिण मार कर लोहू भरे पैर नाहर धरते हैं ।

१६—चित्र के हाथी कमल के पुंजों में धँसे हुए, हथनियों से मृणाल के टुकड़े लेते हुए, नख-रूपी अंकुशों से मस्तक छिदे हुए, कोपित सिंघों का प्रहार सहते हैं ।

१७—खम्बों में स्त्रियों की सूरतों को, रंगों का क्रम बिगड़ने से धूसरापन ली हुईयों को, साँपों की छोड़ी हुई केंचली लिपट कर चोली बनी है ।

प्रमदानि की मंजु गदेरिनि-चोटनि, जो बापिका-जल पायौ करैं ।
इमि आछी गँभीर मृदंगनि की, धुनि सौं हठि होड़ लगायौ करैं ।
अब वे बन-भैंसनि के बड़े सींग-प्रहार-झकोरनि खायौ करैं ।
यहि भाँति सौं स्रौन-कठोर-महा, भयकारी रवै उपजायौ करैं ॥१३
छतुरीनि के टूटिबै तैं अब तौ, पुर-केकी तरून पै बैठन लागे ।
धुनि नाहिं मृदंगनि की सुनिबै मिलै,या लगि मंजुल नाचिबौ त्यागे ।
निज पूँछि समेटि दवारि की झारसौं, भागनिसौं जे हुते बचि भागे ।
अब पालतू-मोर महीप सुनौं, बन-मोरन से सबै दीसनि लागे ॥१४
जावक-राते जहाँ पद-कंजनि, मो-सिढ़ियानि पै राखतीं नारी ।
सोनित-सानैं तहाँ अब पंजनि, धारत बाघ, कुरंगनि-मारी ।
चित्रित-कौल-कलाप-मैं जो करि, लेत प्रिया-सौं मृनालिका प्यारी ।
क्रुद्ध-हरी, तिन-कुंभनि पै ही, रहे नख-अंकुस आज प्रहारी ॥१५-१६
तियानि की मूरतैं खम्भनि मैं, रंग के बिगरैं मट-मैलीं लखातिं ।
भुजंगनि की कँचुरी तिन कौ, ढकिबे हित, जारी मनौं बनि जातिं ।१७

कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु ।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्र पादाः ॥१८॥

आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः ।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः ॥१९॥

रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवापि ।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥२०॥

बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥२१॥

तदर्हसीमां वसतिं विसृज्य मामभ्युपैतुं कुलराजधानीम् ।
हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्तिम् ॥२२॥

१८—समय के अन्तर से काले चूने वाले मंदिरों में, जहाँ तहाँ घास के अंकुर जमे हुओं में, रात के समय मुति माल समान वे निर्मलचन्द्र किरण भी नहीं चमकती हैं ।

१९—और जिनकी शाखाओं को विलासिनी स्त्री दया से झुका झुका कर फूल चुनती थीं मेरी उद्यान लताओं को पुलन्दरों की नाईं बन के बन्दर दुखाते हैं ।

२०—रात में दीपक के उजाले से रहित, दिन में भी स्त्रियों के मुखों की कान्ति से सूने, धुँए का निकलना मिटे हुए झरोखे मकड़ी के जालों से ढक गए हैं ।

२१—पूजन की क्रिया मिटे हुए घाटों वाले, स्नान के सोंधों का सतसंग न मिलने वाले, तीर पर नरसलों की सूनी झोपड़ियों वाले, सरजू का जल देखकर मैं खेद पाती हूँ ।

२२—इसलिये इस पुरी को छोड़कर तू मुझ कुल राजधानी की ओर चलने को योग्य है, जैसे तेरा पिता उसका रण मात्र मानुषी देह को त्याग कर विष्णु मूर्ति को ।

गयौ सित-सौध ह्वै स्यामल हाय ? जमीं कुस-पाँतैं कहूँ दरसाति ।
मयंक-मयूखनि-मौतिन-मालैं, बिभावरी मैं भई व्यर्थ लखाति ॥१८
चुनै जहँ फूलनि कौं प्रमदा, झुकीं डारनि-भाव-सदै दरसाय ।
उद्यान लतानि-पुलिन्द-लौं हैं तहँ, कानन के कपि खैंचत हाय !
प्रदीप-प्रकास निसा में नहीं, मुख-सुन्दरियान न द्यौस-दिखाय ।
कढ़ै नहीं धूप झरोखनि सौं, मकरीन नैं जालनि-पूरै-बनाय ॥१९-२०
पूजन होत न घाटनि पै अब, या लगि सूनैं सबै थल लागत ।
त्यौंही अन्हान समैहूँ कहूँ, अँगरागनि-रंगनि-नीर न रागत ।
कैसौ अनौखौ जु फेर भयौ, सरि-कूल-बनीरन कीं कुटीं दागत ।
देखत ही सरयू-जल कौं, खरै-खेदनि सौं हमरौ हियौ पागत ॥२१
त्यागिकैं या बिधि या नगरी, चलियै उतही गुनि बात हमारी ।
जैसैं तुम्हारे पिता निज लोक, गये इतै मानुषी देहहिं डारी ।२२

१९—पुलन्द=म्लेच्छ विशेष ।

२०—स्नान का सोंधा=नहाने से पहले जो सुगन्धि की वस्तु शरीर में लगाई जाती है ।

तथेति तस्याः प्रणयं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्प्राग्रहरो रघूणाम् ।
पूरप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा शरीरबन्धेन तिरोबभूव ॥२३॥

तदद्भुतं संसदि रात्रिवृत्तं प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस ।
श्रुत्वा त एनं कुलराजधान्याः साक्षात्पतित्वे वृतमभ्यनन्दन् ॥२४॥

कुशावतीं श्रोत्रियसात्स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः ।
अनुद्रुतो वायुरिवाभ्रवृन्दैः सैन्यैरयोध्याभिमुखः प्रतस्थे ॥२५॥

सा केतुमालोपवना बृहद्भिर्विहारशैलानुगतेव नागैः ।
सेना रथोदारगृहा प्रयाणे तस्याभवञ्जंगमराजधानी ॥२६॥

तेनातपत्रामलमण्डलेन प्रस्थापितः पूर्वनिवासभूमिम् ।
बभौ बलौघः शशिनोदितेन वेलामुदन्वानिव नीयमानः ॥२७॥

२३—"ऐसा ही होगा" इस प्रकार उसकी विनती रघुवंशमणि ने प्रसन्न होकर स्वीकार की, मुख से प्रसन्नता जताती हुई पुरी भी शरीर से अन्तरधान हुई ।

२४—रात का वह अद्भुत वृत्तान्त राजा ने प्रातःकाल सभा में ब्राह्मणों से कहा उन्होंने सुनकर उसको साक्षात कुल की राजधानी का पति माना हुआ सराहा ।

२५—वह कुशावती को वेद जानने वाले ब्राह्मणों की करके यात्रा अनुकूल दिन में सेना साथ लिए हुए रनवास समेत अजुध्या की ओर सिधारा, मानो बादल साथ लिए हुए पवन ।

२६—ध्वजाओं की मालारूपी उपवनों वाली, रथोंरूपी ऊँचे घरों वाली, बड़े हाथियोंरूपी बिहार शैलों को पीछे लिये हुए वह सेना उसके चलने में चलती हुई राजधानी के समान दिखलाई दी ।

२७—पहली निवास भूमि (अजुध्या) की ओर उस निर्मल छत्र मंडल वाले का चलाया हुआ कटक शोभायमान दीखा, मानो तट की ओर चन्द्रमा का चलाया हुआ समुद्र ।

"ऐसोई ह्वै है" कह्यौ रघुबंस-विभा-कुस नैं सुनि बात पियारी ।
अन्तरधान भई सुख-सौं, तुरतै नगरी वा, बनी नई नारी ॥-२३
नौंखी-निसा की कथै-नृप प्रात ही, बिप्रन-सौं सभा-माहिं बखानौं ।
स्वागत-कै कह्यौ बिप्रन यौं "कुल-देवी-अजुध्या-तुम्हैं बस्यौ जानौं ।"
श्रौत्रिन-दै कैं कुसावती कौं कुस, रानिन-संग, मुहूर्त जो मानौं ।
औधैं-चले, पाछैं सैंन चली इमि, पौन के पाछैं ज्यौं मेघ पयानौं ॥२४-२५
वा धुज-मालामई कुस - सैन, पयान - उद्यान - समान सुहाई ।
त्यौंहीं बिसाल बड़े-बड़े भौन लौं, स्यन्दन-ब्यूह रहे छबि-छाई ।
दीरघ-देह के बारन-बृन्द, बिहार के सैल परैं दिखराई ।
भूप-चमूचय जात समै मैं, कुसावती दूजी मनौं बनिआई ॥२६
पूरब-बास मही-दिसि यौं, सित-छत्र-महीप नैं सैन चलाई ।
कूल की ओर उदै-ससि नैं, मनौं सिंधु-तरंगै दई पलटाई ।२७

२५—ब्राह्मनों की करके अर्थात् ब्राह्मनों को देकर ।

२६—सेना की उपमा चलती हुई नगरी से दी है।

तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम् ।
वसंधरा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुरोहेव रजश्छलेन ॥२८॥
उद्यच्छमाना गमनाय पश्चात्पुरा निवेशे पथि च व्रजन्ती ।
सा यत्र सेना ददृशे नृपस्य तत्रैव सामग्र्यमतिं चकार ॥२९॥
तस्य द्विपानां मदवारिसेकात्खुराभिघाताच्च तुरंगमाणाम् ।
रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावं पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय नेतुः ॥३०॥
मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना ।
चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति, गुहामुखानि ॥३१॥
स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः ।
व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिन्दैरुपपादितानि ॥३२॥

२८—उस चलते हुए की सेनाओं का कष्ट सहने को असमर्थ सी होकर पृथ्वी मानो धूल के मिस से विष्णु के दूसरे पद (आकाश) को चढ़ी ।

२९—पीछे चलने के लिए और आगे पड़ाव में उतरने के लिये उद्योग करती हुई और मार्ग में चलती हुई जहाँ देखी गई वहीं राजा की वह सेना समस्त ही दिखलाई दी ।

३०—उस नायक के हाथियों के मद के छिड़काव से और घोड़ों की खुरताड़ से गैल में धूल ने कीचपन लिया (और) कीच भी धूलपन को पहुँची ।

३१—विन्ध्याचल की तराइयों में मार्ग खोजती हुई, बहुत भागों में बँटी हुई, महा शब्द करती हुई, उस सेना ने रेवा की नाईं गुफाओं के मुख गुँजार मान किए ।

३२—गेरु इत्यादि धातुओं से रथ के लाल पहियों वाला, चलने की ध्वनि में मिले हुए तुरहियों के शब्द वाला, वह राजा पुलिन्दों की दी हुई भेटों को देखता हुआ विन्ध्याचल के पार गया ।

वाकौ जबै सब भार अपार, नहीं बसुधा सहि कैसेहुँ पाई ।
रेनु के ब्याज-सौं ब्याकुल ह्वै, मनौं विष्णु के दूसरे ठौर सो धाई ॥२८
जात कुसावती कौं तजिकैं, सजे आगे पड़ाव करै कौं, तयारी ।
मारग मैं अवलोकौ जहाँहीं, तहाँ नृप-सैनहिं लीजै निहारी ।
पंक भई पथ-रेनु परे, गजराजनि के मदधार कौ बारी ।
त्यौं हय-टापनि-पंक सुखाय, रही रज ह्वै नभ-छाय अँध्यारी ॥२९-३०
खोजत - मारग - बिंध-तराइन मैं, बिखरौ दल ऐसौ लखायौ ।
रेव-समान-गुहानि मैं गूँजि कैं, नाद हू जाकौ चहूँ दिसि छायौ ।
गेरुन मैं घिसि राते भये, रथ-चक्र तथा तुरही रव छायौ ।
लेत पुलिन्दनि सौं उपहारनि, बिंध्य के पार महीपति आयौ ॥३१-३२

तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।
अयत्नवालव्यजनीवभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः ।।३३।।

स पूर्वजानां कपिलेन रोषाद्भस्मावशेषीकृतविग्रहाणाम् ।
सुराऽलयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्रोतसं नौ लुलितं ववन्दे ।।३४।।

इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः ।
वेदिप्रतिष्ठान्विताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ।।३५।।

आधूय शाखाः कुसुमद्रुमाणां स्पृष्ट्वा च शीतान्सरयूतरङ्गान् ।
तं क्लान्तसैन्यं कुलराजधान्याः प्रत्युज्जगामोपवनान्तवायुः ।।३६।।

अथोपशल्ये रिपुमग्नशल्यस्तस्याः पुरः पौरसखः स राजा ।
कुलध्वजस्तानि चलध्वजानि निवेशयामास बली बलानि ।।३७।।

३३—उस (विन्ध्याचल) के घाट पर हाथियों का पुल बँधने से पच्छिम वाहिनी गंगा को उस उतरते हुए के लिए आकाश की ओर उड़ते हुए चंचल पंखों वाले हंस बिना यत्न ही चमर बने ।

३४—कपिल के कोप से देह की भस्म बचे पुरखों को स्वर्ग प्राप्त कराने वाले तीन सोतों के जल को, नावों से हिलते हुए को, उसने वन्दना की ।

३५—इस प्रकार कई दिन में मार्ग के अन्त पर सरजू का तीर प्राप्त करके कुश ने यज्ञ व्यवसाई रघुवंशियों के सैकड़ों यज्ञ खम्ब वेदियों में खड़े हुए देखे ।

३६—फूल के वृक्षों की शाखाओं को कुछ हिलाकर और सरजू की ठंडी लहरों से स्पर्श करके कुल राजधानी के उपवनों की पवन उस थकी हुई सेना वाले को आगे मिली ।

३७—तब उस पुरी के आस पास की भूमि में उस बलीराजा ने, बैरियों के बान मारने वाले ने पुरवासियों के सखा ने, कुल की ध्वजा ने, उन फुहराती हुई ध्वजा वाली सेनाओं को ठैराया ।

पच्छिम-बाहिनी - जान्हवी-पार, कियौ नृप नैं गज-सेतु बनाई ।
आवत ब्यौम सौं चंचल-पच्छ-मरालन-चामर-लौं छबि-छाई ।
पाय मुनीस कौ साप - कराल, भये हुते भस्म जो पूर्बज भाई ।
तारन-वारी, तिन्हैं तरनीनि सौं, चंचल गंगहि सीस नवाई ।।३३–३४
या बिधि पंथ - समापन कै, किते द्यौसनि मैं सरजू-तट-पाई ।
देखी तहाँ रघु-बंस - महीपन-जग्यनि - खंभनि - पंक्ति लुभाई ।
फूलनिवारे तरून हलाय, छुए-सरि - तीर - तरंग सोहाई ।
औध के बागनि की मिलि बायु, थकी नृप-सैनहिं भेंटन आई ।।३५–३६
औध पुरी के निवासनि कौ सखा, जो रघुबंस कौ केतु कहायौ ।
बानन की बरसा करिकैं, जेहिं बैरिन - बृन्दनि कौ बिचलायौ ।
वा नगरी की चहूँ - दिसि - भूमि मैं, आपनी चंड-चमूहिं टिकायौ ।
तुंग धुजानि कौ जूह कितौ, जेहि कौ नभ-मंडल मैं फहरायौ ।।३७

३३—हाथियों का पुल बँधा इससे पूर्व बाहिनी गंगा पच्छिम बाहिनी हो गई और हंस ऊपर को उड़े उनके पंख उस राजा के लिए मानो सहज ही चमर बन गए ।

३४—तीन सोतों वाला जल अर्थात् गंगाजल ।

तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां संभृतसाधनत्वात् ।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥३८॥
ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्घ्यप्रतिमागृहायाः ।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः ॥३९॥
तस्याः स राजोपपदं निशान्तं कामीव कान्ताहृदयं प्रविश्य ।
यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं संभावयामास यथाप्रधानम् ॥४०॥
सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरंगैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः ।
पूरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी ॥४१॥

३८—स्वामी के नियत किए हुए शिल्पकारों के झुंडों ने सामग्री इकट्ठी करके वह ऐसी दशा को गई हुई पुरी नई पुरी नई कर दी, मानो बादलों ने जल बरसाकर निदाघ की तपाई हुई भूमि ।

३९—तिस पीछे रघुवंशी वीर ने उपासे वास्तुविधि जानने वालों से बड़े मोल की मूर्तियों के मंदिरों वाली पुरी का पूजन पशुओं के बलिदान सहित कराया ।

४०—उसने उस (नगरी) के राजभवन में कान्ता के हृदय में कामी की नाईं प्रवेश करके मंत्री इत्यादि को यथोचित जैसी जिसकी प्रधानता थी दूसरे (भवन) देकर सम्मान किया ।

४१—घुड़सालों में बँधे हुए घोड़ों से और गजसालों में विधिपूर्वक गड़े हुए खम्बों से बँधे हाथियों से वह पुरी, हाटों में रक्खी हुई बेचने विसाहने की वस्तुओं वाली शोभित हुई, मानो सब अंगों में गहना पहने हुए स्त्री ।

सिल्प-क्रिया में बड़े-बड़े दच्छ जो, भूपति कौ तिन आयसु पाई ।
भौन-बनावन की पहिलैं, सिगरी उन सामैं लियौ मँगवाई ।
या बिधि भग्न भई नगरी कहँ, नूतन कै पुनि दीन्ह्यौं सजाई ।
ज्यौं बदरा - बुँदिया - बरसाय, हरी करै - भूमि - निदाघ तपाई ॥३८

जहाँ मंदिर-भव्य-बिसालनि मैं, दिपैं-देवन की प्रतिमा-पधराई ।
कुस - वा-पुरी की तब बिप्रन तैं, बलिदान दिबाय कैं पूजा कराई ।
जिमि सुन्दरी के हियैं-पीतम जात, गयौ तिमि आपु पुरी-नरराई ।
अरु मान्य जथा-पद-मंत्रिन कौं, दिये भौन, सबै-सुख-सामैं-भराई ॥३९-४०

हय-सालनि मैं बँधे बाजि तथा, गज-सालनि में बँधी नागन-बारी ।
लसी हाट की बस्तुन सौं इमि सो पुरी साजैं बिभूषन ज्यौं बर-नारी ।४१

३८—शिल्पकार=कारीगर ।

३९—निदाघ=जेठ असाढ़ की धूप । वास्तु विधि अर्थात् नए मन्दिर इत्यादि की पूजा की विधि ।

४०—नगरी है सोई मानो कान्ता है और राज भवन है सोई उसका हृदय है । जैसी जिसकी योग्यता थी वैसा ही घर उसको रहने के लिए कुश ने दिया ।

वसन्स तस्यां वसतौ रघूणां पुराणशोभामधिरोपितायाम् ।
न मैथिलेयः स्पृहयांबभूव भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय ।।४२।।
अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम् ।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम धर्मः प्रियावेषमिवोपदेष्टुम् ।।४३।।
अगस्त्यचिह्नादयनात्समीपं दिगुत्तरा भास्वति संनिवृत्ते ।
आनन्दशीतामिव वाष्पवृष्टिं हिमस्रुतिं हैमवतीं ससर्ज ।।४४।।
प्रवृद्धतापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी ।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम् ।।४५।।

४२—अगली शोभा को पहुँचाई हुई रघुवंशियों की उस नगरी में बसते हुए उस मैथिली सुत ने न स्वर्ग का और न अलका का भी स्वामी होना चाहा ।

४३—तब मानों उसे प्यारी का रत्न जटित ओढ़नी वाला, गोरे स्तनों पर बहुत लटकते हुए हारों वाला, स्वास से उड़ते हुए वस्त्रों वाला भेस दिखाने को घाम का समय आया ।

४४—अगस्त्य के चिन्ह वाले अयन से (अर्थात दक्षिण से) लौटकर सूरज पास आने पर उत्तर दिशा ने हिमालय की ठंडी धारा छोड़ी, मानो आनन्द के शीतल आँसुओं की बरसा ।

४५—अति ताप बढ़ा हुआ दिन और अति ही दुबली रात्री दोनों विरुद्ध आचरण करके अलग होने वाले पछताते हुए स्त्री पुरुष के समान हुए ।

सुखमा सब भाँति सौं ताकी हुती, रघुबंसिन जाकी करी रखवारी ।
तेहिं मैं बसि कैं कुस नैं अलका-सुरलोकहु की हिय साध न धारी ।।-४२
तावत, मंजु मनीनि औ' मानिक जाल,जरी चुनरी अतिसै मनभाई ।
गोरे उरोजन पै लटकैं, गज-मोतिन-हारन की बिमलाई ।
त्यौं मुख-साँस लगै जिहि को, अति झीन दुकूल हू जाइ उड़ाई ।
बेष प्रिया कौ बताइबे कौं अस, ग्रीषम ही रितु है मनौं आई ।।४३
त्यागि अगस्त्य-दिसा कौ जबैं, दिननाथ उदीची-पथैं नियरायौ ।
त्यौं हीं अनन्द के आँसुन सौं, दिग-उत्तरा सीत की धारै बहायौ ।
लागी निसा दुबरान तथा, दिन बाढ्यौ दिवाकर तापनि-तायौ ।
मानौं बिरोधी-अचार के दम्पति नैं, हिये के अनुतापै लखायौ ।।४४-४५

४२—इन्द्र और कुवेर को भी कुश ने कुछ न गिना ।

४३—घाम समय अर्थात् ग्रीष्स ऋतु ।

४४—मानो प्रोषित पतिका नायका को पति का समागम हुआ ।

४५—विरुद्ध आचरण अर्थात् विनती कलह इत्यादि ।

दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात्सोपानपर्वाणि विमुञ्चदम्भः ।
उद्दण्डषद्मं गृहदीर्घिकाणां नारीनितम्बद्वयसंबभूव ॥४६॥
वनेषु सायंतनमल्लिकानां विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु ।
प्रत्येकनिक्षिप्तपदःसशब्दं संख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार ॥४७॥
स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्के भूयिष्ठसंदष्टशिखं कपोले ।
च्युतं न कर्णादपि कामिनीनां शिरीषपुष्पं सहसा पपात ॥४८॥
यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान् रसेन धौतान्मलतोद्भवस्य ।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ॥४९॥
स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायंतनमल्लिकेषु ।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे वलमङ्गनानाम् ॥५०॥

४६—घर की बाबड़ियों का जल दिन पर दिन शिवाल उपजी हुई नीचे की सीढ़ियों को छोड़ता हुआ, खड़ी डंडी के कमलों वाला, स्त्री की कटितक (गहरा) रह गया ।

४७—बनों के बीच सन्ध्या समय की चमेली की कलियों में, खिलने के कारण उत्कट सुगन्ध-वालियों से, एक एक पर पैर रखते हुए गुंजार मान भौंरे ने मानो उनकी गिनती की ।

४८—कामिनी के कपोल पर पसीने से भीगे हुए नये नखच्छत चिन्ह वाले पर, अत्यन्त केसरा लिपटा हुआ सरस का फूल कान से छूट कर भी एका एकी न गिरा ।

४९—यन्त्र के ठंडे प्रवाहों से छिड़की हुई, मलयागिरि के जल से धोई हुई, विशेष प्रकार की चटानों पर जल मन्दिरों में सोकर धनवानों ने दुपहरी बिताई ।

५०—स्त्रियों के केशों से, स्नान के गीलों में, सोंधा लगाने के लिये खोले हुओं में, सन्ध्या की चमेली रक्खे हुओं में बसन्त बीतने से पराक्रम घटे हुए कामदेव ने बल पाया ।

गृह-बापिका-नीर सिवार जम्यौं, जल नै क्रम सौं सब सीढ़िहुँ त्यागीं ।
गहिरौ रह्यौ नारिन की कटिलौं, जामैं नालैं-सरोजिनी-दीसन लागीं ।
बन मैं भये साँझ चमेलिन की, कलियान-सुगंधिन के रस-पागीं ।
पग सीस पै दै भ्रमरावली गूँजि, मनौं तिनकी गिनती करें लागीं ॥४६-४७

स्वेद-समोये नखच्छत बारे, तियानि-सुगोल-कपोलनि-माहीं ।
केसरि सौं लस्यौ फूल-सिरीषकौ, स्रौन खस्यौ पै गिर्यौ महि नाहीं ।
धोय कै चंदन के जल सौं, छिरकौ जल-जंत्रनि सौं जिनकाहीं ।
ऐसी सिलानि पै सोय धनीन नैं, द्यौस के तापै मिटायौ तहाँ हीं ॥४८-४९

साँझ चमेली-गुँथे-तिय-केसनि, न्हाय, सुखाय, सुगंध-धुपायौ ।
खोयौ जो काम, बसंत गये बल, सौ तिन दै, फिरि कैं उमगायौ ।५०

४८—केसरा अर्थात् फूल के ऊपर जो बाल सरीखे होते हैं ।

४९—यन्त्र=कल जैसे पिचकारी इत्यादि ।

आपिञ्जरा बद्धरजःकणत्वान्मञ्जर्युदारा शुशुभेऽर्जुनस्य ।
दग्ध्वापि देहं गिरिशेन रोषात्खण्डीकृता ज्येव मनोभवस्य ॥५१॥

मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराणशीधुं नवपाटलं च ।
संबध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः ॥५२॥

जनस्य तस्मिन्समये विगाढे बभूवतुर्द्वौ सविसेषकान्तौ ।
तापापनोदक्षमपादसेवौ स चोदयस्थौ नृपतिः शशी च ॥५३॥

अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वाः ।
विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥५४॥

स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम् ।
विगाहितुं श्रीमहिमानुरूपं प्रचक्रमे चक्रधरप्रभावः ॥५५॥

५१—रज के कण लगने से अर्जुन (वृक्ष) की अच्छी लाल मंजरी शोभायमान हुई, मानो देह जलाकर भी कोपित महादेव की तोड़ी हुई कामदेव की प्रतिचा ।

५२—मनोहर सुगन्धिवान आम के पत्ते और पुरानी मदिरा और नए पाटल के फूल इकट्ठा करने वाली ग्रीष्म ऋतु ने कामी पुरषों के सब दुःख मिटा दिये ।

५३—उस कठिन समय में पादसेवा से ताप मिटाने को समर्थ दो उदयवान प्रजा को अति प्यारे हुए, वह राजा और चन्द्रमा ।

५४—तब सरजू के जल में, तरंगों के लोभी उन्मत्त राजहंसों वाले में, तीर की लताओं के फूल बहाने वाले में, ग्रीष्म के सुखकारी में, उस स्त्रियों के सखा की इच्छा बिहार करने की हुई ।

५५—तम्बू तने हुए तीर वाली उस (नदी) को, जाल वालों की मगर निकाली हुई को, वह विष्णु प्रभावी अपनी लक्ष्मी और महिमा के अनुसार गाहने लगा ।

लागै, परागन-अर्जुन-बृच्छन, मंजरी-पीतन रूप, यौं भायौ ।
राजी जो, काम-सरासन-डोरिज्यौं, कोपि कै जाहिं महेश जरायौ ॥-५१
बहु-बासर कौ मधु, पाटल-फूल-रसालन-बौर-सुगंधि-पगौ ।
इमि, ग्रीषम देइ बिलासिन कौं, बिलगायौ, जो हो दुख-दुन्द खँगौ ।
नृप और निदाध की दारुन ताप-हटावनहार मयंक जगौ ।
इन द्यौसनि यौं, दुहुँ कौ पद-सेवन-दैबो, प्रजा-कहँ प्यारौ लगौ ॥५२-५३
तुंग तरंग के लोभी जहाँ, कल कूजैं मराल महा मुददाई ।
त्यौं तट-लोध-लता-पुहपानि कौं, धारन संग लै जाति बहाई ।
वा सरजू के सुपावन नीर मैं, जो अति ग्रीसम मैं सुखदाई ।
साध भई नृप की बनितान के, संग करैं जल-केलि अघाई ॥५४
केते बितान तनैं तट पै, जहाँ, जालनि-नक्रनि-दीन्ह्यौ-निकारी ।
श्री-महिमा-अनुरूप तहाँ, नृप बिष्णु-लौं लाग्यौ बिहारै सुखारी ।५५

५३—पाद सेवा=चरनों अथवा किरणों की सेवा। ताप=दुःख अथवा गरमी ।

सा तीरसोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः ।
सनूपुरक्षोभपदाभिरासीदुद्विग्रहंसा सरिदङ्गनाभिः ॥५६॥

परस्पराभ्युक्षणतत्पराणां तासां नृपो मज्जनरागदर्शी ।
नौसंश्रयः पार्श्वगतां किरातीमुपात्तवालव्यजनां बभासे ॥५७॥

पश्यावरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः ।
संध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः ॥५८॥

विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं नौलुलिताभिरद्भिः ।
तद्बध्नतीभिर्मदरागशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमाशाम् ॥५९॥

एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः ।
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते ॥६०॥

५६—तीर की सीढ़ियों का मार्ग उतरने में एक दूसरी के भुजबन्दों को रगड़ती हुई स्त्रियों से, बजते हुए नूपुरों सहित पैर रखती हुईयों से, वह (नदी) भयभीत हंसों वाली हुई ।

५७—उन आपस में जल फेंकती हुईयों के नहाने की शोभा देखने के अभिलाषी राजा ने, नाव पर बैठे हुए ने, चमर लिए हुए पास खड़ी हुई किराती से कहा ।

५८—देख मेरे रनवास की सैकड़ों स्त्रियों से, अंगराग धुली हुइयों से, झकोरे पाकर सरजू की यह धारा अनेक रंग दिखाती है, मानो बादलों सहित सन्ध्या का उदय ।

५९—रनवास की स्त्रियों का जो कज्जल नाव के हिलाए हुए जलों ने हर लिया था वही उनको मदराग की शोभा दरसाते हुए (जलों) ने फिर आँखों में दिया है ।

६०—भारती नितम्बों और स्तनों के कारण अपने शरीर के ले चलने में असमर्थ ये स्त्री खेल के वश दुःख सहती हुई भी गाढ़े भुजबन्द बँधी हुई बाँहों से पैरती हैं ।

सीढ़िन पैं उतरैं-लगी बामा, घिसातीं-बिजायठ-भूषन-धारी ।
नूपुर की धुनि कौं सुनि राज-मरालन हीयं भयौ भय भारी ॥५६
आपुस मैं मिलि लागीं करैं जब, भामिनियाँ जल-केलि अतोलौ ।
न्हान की सोभा लखै-लग्यौ भूप, तबै तरनी पैं चढ़ौ बनौं भोलौ ।
पास ही ठाढ़ी किराती लखै, कर-कंजनि मैं लियैं चौंर अमोलौ ।
मंद-ही-मंद कछू मुसकाय कैं, ताहि निहारि यौं भूपति बोलौ ॥५७
"मो-रनिवास-तियानि रँग्यौ-अंगराग-सौं जो सरजू-बर-बारी ।
साँझ-घनावली की लखौ, वा नैं, लई छबि-छीनि मनौं इमि सारी ।
नाव-बिलोलित-नीरन - नारिन - नैननि - अंजन लीन्हौं निकारी ।
पै तिन के मद-रागनि की, सुखमा-दरसाय दियौ मनौं डारी ॥५८-५९
अति-पीन-नितम्ब-पयोधरीं कष्ट सौं, गातनि नारीं उठावती हैं ।
तऊ पैरिबे कौं, भुज-बन्द-बँधीं, जल-केलि मैं, बाहैं चलावती हैं ।६०

५६—उस नदी के हंस डर गए ।

५७—किराती=चमर हिलाने वाली दासी ।

अमी शिरीषप्रसवावतंसाः प्रभ्रंशिनी वारिविहारिणीनाम् ।
पारिप्लवाःस्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलाँश्छलयन्ति मीनान् ॥६१॥
आसां जलास्फालनतत्पराणां मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु ।
पयोधरोत्सर्पिषु शीर्यमाणः संलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपिहारः ॥६२॥
आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्दचराः स्तनानाम् ।
जातानि रूपावयवोप मानान्यद्रवर्तीनि विलासिनीनाम् ॥६३॥
तीरस्थलीबर्हि भिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम् ।
श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रवतमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम् ॥६४॥
संदष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बेष्वित्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः ।
अमी जलापूरितसूत्रमार्गा मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥६५॥

६१—जल क्रीड़ा करने वालियों के ये गिरे हुए सिरस फूल के गहने नदी की धार में तैरते हुए शिवाल की लोभिन मछलियों को धोखा देते हैं।

६२—इन जल झकोरती हुईयों के टूटे हार भी मोतियों को लजाने वाली बूँदों में, स्तनों पर उछलती हुईयों से, टूटे नहीं जाने जाते।

६३—गहरी नाभि की शोभा को भमर की शोभा भोंहों को तरंग, स्तनों को चकवा चकवी के जोड़े ये उपमा बिलासिनियों के रूप के अवयवों को निकट ही प्राप्त हैं।

६४—तीर के स्थानों में बसने वाले मोरों की, उठाई हुई पूँछ वालों की, मधुर अलापियों की सराही हुई इन स्त्रियों के पानी रूपी मृदंग की प्यारी ध्वनि, गीत के साथ चलने वाली, कानों में पड़ती हैं।

६५—अबलाओं के नितम्बों पर कपड़ा लपेटे हुओं पर ये पानी भरे हुए छेदों वाले तागड़ी के घुँघरु चाँदनी से ढके हुए तारों की नाईं मौन साध रहे हैं।

तिन-काननि-सौं खसे जो अवतंस-सिरीष के, धार मैं पावती हैं।
तिन हीं सौं, सिवारिनि-लोभिनियाँ-मछरीं-निज-बुद्धि-भ्रमावती हैं॥-६१
पानी-उछारिबे मैं इन के, मुकतान के हार तबै टूटि जात हैं।
तौऊ उरोजनि पै परिकैं, मोतियान-सी बूँदनि पैं न लखात हैं।
नाभि-गँभीर-से भौंर लसे जहाँ, भौंहनि-से लहरा लहरात हैं।
पासे-उरोज-से जोटे लसे चक, अँगना-अंगोपमा-दरसात हैं॥६२-६३
पूँछ उठाइ कैं, नाचि अलापि कैं, मंजु कलापिन, जाहिं सराही।
बारि-मृदंग की सो धुनि, स्रौननि-गीतन-संग - छई, मन-चाही।
दिब्य-दुकूलनि-सौं लिपटीं, बनितानि-नितंबनि, जो रसना हीं।
चाँदनी-सौं ढँके तारनि-लौं, घुँघरू जल-सौं भरे बोलत नाहीं॥६४-६५

६१—सिरस फूलों को शिवाल आनकर मछली उछलती है।

एताः करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः ।
वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान्वारिलवान्वमन्ति ॥६६॥

उद्बन्धकेशश्च्युतपत्रलेखो विश्लेषिमुक्ताफलपत्रवेष्टः ।
मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेषः ॥६७॥

स नौविमानादवतीर्य रेमे विलोलहारः सह ताभिरप्सु ।
स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मनीकः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥६८॥

ततो नृपेणानुगताः स्त्रियस्ता भ्राजिष्णुना सातिशयं विरेजुः ।
प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्र नीलं किमुतोन्मयूखम् ॥६९॥

वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन् ।
तथागतः सोऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः ॥७०॥

६६—घमंड में पानी की धारा को हाथ से उछालती हुई मुखों पर सखी की भिगोई हुई, ये तरुणी सीधी नोक की अलकों से कुमकुम के रंगवाली लाल बूँद बरसाती हैं ।

६७—छुटे केशों वाला, धुलीं हुई अंगरचना वाला, खुले मोतियों के कर्ण फूलों वाला, प्रमदाओं के मुख का भेस जल क्रीड़ा से व्याकुल भी मनोहर ही हैं ।

६८—नाव रूपी विमान से उतर कर उस लटकते हुए हार वाले ने उनके साथ जल में बिहार किया, जैसे उखाड़ी हुई कमलिनी को कंधे पर डाले हुए बन के हाथी ने हथनियों के साथ ।

६९—तब दीप्तमान राजा के संग वे स्त्रियां अति शोभायमान हुईं, मोती आप ही मनोहर होते हैं फिर अति कान्तिमान इन्द्रनील (मणि) का साथ पाने पर क्या कहना है ।

७०—सोने के शंग से छूटे हुए रंगीले जलों से उसको बड़ी आँख वालियों ने प्रेम सहित भिगोया, ऐसी अवस्था को जाकर वह अति शोभायमान दीखा, जैसे गेरू इत्यादि धातु के झरनों सहित गिरिराज ।

गोरीं-गुमानिनीं, नीर सखीन पै, वे उनहूँ पै उलीचि, जो डारतीं ।
कुँकुमी-रंग चवै-अलिकानि सौं, सो,मनौं वे ताहि लाल ज्यों ढारतीं ।
केस खुले, धुले आनन की, रचना, मोतिया-अवतंस बगारतीं ।
यौं जल-केलि मैं बूड़ीं सबै, बनिता-मुख-मंजु-प्रभानि कौं धारतीं ॥६६-६७

नाव-बिमान सौं हालत-हार, तबै नृप नैं सरि मैं पग दीन्हौं ।
औ' जल-केलि करै लगौ सो, बहुभाँति-तियानि-सौं आनन्द भीन्हौं ।
सो लस्यौ यौं, नलिनीनि उपारि, मनौं अपनैं धरि कंध पै लीन्हौं ।
औ' बन-बारन नैं करनीनि के संग, बिहार सबै बिधि कीन्हौं ॥६८

दीपति देह-प्रभा नरनाह सौं, सोहीं सबै तियाँ यौं छबि धारी ।
मोती मनोहर, नीलम सौं मिलि, ज्यौं अपनी छटा देत बगारी ।
दीरघि-नैननि भूपै रँग्यौ जबै, कंचन-सृंगनि-रंगहिं-ढारी ।
गेरुआ-निर्झरवारे-नगेन्द्र-लौं सोह्यो तबै लहि आभा-निनारी ॥६९-७०

६६—बालों में कुमकुम लगा था उससे पानी की लाल बूँद टपकी ।

७०—शंग=पिचकारी और पहाड़ का शिखिर ।

तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम् ।
आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः ।।७१।।
यत्कुम्भयोनेरधिगम्य रामः कुशाय राज्येन समं दिदेश ।
तदस्य जैत्रामरणं विहर्तुरज्ञातपातं सलिले ममज्ज ।।७२।।
स्नात्वा यथाकाममसौ सदारस्तीरोपकार्या गतमात्र एव ।
दिव्येन शून्यं वलयेन बाहुमपोढनेपथ्यविधिर्ददर्श ।।७३।।
जयश्रियः संवननं यतस्तदमुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात् ।
सेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः ।।७४।।
ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान् ।
वन्ध्यश्रमास्ते सरयूं विगाह्य तमूचुरम्लानमुखप्रसादाः ।।७५।।

७१—उस रनवास की स्त्रियों के सखा ने, उस श्रेष्ठ नदी को गाहते हुए ने, आकाश गंगा में विहार करने वाले अप्सराओं के सखा इन्द्र की होड़ की।

७२—अगस्त से पाकर जो राम ने कुश को राज्य के साथ दिया था वह उस बिहार करने वाले का जय शील गहना बिना जाने गिर कर जल में डूब गया।

७३—स्त्रियों सहित इच्छापूर्वक नहाकर तीर के तम्बू में जाते ही उस बिना कपड़े पलटे हुए ने दिव्य भुजबन्द से बाँह सूनी देखी।

७४—इसलिये कि जयश्री का वशीकरण था और इसलिये कि आगे बाप का पहना हुआ था था उस आभूषन का खोना (उसने) न सहा न कि लोभ से, क्योंकि उस विद्वान को फूल और गहने तुल्य थे।

७५—तब नदी में धसने वाले सब धीमरों को उसने ढूँढने के लिये तुरन्त आज्ञा दी गई। सरजू को गाह कर वे वृथा श्रम वाले, बिना बिगड़ी हुई सुख कान्ति वाले, उससे बोले।

अवरोध-निकेत की बामनि कौ सखा, यौं सरजू सरि माहिं अन्हायौ ।
नभ-गंग-दिवांगना-इन्द्र-बिहार सौं, मानौं महीप नै होड़ै लगायौ ।
जेहि दीन्हौं अगस्त-मुनीस नैं राम कौं, राज-समै कुस नैं जेहिं पायौ ।
'जय-सील' बिजायठ सो नृप नैं, जल-केलिन मैं अनजानैं बहायौ ।।७१-७२

यौं प्रमदानि सौं कै जल-केलि, प्रसाधन-धाम गयौ प्रिय-भेखी ।
बस्त्रन - धारन - पूरब ही, भुजबंद - बिहीन - भुजा-निज-देखी ।
भूषन-फूल नृपै, लोभ ना हो, सक्यौ सहि ना गिरिबौ गुन-पेखी ।
कारन सोई रह्यौ जय कौ, पहिर्‌यौ पितु नैं यह जानि बिसेखी ।।७३-७४

तब तौ जल-थंभन-वारे अनेकन, धींवर-बृन्दनि कौं बुलवायौ ।
सरजू-अवगाहि - निरास, तऊ तिन, यौं खिलते-मुख-बृत्त-सुनायौ ।७५

कृतः प्रयत्नो न च देव लब्धं मग्नं पयस्याभरणोत्तमं ते ।
नागेन लौल्यात्कुमुदेन नूनमुपात्तमन्तर्ह्रदवासिना तत् ॥७६॥
ततः स कृत्वा धनुराततज्यं धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः ।
गारुत्मतं तीरगतस्तरस्वी भुजंगनाशाय समाददेऽस्त्रम् ॥७७॥
तस्मिन्ह्रदः संहितमात्र एव क्षोभात्समाविद्धतरङ्गहस्तः ।
रोघांसि निघ्नन्नवपातमग्नः करीव वन्यः परुषं ररास ॥७८॥
तस्मात्समुद्रादिव मथ्यमानादुद्धृत्तनक्रात्सहसोन्मज्ज ।
लक्ष्म्येव सार्धं सुरराजवृक्षः कन्यां पुरस्कृत्य भुजंगराजः ॥७९॥
बिभूषणप्रत्युपहारहस्तमुपस्थितं वीक्ष्य विशांपतिस्तम् ।
सौपर्णमस्त्रे प्रतिसंजहार प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः ॥८०॥

७६—हे देव यत्न किया गया परन्तु तुम्हारा जल में डूबा हुआ उत्तम गहना न मिला, निश्चय उसको दह के भीतर रहने वाला कुमुद नाम नाग लोभ से ले गया ।

७७—तब धनुष को प्रतिंचा चड़ा हुआ करके उस धनुषधारी ने कोप की लाल आँखों से तीर पर गए हुए बली ने साँप के नाश निमित गरुडास्त्र लिया ।

७८—उस (अस्त्र) के सन्धान होते ही डरके मारे तरंगरूपी हाथ जोड़े हुए दह ने, तट को गिराते हुए ने, कठोर शब्द किया, मानो गढ़े में पड़े हुए वन के हाथी ने ।

७९—मथन होते हुए समुद्र सरीखे उस (दह) से, डरे हुए मगरों वाले से, तुरन्त साँपों का राजा कन्या आगे लिए हुए निकला, मानो लक्ष्मी सहित इन्द्र का वृक्ष (पारिजात) ।

८०—उस गहने की भेंट हाथ में लिए हुए को सामने आया देखकर नरनाह ने गरुडास्त्र उतार लिया, सज्जन मनुष्य विनती करने वालों पर शान्त कोप होते ही हैं ।

"करि हारे अनेक उपायनि कौं, पै न उत्तम-भूषन-रावरौ पायौ ।
निहचै गहिरे - जल-वासी कुमूदहि, नाग प्रलुब्ध नैं बाहि चुरायौ ॥"७६
कोप सौं राते बिलोचन कै, कुस नैं तब चोपि कैं चाप-चढ़ायौ ।
नागहिं बेगि-बिनासिबे के हित, पानि मैं गारुड़-अस्त्रहि लायौ ।
त्यौं जोरे दोऊ, तरंग-से पानि, कियौ दह-रोर,यौं कूलनि-ढायौ ।
गर्त मैं ज्यौं गिरतौ गजराज-बनैलौ बड़े जोर सौं किकियायौ ॥७७-७८
मंथन-कीन्हैं-समैं ज्यौं नदीस के, वा दह के सबै नक्र डराये ।
लच्छिमी औ' सुर-रूख-समान हीं, नाग लै कन्यहिं आयौ प्रभाये ।
देख्यौ, बिजायठ-भेंट लियैं अहि, अस्त्रै महीप उतार्‌यौ सुभाये ।
सत्य, सदा छम्यौं सज्जन नैं, नत-मस्तकै, सील-सनेह-सुहाये ॥७९-८०

७७—गरुडास्त्र=जो अस्त्र गरुड़ से मिला अथवा जिसका देवता गरुड़ था ।

त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान् ।
मानोन्नतेनाष्यभिवन्द्य मूर्ध्ना मूर्धाभिषिक्तं कुमुदो बभाषे ॥८१॥
अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोःसुताख्यामपरां तनुं त्वाम् ।
सोऽहं कथं नाम तवाचरेयमाराधनीस्य धृतेर्विघातम् ॥८२॥
कराभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन ।
हृदात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम् ॥८३॥
तदेतदाजानुविलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन ।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन ॥८४॥
इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुद्वतीं नाहसि नानुमन्तुम् ।
आत्मापराधं नुदतीं चिराय शुश्रूषया पार्थिव पादयोस्ते ॥८५॥

८१—त्रिलोकीनाथ के जाए हुए कुश को, प्रभाव में बैरियों के अंकुश को, अभिषेक किए हुए, को, अस्त्र ज्ञानी कुमुद ने मान के कारण उठे हुए सिर से प्रणाम करके कहा ।

८२—मैं तुम को कार्य निमित मनुष्य रूप (लेने वाले) विष्णु का पुत्र नाम आत्मा जानता हूँ, सो मैं तुम उपासना योग्य की प्रीति के तोड़ने को कैसे आचरन करता ।

८३—थाप लगने से उठी हुई गेंद वाली इस लड़की ने तुम्हारा जयशील गहना दह में गिरता हुआ आकाश से गिरते हुए तारे की नाईं देख कर अति कुतूहल से ले लिया ।

८४—सो यह तुम्हारी जाँघ तक लटकती हुई भुजा को, प्रत्यंचा के चिन्ह से आभूषित को, भूमि की रक्षा में अर्गला समान बलवान को, फिर प्राप्त हो ।

८५—और हे राजा मेरी इस छोटी बहन कुमुदवती को, तुम्हारे चरनों की नित्य सेवा से अपना अपराध मिटाने की इच्छावती को, तुम लेने के योग्य हो ।

तीनिहूँ लोकनि के अधिराज के, पुत्र कुसै, अरि-अंकुस जानी ।
औध की सारी प्रजा-अभिषेक, कियौ मन मैं अति सै मुदमानी ।
नाग नैं सीस उठाय प्रनाम, कियौ सबै अस्त्रनिकौ हो जो ग्यानी ।
वा नृप सौं सकुचाय कछू, पुनि या बिधि बोल्यौ गिरा-रस-सानी ॥८१
"काज-बिसेष-हितै-नर रूप, धरौ उन बिस्नु-तनै-तुम्हैं चीन्हौं ।
या लगि रावरे पूज्य महीप सौं, तोरिबौ-प्रीति नहीं मन दीन्हौं ।
थाप-लगे उठे-कंदुक और, बिभूषन मैं कछू भेद न कीन्हौं ।
ब्यौम सौं टूटे नछत्रहिं मानि, सुता एहि कौतुक ही गहि लीन्हौं ॥८२-८३
अर्गला-सी महि-रच्छन मैं, अरु मौरबी-अंक लगी छबि-भींजिए ।
जानु लौं लाँबी भुजा मैं बहोरि, या भूषनैं-भूप ज्यौं धारन कीजिए ।
त्यौं कर-पल्लव-मो-लहुरी- भगिनी कौं, महीप मया-करि-लीजिए ।
कीजै छिमा यहि के अपराधहिं, औ' मिलि बर्ष हजारलौं जीजिए ॥"८४-८५

८२—पुत्र भी आत्मा ही है ।

इत्यूचिवानुपहृताभरणः क्षितीशं
श्लाघ्यो, भवान्स्वजन इत्यनुभाषितारम् ।
संयोजयां विधित्वदास समेतबन्धु,
कन्यामयेन कुमुदः कुलभूषणेन ॥८६॥

तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते,
माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य ।
दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचररुद्व्यश्नुवानो दिगन्तान्,
गन्धोदग्रं तदनु ववृषुः पुष्पमाश्चर्यमेघाः ॥८७॥

इत्थं नागस्त्रिभुवनगुरोरौरसं मैथिलेयं,
लब्ध्वा बन्धुं तमपि च कुशः पंचमं तक्षकस्य ।
एकः शङ्कां पितृवधरिपोरत्यजद्वैनतेया,
च्छान्तव्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास ॥८८॥

८६—इस प्रकार कहते हुए आभूषन फेरने वाले कुमुद ने, बान्धवों सहित ने, तुम बड़ाई के योग्य सम्बन्धी हो । ऐसा कहते हुए राजा को कन्यारूपी कुल भूषण भेंट किया ।

८७—धर्म आचरण निमित उसका मंगलीक ऊनी कंकन वाला हाथ प्रज्वलित अग्नि के सामने राजा के पकड़ने पर दिशाओं में पूरी हुई दिव्य तुरहियों की ध्वनि उठी, तिस पीछे अद्भुत बादलों ने अच्छे सुगन्धित फूल बरसाए ।

८८—इस भाँति नाग ने त्रिभुवन गुरु के पुत्र को, जानकी के बेटे को, और कुश ने भी तक्षक के उस पाँचवे (बेटे) को सम्बन्धी पाकर एक ने बाप के मारने वाले बैरी गरुड़ का डर छोड़ा दूसरे प्रजाकान्त ने शान्त सर्पों वाली पृथ्वी पर राज किया ।

हरिगीतिका

यहि भाँति कहि मृदुबैन केतिक प्रनत-भाव दिखायकैं ।
सौंप्यौ बिजायठ नृपति-कर बहु बिनय 'कुमुद' सुनायकैं ।
निज कुल-रतन कन्या 'कुमुदवनि' रूप-लावनितामयी ।
कर-जोरि कुसहिं निहोरि बिधिवत सौंपि कर-कंजनि दयी ॥८६

कवित्त

सहधर्म-पालन के हेतु वह मंगलीक, ऊनाम्बर - कंकन - बलित - बनिता कौ हाथ ।
साखी करि ज्वलित-कृसानु की सिखा के आगैं, कीन्हौं अति मोद मानि ग्रहन प्रजा के नाथ ।
पूरी ज्यौंही ब्योम देव - तुरही - तुमुल - धुनि, दसहूँ दिसान छाई नृप के सुजस-साथ ।
त्यौंही दिब्य-घन बरसायौ ब्यौम-मंडलतैं, सुरभि-सुगन्ध-सनौं - मंजुल-पुहुप - पाथ ॥८७
येहि विधि त्रिभुबन-नाथ अरु मैथिली के, पुत्र सौं कुमुदनाग अति दृढ़ नातौं जोरि ।
तच्छक के पाँचयें तनै कौं नातेदार मानि, प्रीति-निरबाह मैं न रह्यौ कुस मुख-मोरि ।
इमि नाग निज-बंस-घाती पच्छिराज सन, संकहिं बिहाय दीन्हौं सब-भय-जाल-तोरि ।
तिमि दसरथ-सुत-तनै इतै ब्याल-भीति-रहित धरा पै सुभ सासन कियौ बहोरि ॥८८

———

॥ सप्तदशः सर्गः ॥

अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रं प्राप कुमुद्वती ।
पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥१॥

स पितुः पितृमान्वंशं मातुश्चानुपमद्युतिः ।
अपुनात्सवितेवोभौ मार्गावुत्तरदक्षिणौ ॥२॥

तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः ।
पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता ॥३॥

जात्यस्तेनाभिजातेन शूरः शौर्यवता कुशः ।
अमन्यतैकमात्मानमनेकं वशिना वशी ॥४॥

स कुलोचितमिन्द्रस्यसहायकमुपेयिवान् ।
जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि ॥५॥

सत्रहवाँ सर्ग

१—अतिथि नाम बेटा काकुत्स्य (कुश) से कुमुद्दती ने पाया, जैसे बुद्धि ने रात के पिछले पहर से उजाला ।

२—उस भली भाँति शिक्षा किए हुए ने माता और पिता के दोनों कुल पवित्र किए, जैसे सूरज ने उत्तर और दक्षिन दोनों मार्ग ।

३—अर्थ ज्ञानियों के मुखिया पिता ने उसको पहले कुल विद्याओं का अर्थ ग्रहण कराया पीछे राजाओं की कन्याओं का हाथ ।

४—उस कुलीन जितेन्द्री सूरबीर (पुत्र) से उस कुलीन जितेन्द्री सूरवीर (राजा) ने अपने एक शरीर को अनेक माना ।

५—कुल की रीति अनुसार इन्द्र की सहायता को जाकर उसने संग्राम में दुर्जय दैत्य मारा और उसके हाथ से आप मरा ।

सत्रहवाँ सर्ग

दोहा

कुमुदवती, कुस-जोग सौं, इमि लह्यौ 'अतिथि' साह्लाद ।
पिछली जामिन - जाम - जिमि, लहै चेतना-प्रसाद ॥१
जननि - जनक के बंस दोउ, सुवन अनूपम जाय ।
उत्तर - दच्छिन दिसि - सरिस, पूत भये रवि-पाय ॥ २
अर्थ-गुनी-पितु, तेहिं प्रथम, कुल-बिद्यान-पढ़ाय ।
बहुरि राज-कन्यानि कौ, दीन्ह्यौं कर-पकराय ॥ ३
बसी-कुलीन - बरिष्ठ - सुत, पायौ निज अनुरूप ।
या लगि अपनैं कौं गुन्यौं, अमित-रूप-कुस भूप ॥ ४
करि सहायता सक्र की, कुल-मरजाद-निभाय ।
दुर्जय - बधि, गयौ स्वर्ग कौं, कुसहु बीर-गति पाय ॥ ५

३—कुलविद्या=त्रयी, वार्ता आन्वीक्षिकी, दंडनीति ।

तं स्वसा नागराजस्य कुमुदस्य कुमुद्वती ।
अन्वगात्कुमुदानन्दं शशांकमिव कौमुदी ॥६॥
तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक् ।
द्वितीयापि सखी शच्याः पारिजातांशभागिनी ॥७॥
तदात्मसंभवं राज्ये मन्त्रिवृद्धाः समादधुः ।
स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां भर्तुः संग्रामयायिनः ॥८॥
ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः ।
विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥९॥
तत्रैनं हेमकुम्भेषु संभृतैस्तीर्थवारिभिः ।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥१०॥

६—सर्पों के राजा कुमुद की बहन कुमुद्दती उसके पीछे गई, जैसे कुमुदानन्द चन्द्रमा के पीछे चाँदनी ।

७—उन में से एक इन्द्र के आधे सिंघासन का भोगने वाला हुआ दूसरी भी पारिजात के अंश में भाग लेने वाली इन्द्रानी की सखी हुई ।

८—संग्राम को जाते हुए स्वामी की पिछली आज्ञा सुध करके बूढ़े मंत्रियों ने उसका पुत्र राजपर बिठाया ।

९—उन्होंने उसके अभिषेक निमित शिल्पकारों से चार खम्बों के बीच में वेदी सहित नया मंडप बनवाया ।

१०—वहाँ सोने के कलसों में भरे हुए तीर्थजल ले ले कर मंत्री उस भद्र पीठ (सिंघासन) पर बैठे हुए के सन्मुख गए ।

कुमुदवती-अहिपति - भगिनि, गई इमि नृप-कुस साथ ।
जैसें, गवनैं कौमुदी, साथ-कुमुदिनीनाथ ॥ ६
अर्ध-सिंघासन सक्र जिमि, दियौ कुसहिं सनमानि ।
तिमि सचि-सखि, भागिनि-भई, पारिजात, नृप-रानि ॥ ७
दियौ बृद्ध मंत्रिन तबैं, उनके सुतकों राज ।
दै निदेस गये जुद्ध कौं, जो कुस, जब हरि-काज ॥ ८
तासु राज - अभिषेक - हित सिल्पिन कौं बुलवाय ।
उच्च-बेदि-चौखम्भजुत, सचिवन लियौ बनाय ॥ ९
गये तहँ बृद्ध-अमात्य-जन, हेम-कलस लै हाथ ।
भरे - तीर्थ - जल, जहँ लसै, भद्रपीठ - नरनाथ ॥१०

९—शिल्पकार=कारीगर ।

१०—भद्रपीठ=सिंघासन विशेष ।

नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः ।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसंततिः ॥११॥

दूर्वायवांकुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान् ।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥१२॥

पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैवैरथर्वभिः ।
उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः ॥१३॥

तस्यौघमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत ।
सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः ॥१४॥

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स बन्दिभिः ।
प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः ॥१५॥

तस्य सन्मन्त्रपूताभिः स्नानमद्भिः प्रतीच्छतः ।
ववृधे वैद्युतस्याग्नेर्वृष्टिसेकादिव द्युतिः ॥१६॥

११—मधुर गंभीर ध्वनि से बजती हुई तुरहियों ने उसका अटल कल्यान अनुमान कराया ।

१२—दूब और यवांकुर और बड़ की छाल और महुए के फूल सहित आर्ती उसने जाति के बूढ़ों से पाई ।

१३—पुरोहित को आगे लिए हुए ब्राह्मनों ने पहले उस जयशील को जीत के स्वभाव वाले अथर्व (मंत्रों) से अभिषेक कराना आरम्भ किया ।

१४—उसके सिर पर शब्द सहित गिरती हुई अभिषेक की बड़ी धारा शोभायमान हुई, मानो त्रिपुरारी (महादेव) के ऊपर गंगा ।

१५—उस समय बन्दीजनों की स्तुतियों से फूला हुआ वह चातकों के सराहे हुए मेघ के समान दिखाई दिया ।

१६—उस मंत्रों के पवित्र जलों से नहाते हुए की कान्ति बढ़ी जैसे मेह के भिगोने से बिजली की अग्नि ।

पुष्कर - तूर - गँभीर - धुनि, करवायौ अनुमान ।
ह्वै है नवल-नरेस कौ, अटल-राज-सनमान ॥११
कुल-बृद्धनि - नृप-आरती, करी मुदित तेहिं काल ।
दूब, जवाँकुर, कौंल-कलि, अरि धरि पीपल-छाल ॥१२
आगैं करि उपरोहितहिं बिप्रन-बिमल बिवेक ।
बेद-अथरबन - मंत्र - बिधि, कियौ राज अभिषेक ॥१३
सब्द-सहित अभिषेक-जल, नृप - सिर - परत अपार ।
इमि सोह्यौ, जिमि सीस - सिव, गिरत गंग की धार ॥१४
बदत - बंदि - बिरुदावली, सौह्यौ नृप यहि भाँति ।
जथा नील - नीरद निरखि, बंदति-चातक-पाँति ॥१५
बाढ़ी वा की औप इमि, मंत्र - पूत - जल-न्हाय ।
जिमि छिटकत तड़िका-चमक, बारिद - बरसा पाय ॥१६

स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु ।
यावतैषां समाप्येरन्यज्ञः पर्याप्तदक्षिणाः ॥१७॥
ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन् ।
सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः ॥१८॥
बन्धच्छेदं स बद्धानां बधार्हाणामवध्यताम् ।
धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद्गवाम् ॥१९॥
क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः ।
लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्टगतयोऽभवन् ॥२०॥
ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचिः ।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः ॥२१॥

१७—अभिषेक के अन्त पर उसने स्नातकों को इतना धन दिया जिससे उनके पूरी दक्षिना वाले यज्ञ समाप्त हुए ।

१८—उन प्रसन्न मन वालों ने जो असीस दी सो उसके कर्मों से सिद्ध किए हुए फलों ने बहुत पीछे करदी ।

१९—उसने बन्धुओं के बन्धन कटने को, बध योग्यों के अबध्य करने को, और बोझ उठाने वालों का बोझ छुड़ाने को, और गायों का दूध न दुहा जाने को, आज्ञा दी ।

२०—पिंजरों के बासी तोते इत्यादि उसके खेल के पक्षी भी उसकी आज्ञा से छुटकारा पाकर मन माना फिरने वाले हुए ।

२१—तिस पीछे राजभवन के भीतर रक्खे हुए, अच्छा बिछौना बिछे हुए, हाथी दाँत के उज्ज्वल आसन पर वह वस्त्र आभूषन पहनने को बैठा ।

दियौ स्नातकनि - इतौ धन, नृप अभिषेक कराय ।
दै प्रकाम-मख-दच्छिनहिं, वे कृत्य सकैं पुराय ॥१७
ह्वै प्रसन्न आसिष दये, स्नातकनि-अघाय ।
तिन, तुरतहिं फलि संचितनि, पीछूँ दियौ हटाय १८
छोड़्यौ बंदिन, बध्यनहुँ दीन्ह्यौ जीवन-दान ।
भार-मुक्त-बैलन कियौ, गायन - दुहन - समान ॥१९
कौतुक - हित पिंजरनि - परे, सुक आदिक दुज-बृन्द ।
नृप - अनुसासन - मुक्तिलहि, बिचरन लगे सुछंद ॥२०
पहिरन-हित-भूषन-बसन, नृपहित धर्‌यौ बनाय ।
ता, गज-रद-बन आसनहिं, बैठ्यौ भूप बिछाय ॥२१

१७—स्नातक=यज्ञ कराने वाला ग्रहस्थी ब्राह्मन ।

१८—अर्थात् पहले कर्मों के फलों ने नई असीस पीछे डाल दी ।

तं धूपाश्यानकेशान्तं तोयनिर्णिक्तपाणयः ।
आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः ॥२२॥
तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम् ।
प्रत्यूपुः पद्मरागेण प्रभामण्डलशोभिना ॥२३॥
चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना ।
समापय्य ततश्चक्रः पत्रं विन्यस्तरोचनम् ॥२४॥
आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान् ।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥२५॥
नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्मये ।
विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव ॥२६॥

२२—सिंगार के आचारजों ने जल से हाथ धोए हुओं ने, उस धूप से सोंधाए हुए केशों वाले को भाँति भाँति के सिंगारों से सजाया ।

२३—उन्होंने मोतियों की माला से खिंचे हुए, फूल की माला से गुँथे हुए उसके जूड़े पर प्रभा मंडल को शोभित करने वाली पद्मराग मणि बाँधी ।

२४—और कस्तूरी की सुगन्धि मिले हुए चन्दन से अंगराग करा कर पीछे गोरोचन सहित पत्र रचना की ।

२५—आभूषन पहने हुए फूलमाला धारण किए हुए हंस चिन्ह वस्त्र ओढ़े हुए वह राजश्री रूपी दुलहिन का दूल्हा अत्यन्त शोभायमान दिखलाई दिया ।

२६—उस सिंगार देखने वाले की छाया सोने के दर्पन में (ऐसी) दीखी मानो सूरज उदय के समय सुमेरु में कल्पवृक्ष की ।

धोय पानि जल सौं तबहिं, नृपहिं-सिंगारनहार ।
बसे-सिरोरुह - धूपसौं, बहु बिधि कियौ सिंगार ॥२२
ग्रथित प्रसूननि - मालसौं, खँचित सीपसुत-हार ।
पद्मराग सिरपै धर्‌यौ, करत प्रकास-प्रसार ॥२३
मृद-मद जुत श्रीखंड कौ, तन - अँगराग - लगाय ।
करी पत्र-रचना रुचिर, गोरोचन कौं लाय ॥२४
गरैं-हार - भूषन - बिबिध, ओढ़ि हंसपट - भूप ।
स्वामि-राज श्रीकौ लस्यौ, सब बिधि तेहि अनुरूप ॥२५
लखत हेम - मय - मुकुर - नृप, इमि, छाया - सिंगार ।
लसी उदित-रवि - मरु जिमि, सुरतरु-छबि-साकार ॥२६

२२—सिंगार के आचारज अर्थात सिंगार कराने वाले ।

२४—पत्र रचना अर्थात शरीर में तिलक छापे लगाना ।

२५—हंस चिन्ह एक प्रकार का कपड़ा है ।

स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः ।
ययावुदीरितालोकः सुधर्मानवमां सभाम् ॥२७॥
वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।
चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥२८
शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं महत् ।
श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनेव कैशवम् ॥२९॥
बभौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः ।
रेखाभावादुपारूढः सामग्र्यमिव चन्द्रमाः ॥३०॥
प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणाम् ।
मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः ॥३१॥

२७—हाथों में राजचिन्ह (चमर छत्र इत्यादि) लिए हुए सेवकों से जय जय होता हुआ वह देवताओं की सी सभा में गया ।

२८—वहाँ बाप दादे के सिंघासन पर, चँदोवा तने हुए पर, राजाओं के सिर की मणियों से घिसी हुई पीढ़ी वाले पर बैठा ।

२९—और उसका प्रवेश किया हुआ श्रीवत्स चिन्हवाला बड़ा मंगल स्थान शोभायमान हुआ, जैसे कौस्तुभ मणि से विष्णु का (श्रीवत्स चिन्हवाला) वक्षस्थल ।

३०—कुमारपन से अनन्तर अधिराजपन पाकर वह अधिक कान्तिमान हुआ, जैसे रेखापन से पूर्णता पाकर चन्द्रमा ।

३१—उस उज्जवल कान्ति मुख वाले को, मुस्कान सहित बोलने वाले को सेवकों ने मूर्तमान विश्वास (ही) माना ।

लियैं छत्र - चामर - करनि, जै-जै बोलत - जात ।
गयौ सेवकन सहित नृप, देव-सभा-ज्यौं बिभात ॥२७
पूर्वज - सिंघासन - लस्यौ, जेहिं पै तन्यौं बितान ।
पाद-पीठि हू सो तहाँ, जहँ-नमि-नृप करैं मान ॥२८
भयौ मंगलायतन वह, नृप जब इमि लस्यौ आय ।
जैसें श्रीहरि - बच्छबर, भृगु-पद - कौस्तुभ पाय ॥२९
पहिलैं जो जुबराज हो, बहुरि भयौ अधिराज ।
अनुदिन बढ़्यौ कलानि सौं, जिमि पूरन-निसिराज ॥३०
धवल काँति-मय-बदन सौं, बोलत सदा सहास ।
गन्यौ आस्रितनि नृपति कौं, मूर्तिमान बिस्वास ॥३१

२८—पीढ़ी=जिस पर पाँव रख कर सिंघासन पर चढ़ते हैं ।

२९—श्रीवत्स एक प्रकार का चिन्ह मन्दिर में होता है और विष्णु की छाती पर एक चिन्ह है उसका नाम भी श्रीवत्स है ।

स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम् ।
क्रममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौजसा ॥३२॥
तस्यैकस्योच्छ्रितं छत्रं मूर्ध्नि तेनामलत्विषा ।
पूर्वराजवियोगौष्म्यं कृत्स्नस्य जगतो हृतम् ॥३३॥
धूमादग्नेः शिखाः पश्चादुदयादंशवो रवेः ।
सोऽतीत्य तेजसां वृत्तिं सममेवोत्थितो गुणैः ॥३४॥
तं प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्वयुः पौरयोषितः ।
शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इव ध्रुवम् ॥३५॥
अयोध्यादेवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्चिताः ।
अनुदध्युरनुध्येयं सांनिध्यैः प्रतिमागतैः ॥३६॥

३२—उस इन्द्र समान श्रीमान ने ऐरावत समान बलवान हाथी पर चलकर कल्पद्रुम समान ध्वजा वाली नगरी (अजुध्या) स्वर्ग बना दी ।

३३—उस अकेले के सिर पर उज्जवल छत्र ने फिर कर अगले राजा के वियोग का सन्ताप सब जगत के लिए मिटा दिया ।

३४—धुऐं से पीछे आग की लोय और उदय से पीछे सूरज की किरन होती है, वह तेजस्वियों की वृत्ति उल्लंघन करके गुणों के साथ ही प्रगट हुआ ।

३५—प्यार की उज्ज्वल दृष्टियों से पुर की स्त्रियाँ उसके पीछे गईं (अर्थात् दूर तक उसको चाव से देखती रहीं) जैसे ध्रुव के पीछे शरद में निर्मल तारों सहित रात्री ।

३६—और अजुध्या के देवताओं ने, पवित्र मन्दिरों में पूजन होते हुओं ने प्रतिमागत हो कर समीपता से उस अनुग्रह योग्य पर अनुग्रह किया ।

फरहरात सुरतरु - सरिस, नगरी - धुजा अनूप ।
कियौ स्वर्ग, सुरगज-सरिस, वारन-चढ़ि हरि-भूप ॥३२
ऊँचौ निरमल छत्र-सित, तबै अतिथि सिर लागि ।
दूर कियौ जग-प्रजनिकी, कुस-बियोग-जनितागि ॥३३
रवि-उदयें दीसति किरन, अनल धूम पुनि ज्वाल ।
तेजस्विनि की बृत्ति-तजि, गुन-सँग उठ्यौ नृपाल ॥३४
नेह-बिसद-लोयन-बिमल, तेहि निरख्यौ पुर-बाम ।
ज्यौं ध्रुव कौं तारनि-बलित, सरद रैनि अभिराम ॥३५
अवध-देवगन-भवन-गत, करि प्रतिमन मैं बास ।
करी कृपा इमि 'अतिथि' पै मनहुँ रहत तेहि पास ॥३६

यावन्नाश्यायते वेदिरभिषेकजलाप्लुता ।
तावदेवास्य वेलान्तं प्रतापः प्राप दुःसहः ॥३७॥
वशिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राःसायकास्तस्य धन्विनः ।
किं तत्साध्यं यदुभये साधयेयुर्न संगताः ॥३८॥
स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् ।
ददर्श संशयच्छेद्यान्व्यवहारानतन्द्रितः ॥३९॥
ततः परमभिव्यक्तसौमनस्यनिवेदितैः ।
युयोज पाकाभिमुखैर्भृत्यान्विज्ञापनाफलैः ॥४०॥
प्रजास्तद्गुरुणा नद्यो नभसेव विवर्धिताः ।
तस्मिंस्तु भूयसीं वृद्धिं नभस्ये ता इवाययुः ॥४१॥

३७—जब तक अभिषेक के जल से भीगी हुई वेदी न सूखी थी तब तक उसका कठिन प्रताप समुद्र के तट तक पहुँच गया ।

३८—वसिष्ठ गुरु के मन्त्र और उस धनुषधारी के बाण इन दोनों के इकट्ठे होने पर कौन सी साध्य वस्तु थी जो सिद्ध न हुई ।

३९—उस धर्मज्ञों के सखा ने, आलस रहित ने, अर्थी प्रत्यर्थी के निर्णय योग्य व्यवहार नित्य आप देखे ।

४०—तिस पीछे सेवकों को विनती के फलों से, स्पष्ट प्रसन्नता के जताए हुओं से पकने के निकट पहुँचे हुए बांछित फलों से मिलाया ।

४१—सामन की नदियों की नाईं उसके पिता की बढ़ाई हुई प्रजा उसमें अधिक ही वृद्धि को पहुँची, जैसे वे (नदियाँ) भादों में ।

सिंची-बेदि-अभिषेक-जल, जौ-लौं सूखीऊ नाहिं ।
तौलौं दुसह प्रताप वह, फैल्यौ-सिंधु-तट माहिं ॥३७
गुरु बसिष्ठ के मंत्र अरु, 'अतिथि'-बान जेहिं काहिं ।
कौन काज हो दोउ-मिलि, सिद्ध लेत करि नाहिं ॥३८
तजि तन्द्रा दृढ़ बैठि कैं, न्यायाधीसन - साथ ।
बादी - प्रतिबादीनकौ, लखत बाद नर-नाथ ॥३९
पुनि प्रसन्न - मुख - सेवकनि, हीय प्रसाद जनाय ।
मनबाँछित दै-दै सबनि, लीन्ह्यौं भूप मिलाय ॥४०
सावन लौं कुस-भूपनैं, करी प्रजा-सरि-बृद्धि ।
भादौं-लौं नृप अतिथिसौं, औरौं भई समृद्धि ॥४१

४०—सेवकों ने जो प्रार्थना की उसका फल उनको दिया ।

४१—उसमें अर्थात् उसके राजा होते हुए ।

यदुवाच न तन्मिथ्या यद्ददौ न जहार तत् ।
सोभूद्भग्नव्रतः शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन् ॥४२॥
वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम् ।
तानि तस्मिन्समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः ॥४३॥
इत्थं जनितरागासु प्रकृतिष्वनुवासरम् ।
अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीद्दृढमूल इव द्रुमः ॥४४॥
अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः ।
अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान्षट्पूर्वमजयद्रिपून् ॥४५॥
प्रसादाभिमुखे तस्मिँश्चपलापि स्वभावतः ।
निकषे हेमरेखेव श्रीरासीदनपायिनी ॥४६॥

४२—जो कहा सो मिथ्या न हुआ जो दे दिया सो फिर न लिया, नियम तोड़ने वाला वह (केवल) बैरियों को उखाड़ कर फिर जमाने में हुआ ।

४३—यौवन और रूप और प्रभुता ये एक एक मद कराने वाले हैं, उसमें इन सबने (इकट्ठा होकर भी) उसके मन को गर्वित न किया ।

४४—इस प्रकार दिन पर दिन प्यार करती हुई प्रजा में वह नया भी स्थिर हुआ, जैसे नौ मन जड़ वाला वृक्ष ।

४५—इसलिए कि बाहर के बैरी दूर और अन्तिय थे उसने पहले नित्य अन्तर घटवासी (काम क्रोधादि) छः बैरी जीते ।

४६—उस हँसमुख में स्वभाव की चपला लक्ष्मी भी अचल हुई, जैसे कसौटी में सोने की लकीर ।

सदा सत्य-भाषी रह्यौ, दियौ सो फेर्यौ नाहिं ।
तौहूँ नहिं रोप्यौ बहुरि, सत्रु उपारे - काहिं ॥४२
जोबन - प्रभुता - रूप - मद, इक - इक देत बढ़ाय ।
सबै साथ रहि भूपको, सके न पै बिचलाय ॥४३
एहि बिधि नितहि प्रजाहि-बिच, निज-अनुराग-दृढ़ाय ।
सुदृढ़-मूल-तरु-लौं भयौ, अचल नवल नर-राय ॥४४
अनित-दूर - रिपु - बाहिरी, यातैं बहु भय नाहिं ।
जीत्यौ या-लगि प्रथमही, अन्तर - षट - रिपुकाहिं ॥४५
सहज चपलतहिं तजि रमा, इमि रमी संग नृप-धीर ।
कनक-कसौटी पै लसी, जैसें खिची लकीर ॥४६

४४—नया अर्थात् थोड़ी अवस्था वाला ।

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥४७॥
न तस्य मण्डले राज्ञो न्यस्तप्रणिधिदीधितेः ।
अदृष्टमभवत्किंचिद्व्यभ्रस्येव विवस्वतः ॥४८॥
रात्रिंदिवविभागेषु यदादिष्ट महीक्षिताम् ।
तत्सिषेवे नियोगेन स विकल्पपराङ्मुखः ॥४९॥
मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः ।
स जातु सेव्यमानोपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥५०॥
परेषु स्वेषु च क्षिप्तैरविज्ञातपरस्परैः ।
सोऽपसर्पैर्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि ॥५१॥

४७—निरी नीति कायरता है और (निरी) सूरता सिंघ इत्यादि पशुओं का स्वभाव है, इस लिए उसने इन दोनों के संयोग से सिद्धि चाही ।

४८—चारों ओर दूत रूपी किरण छोड़ने वाले उस राजा को मंडल में कुछ गुप्त न रहा जैसे बिना बादलों वाले सूरज को ।

४९—रात दिन के विभागों (पहर घड़ी इत्यादि) में जो काम राजाओं को कहे है उस संशय मिटे हुए ने नियम से किये ।

५०—उसका मता प्रतिदिन मंत्रियों के साथ होता था (परन्तु) नित्य-नित्य होने पर भी वह गुप्त द्वार कभी प्रगट न हुआ ।

५१—अपनों और परायों में भेजे हुए दूतों से, आपस में एक दूसरे के न जाने हुओं से, वह उचित समय पर सोता हुआ भी जगता था ।

निपट-नीति - कायरपनौं, नय-बिनु-बल, पसु-भाव ।
यह गुनि मध्यम-वृत्ति-हिय, ग्रहन करी नरराव ॥४७
सबै ओर रवि-करनि - सम गुप्तचरनि - फैलाय ।
निरमल-नभ-रवि-इव नृपहु, लखत प्रजा-गति-भाय ॥४८
निसि-दिन मैं जबहीं, जिन्हैं, देत हो नृपति-निदेस ।
दृढ़ता-तैं पालत हुते ता कहँ तबहिं नरेस ।.४९
करत सचिव-गन मंत्रना, नितहिं भूप सँग आय ।
गुप्त द्वार पै तासु कौ, कबहुँ न पर्‌यौ लखाय ॥५०
पठये निज चर परनि सौं, परिचय जिनकौ नाहिं ।
रहत सजग इमि भूप-मनि, नित-प्रति सोवत माहिं ॥५१

५०—गुप्त द्वार=चिन्हों से प्रगट न होने वाला ।

दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासँस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम् ।
न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद्गिरिगुहाशयः ॥५२॥
भव्यमुख्याः सभारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः ।
गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढ विपेचिरे ॥५३॥
अपथेन प्रववृते न जातूपचितोऽपि सः ।
वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः ॥५४॥
कामं प्रकृतिवैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः ।
कस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत् ॥५५॥
शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः ।
समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः ॥५६॥

५२—उस बैरियों पर चढ़ने वाले के भी अटूट गढ़ कोट थे, हाथी का मारने वाला सिंह पहाड़ की गुफा में भय से सोने वाला नहीं होता है ।

५३—उसके कल्याण सहित और बाधा रहित उद्योग विचार कर किए हुए, गर्भ में पकने वाले धान के स्वभावी गुप्त पकते थे ।

५४—वैभव पाकर भी वह कुमार्ग से न चला, बढ़ाव में समुद्र का निकलना नदी मुख से ही होता है ।

५५—यद्यपि प्रजा की अरुचि तुरन्त मिटा देने को समर्थ था तौ भी जिस अरुचि का मिटना आवश्यक है वह उसने होने नहीं दी ।

५६—सामर्थमान होते हुए भी उसकी चढ़ाई निबलों ही पर हुई, पवन सहाई हुए होते भी दावानल पानी नहीं ढूँढ़ती है ।

'अतिथि' - दुर्ग, दुर्द्धर्ष हे, यौं अरि - रोकनहार ।
निवसत-गुहा-गजारि ज्यौं, अभय, सजग, तैयार ॥५२
यौं होवत कल्यान-कर, बिघन-रहित नृपकर्म ।
पकत जात रहि गुप्त ज्यौं, धान, धारि सोइ धर्म ॥५३
धर्‌यौ कुपथ कबहूँ न पग, एतौ पाय बिकास ।
कढ़त सरित-मुख-जिमि बढ़त, बारिधि बीचि-बिलास ॥५४
उदासीनता प्रजा की, तुरत - मिटैया - भूप ।
प्रतीकार जोगै कबहुँ, आवन दियौ समीप ॥५५
सबै भाँति समरथ तऊ, लरौ निबलनि-तैंइ जाय ।
जारौ चहै न दवारि जलै, जद्यपि पवन सहाय ॥५६

५६—अग्नि कितनी ही दलवान हो पानी को जलाने नहीं जाती काठ और ईंधन ही को जलाती है ।

न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ॥५७॥
हीनान्यनुपकर्तृणि प्रवृद्धानि विकुर्वते ।
तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः ॥५८॥
परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाबलम् ।
ययावेभिर्दलिष्ठश्चेत्परस्मादास्त सोऽन्यथा ॥५९॥
कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसंग्रहः ।
अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥६०॥
परकर्मापहः सोऽभूदुद्यतः स्वेषु कर्मसु ।
आवृणादात्मनोरन्ध्रं रन्ध्रेषु प्रहरन्रिपून् ॥६१॥

५७—तीनों के उस समान देखने वाले ने अर्थ और काम से धर्म को बाधा न पहुँचाई और न उस (धर्म) से उन दोनों को और न काम से अर्थ को न अर्थ से काम को ।

५८—हीन निरोपकारी होते हैं और बलवान उपद्रव करते हैं इसलिये उसने मध्यम शक्ति वाले मित्र बनाए ।

५९—अपनी और बैरी की शक्ति इत्यादि का बल अबल विचार कर जो उसने अपने को इन बातों में बैरी से बली पाया तो चढ़ाई की नहीं और बैठ रहा ।

६०—"कोश से आश्रय होता है" यह उसके धन इकट्ठा करने का हेतु था, जल भरे बादल ही को पपीहा सराहता है ।

६१—बैरी के उद्योगों का नाश करता हुआ वह अपने उद्योगों में प्रवृत्त हुआ बैरियों पर छिद्र द्वारा प्रहार करते हुए अपने छिद्र छुपाए ।

अर्थ-काम सौं धर्म कौं, धर्महुँ पुनि तिनकाहिं ।
अर्थ-काम दोउ परसपर, नृप नय बाध्यौ नाहिं ॥५७
निबल करि न उपकार सकैं, बढ़े बनत अपकारि ।
करी मित्रता मध्य सौं, नृप-यह-हीय - बिचारि ॥५८
गुनि पहिलैं निज सक्तिकौं, बहुरि सत्रु-बल-सोध ।
जानि बलाबल कौं करत, तासन भूप-बिरोध ॥५९
कीन्ह्यौं धन-संग्रह नृपति, कोषहिं आस्रय मानि ।
गगन-सजल-जलधर-निरखि, चातक जाँचत आनि ॥६०
रह्यौ निरत निज कर्म मैं, धरि उद्योग-बिचार ।
गोप्यौ छिद्रनि आपनैं, सत्रुन - छिद्र - प्रहार ॥६१

६०—जिसके पास धन है उसके आसरतू बहुत होते हैं ।

६१—छिद्र=निबल बात ।

पित्रा संवर्धितो नित्यं कृतास्त्रः सांपरायिकः ।
तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहान्न व्यशिष्यत ॥६२॥
सर्पस्येव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः ।
स चकर्ष परस्मात्तदयस्कान्त इवायसम् ॥६३॥
वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव ।
सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु ॥६४॥
तपो रक्षन्स विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च संपदः ।
यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक् ॥६५॥
खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान् ।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥६६॥

६२—पिता की नित्य पुष्ट की हुई, अस्त्र सीखी हुई, युद्ध करने में समर्थ सेना उस सेनावान की देह से भिन्न न थी (अर्थात् वह सेना को अपनी देह के समान रखता था) ।

६३—साँप के सिर की मणि समान उसकी तीन शक्तियों को बैरी न खेंच सका, (परन्तु) बैरी से उसने वे खेंच लीं जैसे चुम्बक पत्थर ने लोहा ।

६४—बावड़ियों की नाईं नदियों में, उपवनों की नाईं बनों में, अपने घरों की नाईं पहाड़ों में बणिक लोग मन माना फिरे ।

६५—तप को विघ्नों से और धन को चोरों से रक्षा करते हुए उसको आश्रमों ने और वर्णों ने भी वित्त के अनुसार छठा भाग पाने वाला किया ।

६६—खानों से रत्न, खेतों से धान, बनों से हाथी उत्पन्न करके भूमि ने उसकी रक्षा के सदृश ही पलटा दिया ।

जाहि बढ़ायौ जनक तेहिं, अस्त्र-सस्त्र-बिद-एक ।
निजतनु - सेना माहिं नृप, राख्यौ भेद न नेक ॥६२
नहिं पायौ अरि, सक्ति-त्रय, अहि-सिर-रत्न-समान ।
पै चुम्बक-लौं सलुकौ, खींचेहु बलहिं महान ॥६३
बापी-लौं सरितानि-गुनि, त्यौं उपबन बन काहिं ।
बास-भेद गृह-कुधर मैं, बनिकन जान्यौं नाहिं ॥६४
रच्छ्यौ चोरन सौं धनहिं, तपकौं बिघन-हटाय ।
बरनास्रम षट अंस कौं, लीन्ह्यौं इमि नरराय । ६५
रतन रासि - आकर दियौ, अन्न - खेत, बन-नाग ।
निज-रच्छा-हित इमि अवनि, दीन्ह्यौं नृप कहँ भाग ॥६६

६५—तप की रक्षा की इससे चार आश्रम वालों ने तप में भाग दिया और धन की रक्षा की इससे चार वालों ने धन में वर्ण दिया ।

६६—पृथ्वी ने रक्षा के पलटे में रत्न इत्यादि उसको दिये ।

स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः ।
बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ॥६७॥
इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम् ।
आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे ॥६८॥
कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि ।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी ॥६९॥
प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः ।
रणो गन्धद्विपस्येव गन्धभिन्नान्यदन्तिनः ॥७०॥
प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः ।
स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूत्ताविव क्षयी ॥७१॥

६७—वह स्वामी कार्तिक के समान पराक्रम वाला सिद्ध होने योग्य बातों में छः गुणों और बलों का उचित बर्ताव जानता था।

६८—इस भाँति मंत्री इत्यादि में चार प्रकार की राजनीति को क्रम से वर्तते हुए उसने उस का फल बिन विघ्न पाया।

६९—कपट युद्ध की रीति जानकर भी धर्मयुद्ध करने वाले उस (राजा) में वीरगामिनी जयश्री ने अभिसारिका की रीति वर्ती।

७०—प्रताप ही से बैरियों के नष्ट हो जाने के कारण उसको संग्राम बहुधा दुर्लभ हो गया, जैसे मद की गन्ध से दूसरे हाथियों के भगाने वाले मदगन्धी हाथी को।

७१—बहुत बढ़ने पर चन्द्रमा छीन होता है, और ऐसे ही समुद्र भी, परन्तु वह उनके समान बढ़ती को पहुँच कर उनकी नाईं छीन न हुआ।

मिलति सिद्धि किन तैं कहाँ, नृप-इव-संभुकुमार।
षट-गुन अरु षट-बलनि हो, जानत भूप उदार ॥६७
चारिहुँ-बिधि नृप - नीति कौ, क्रमसन कियौ प्रयोग।
मंत्रिन मैं हूँ, तेहिं कियौ, बिघन-रहित फल-जोग ॥६८
धरम-जुद्ध कीयौ सदा, छल-रन-बिधि हू जान।
बीर भोगिनी बिजय श्री, लीन्ह्यौ तोहि पति मान ॥६९
जुद्ध न कियौ, प्रताप-सन, बैरिन दियौ नसाय।
जथा तीव्र मद-गंधि-गज, हाथिन देत भगाय ॥७०
घटत ससी-सागर दुवौ, जब अतिसै बढ़ि जात।
पै बढ़ती अबधेस की, घटत न नेकु लखात ॥७१

६७—छः गुण—सन्धि, विग्रह इत्यादि और बल-मूल, मृत्यादि।

६९—अभिसारिका=जो स्त्री अपने पति से मिलने को आप जाय।

सन्तस्तस्याभिगमनादत्यर्थं महतः कृशाः ।
उदधेरिव जीमूताः प्रापुर्दातृत्वमर्थिनः ॥७२॥
स्तूयमानः स जिह्राय स्तुत्यमेव समाचरन् ।
तथापि ववृधे तस्य तत्कारिद्वेषिणो यशः ॥७३॥
दुरितं दर्शनेन घ्नँस्तत्त्वार्थेन नुदँस्तमः ।
प्रजाः स्वतन्त्रयांचक्रे शश्वत्सूर्य इवोदितः ॥७४॥
इन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेंऽशवः ।
गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम् ॥७५॥
पराभिसंधानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम् ।
जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत् ॥७६॥
एवमुद्यन्प्रभावेण शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना ।
वृषेव देवो देवानां राज्ञां राजा बभूव सः ॥७७॥

७२—अति दरिद्री याचक लोग उस ऐश्वर्यवान के समीप जाने से दाता हो गए, जैसे समुद्र के (पास जाने) से बादल ।

७३—प्रशंसा योग्य काम करता हुआ वह प्रशंसामान लजाया, तो भी प्रशंसा करने वालों के उस दोषी का यश बढ़ा ।

७४—उदित सूरज की नाईं दर्शन से पाप को तत्वज्ञान से अज्ञान को मिटाते हुए ने प्रजा को अत्यन्त स्वाधीन किया ।

७५—चन्द्रमा की किरण कमल में जाने वाली नहीं होती हैं न कमोदिनी में सूरज की, उस गुणी के गुणों ने बैरी पक्ष में भी जगह पाई ।

७६—उस अश्वमेध निमित विजय चाहने वाले के काम में यद्यपि बैरियों का छलना मुख्य था (तो भी) वह (काम) धर्म सहित ही हुआ ।

७७—इस प्रकार शास्त्र के दिखलाए हुए मार्ग के प्रभाव से बढ़ता हुआ वह राजाओं का राजा हुआ, जैसे देवताओं का देवता इन्द्र ।

अति दरिद्र बिद्वान हू, नृप कौ आस्रय-पाय ।
भये दानि, जलधर-जथा, सागर के ढिग जाय ॥७२
नृप, निज-बंद्य-सुकीर्ति की, सुनि बन्दना, लजात ।
अनखायेंऊँ पै तऊँ, सो जस बढ़तै जात ॥७३
उदित निरंतर भानु-इव, दरसत-नृप-नय-लीन ।
बिघन-नासि-अग्यान-तम, रख्यौ प्रजहिं स्वाधीन ॥७४
जात न ससि-कर कमल मैं, रवि-कर-कुमुदिनि-नाहिं ।
लह्यौ, ठौर महिपाल गुन, अरिन-पच्छहूँ माहिं ॥७५
बाजि-मेध-हित सत्रु कौ, बंचनहूँ ही नीति ।
पै सब नृप कौ सफल भौ, गहैं धर्म की रीति ॥७६
सास्त्र-निहित बिधि सौं नृपति, इमि सु-प्रभाव बढ़ाय ।
भयौ राज-राजेस जिमि, हरि-देवन कौ राय ॥७७

७६—बैरी को छल से भी जीतना नीति है परन्तु इस राजा ने धर्म ही से जीते छल से नहीं ।

पञ्चमं लोकपालानामूचुः साधर्म्ययोगतः ।
भूतानां महतां षष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् ॥७८॥
दूरापवर्जितच्छत्रैस्तस्याज्ञां शासनार्पिताम् ।
दधुः शिरोभिर्भूपाला देवाः पौरंदरीमिव ॥७९॥
ऋत्विजः स तथाऽऽनर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ ।
यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च ॥८०॥
इन्द्राद्वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभू
द्यादोनाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम् ।
पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धिं कुबेर
स्तस्मिन्दण्डोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः ॥८१॥

७८—समान धर्मा होने के कारण उसको लोक पालों का पाँचवा, महाभूतों का छठा, कुल पहाड़ों का आठवाँ कहते हैं ।

७९—राजाओं ने उसकी मर्यादा निमित दी हुई आज्ञा दूर किए हुए छत्र वाले सिरों से मानी, जैसे देवताओं ने इन्द्र की ।

८०—ऋत्विजों को उसने अश्वमेध में दक्षिनाओं से ऐसा सत्कार किया कि उसका और धनद (कुबेर) का नाम एक हो गया ।

८१—इन्द्र से वर्षा हुई, रोग की बढ़ती का रोकने वाला यम हुआ, नाव चलाने वालों के कार्य निमित जल का मार्ग सुगम करने वाला वरुण हुआ, तिस पीछे पुरखों की महिमा जानने वाले कुबेर ने कोष बढ़ाया, (मानो) लोकपालों ने उसमें दंड से बशीभूत किए हुओं की रीति वर्ती ।

लोकपाल पंचम गन्यौं, कुल-परबत अठवाहिं ।
महा भूत छठयौं गन्यौ, सम-धर्मा नृप काहिं ॥७८
मरजादा-हित नृपन नैं, सिरधरि तासु रजाय ।
देवन - हरि - आयसु - सरिस, मान्यौं छत्र-हटाय ॥७९
अस्वमेध - मख में दियौ, इतौ रित्विजन - दान ।
पायौ अपर कुबेर-लौं' 'अतिथि'-भूप सनमान ॥८०

हरिगीतिका

बरसाय जल हरि, रोकि अंतक अखिल रोग प्रसार कौं ।
अरु सुगम कीन जलेस जल-मग, नाव-गति ब्यापार कौं ॥
गुन–मानि पुनि पुरखानिके नृप-कोष-धनपति नैं भर्‌यौ ।
सरनागतनि की बृत्ति त्यौंही लोकपालनि अनुसर्‌यौ ॥

———

७८—मुख्य लोकपाल चार हैं—इन्द्र, यम, वरण, कुवेर । कुल पहाड़ सात हैं–महेन्द्र, मलय, सह्म, शुक्तिमत, ऋक्ष, विन्ध्या, पारियाच ।

७९—दूर किए हुए छत्र वाले सिर अर्थात जिन सिरों का छत्र उतर गया था । कोष अर्थात खजाना ।

॥ अष्टादशः सर्गः ॥

स नैषधस्यार्थपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः ।
अनूनसारं निषधान्नगेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव ॥१॥
तेनोरुवीर्येण पिता प्रजायै कल्पिष्यमाणेन ननन्द यूना ।
सुवृष्टियोगादिव जीवलोकः सस्येन संपत्तिफलोन्मुखेन ॥२॥
शब्दादि निर्विश्य सुखं चिराय तस्मिन्प्रतिष्ठापितराजशब्दः ।
कौमुद्वतेयः कुमुदावदातैर्द्यामर्जितां कर्मभिरारुरोह ॥३॥

अठारहवाँ सर्ग

१—नैषधराज की बेटी में उस निषिद्ध शत्रु ने निषध पर्वत के समान बलवान बेटा उत्पन्न किया जिसका नाम निषध ही कहते हैं ।

२—उस महा पराक्रमी युवान में, प्रजा निमित युवराज किए हुए से, पिता हर्षवान हुआ, जैसे अच्छी बरसा के योग में पकावट को पहुँचे हुए धान से प्रजा ।

३—शब्द स्पर्श इत्यादि सुख बहुत काल भोगकर कुमुद्दती का पुत्र उस (बेटे में) राज शब्द स्थापित करके कुमुद समान निर्मल कर्मों से पाए हुए स्वर्ग को गया ।

अठारहवाँ सर्ग

शोभन

अर्थपति - नृप - निषध - तनया, तब - समागम पाय ।
नृप-निषिद्ध-अराति, दीन्ह्यौं, सुवन एक उपजाय ।
कहत कोसल-राज के, जनपद निषध जेहि काहिं ।
बिपुल निषध-नगेन्द्र सौं, जो सार मैं कम नाहिं ॥१

करहिगो पालन प्रजा कौ, सबहिं बिधि मन - लाय ।
गुनि लह्यौ इमि मोद नृप, जुबराज सुतहिं बनाय ।
जिमि सुबरसा जोगसौं, लखि, पकति-फसलै जान ।
लहत निज मन - माहिं, तबहीं, जन प्रमोद महान ॥२

भोगि सांसारिक-सुखन बहुभाँति सौं चिरकाल ।
बृद्ध-बय मैं सुत निषध कौं पुनि बनाय नृपाल ।
कुमुदलौं अवदात इमि निज सुकृत कौ फलपाय ।
गयौ कुमुदबती-तनै जहाँ बसत श्री हरिराय ॥३

१—निषिद्ध शत्रु=बैरियों का जीतने वाला ।

३—कुमुद=कमल ।

पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः ।
एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज ॥४॥

तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते वंशश्रियं प्राप नलाभिधानः ।
यो नड्वलानीव गजः परेषां बलान्यभृद्गन्नलिनाभवक्त्रः ॥५॥

नभश्चरैर्गीतयशाः स लेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम् ।
ख्यातं नभःशब्दमयेन नाम्ना कान्तं नभोमासमिव प्रजानाम् ॥६॥

४—कुश के पोते ने, कुशेशय समान नेत्रवाले ने, समुद्र समान गम्भीर बुद्धी ने, पुर की अर्गला समान बड़ी भुजा वाले ने भी, सागरों सहित पृथ्वी एक छत भोगी ।

५—उसके अनल समान तेजस्वी नल नाम बेटे ने उससे पीछे वंश की श्री पाई, जिस नलिन कान्ति मुख वाले ने बैरियों की सेना तोड़ी, मानों हाथी ने नरमल ।

६—उस नभचरों के गाए हुए यशवाले ने नभस्तल समान श्याम शरीर नभ नाम (बेटा) नभस् महीने की नाईं प्रजाओं का प्यारा पाया ।

तब कुसेसय-नयन, जलनिधि - सम अमित गम्भीर ।
पौत्र-कुस-नरनाह कौ त्रय-भुवन मैं एक वीर ।
नगर-अर्गला - सरिस जाके जुगुल बाहु बिसाल ।
भयौ सागर - मेखला एक छत्र अवनि नृपाल ॥ ४

लह्यौ कुल-श्री तेहि अनन्तर सुवन नल अभिराम ।
रह्यौ तेज-प्रताप मैं जो अनल के उपमान ।
बदन - आभा जासु की नव - नलिन की अनुहारि ।
दल्यौ अरि-दल गज-जथा - नरकटहिं पद-तर डारि ॥ ५

समुद हे गंधर्व गावत जासु सुजस ललाम ।
भयौ नरपति-तनय जाकौ गात नभ - सम स्याम ।
करत पुनि नभ-मास लौं सब प्रजा पूरन काम ।
भयौ जग-बिख्यात जो लै सुभग 'नभ' कौ नाम ॥ ६

४—कुशेशय=कमल ।

५—अनल=अग्नि । नलिनकाति=कमल की शोभा ।

६—नभस्तल आकाश को कहते हैं और नभस सामन महीने का नाम है । नभचर गन्धर्व इत्यादि आकाश में चलने वालों को कहते हैं ।

तस्मै विसृज्योत्तरकोशलानां धर्मोत्तरस्तत्प्रभवे प्रभुत्वम् ।
मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध ।।७।।
तेन द्विपाना मिव पुण्डरीको राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीकः ।
शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिव श्रिता श्रीः ।।८।।
स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम् ।
क्ष्मां लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः क्षान्ततरश्चचार ।।९।।
अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत् ।
व्यश्रूयतानीकपदावसान देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य ।।१०।।

७—उत्तर कौशल देशों का वह राज्य उस सामर्थवान को देकर उस धर्मोतर ने फिर देह बन्धन न होने के लिए बुढ़ापे की दिखलाई हुई संगति मृगों से बाँधी ।

८—उसने हाथियों में पुंडरीक के समान, राजाओं में अजित, पुंडरीक नाम बेटा जना, जिस को पिता के शान्त होने पर हाथ में पुंडरीक लेने वाली लक्ष्मी ने पुंडरीकाक्ष के समान सेवन किया ।

९—उस अमोध धनुषधारी ने क्षमावान पुत्र को, प्रजा की रक्षा विधि में समर्थ को, पृथ्वी प्राप्त कराकर (और) अधिक शान्त होकर बन में तप आचरण किया ।

१०—रण में सेनाओं के आगे चलनेवाला, देवताओं के समान, उसका भी पुत्र हुआ जिसका नाम अन्त में अनीक पद आदि में देव पद लगा हुआ (अर्थात देवानीक) स्वर्ग में भी सुना गया है ।

धर्मपाल महीप सुतहिं समर्थ जब गुनि लीन्ह ।
सौंपि उत्तर-कौसलनि कौ राज वाकौं दीन्ह ।
देह-बन्धन-मोच्छ के हित बृद्धबय-निज जानि ।
बस्यौ कानन आय मृग-गन-सौं-अमित-हित-मानि ।। ७
भयौ दिग-बारननि-कुल जिमि पुँडरीक ललाम ।
पितु अनन्तर भयौ सासक 'पुंडरीक' सुनाम ।
लियैं कर मैं पुंडरीकहिं जथा-कमला-बाम ।
पुंडरीकायत-बिलोचनै सेयौ तिमि अभिराम ।। ८
'छेमधन्वा'-सुतहिं सब विधि, भूप लायक जानि ।
करैगो यह प्रजा-पालन पुत्र-लौं निज मानि ।
सौंपि ताके कर धरा कौ सकल सासन-भार ।
गयौ तप-हित-बनहिं, धनुष-अमोघ-भूप-उदार ।। ९
चलत, देव-अनीकिनी के आपु, आगैं-भूप ।
भयौ तासु तनूज अतिबल देवता-अनुरूप ।
अन्त माहिं 'अनीक' जाके आदि 'देव' ललाम ।
भयौ 'देवानीक' नृप कौ प्रथित सुरपुर-नाम ।।१०

७—धर्मोत्तर=धर्म को उत्तम मानने वाला ।

८—पुंडरीक नाम एक दिग्गज का है और कमल को भी पुंडरीक कहते हैं और पुंडरीकाक्ष नाम विष्णु का है ।

पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन ।
पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान्बभूव ॥११॥
पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य ।
धुरं निधायैकनिधिर्गुणानां जगाम यज्वा यजमानलोकम् ॥१२॥
वशी सुतस्तस्य वशंवदत्वात्स्वेषामिवासीद्विषतामपीष्टः ।
सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणान् ग्रहीतुम् ॥१३॥
अहीनगुर्नाम स गां समग्रामहीनबाहुद्रविणः शशास ।
यो हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वाद्युवाप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीनः ॥१४॥

११—जैसे वह पिता उस पितृ शुश्रूक्षा वाले पुत्र से पुत्रवान हुआ ऐसे ही वह पुत्र उस पुत्रवत्सल पिता से पितावान हुआ ।

१२—उनमें से पहला गुणों की उत्तम खानि, यज्ञ का करनेवाला, बहुत काल का सहारा हुआ आतुर वर्ण का बोझ अपने तुल्य पुत्र पर रखकर यज्ञ करने वालों के लोक को गया ।

१३—उसका जितेन्द्री पुत्र मिठ बोलेपन के कारण बैरियों को भी अपनों की नाईं प्यारा लगा क्योंकि मीठा बचन एक बार डरे हुए हरिणों के भी पकड़ने को समर्थ होता है ।

१४—उस अहीनगु नाम ने अहीन बाहु पराक्रमी ने जो हीन लोगों की संगति से विमुख होने के कारण युवा अवस्था में भी अनर्थ व्यसनों से विहीन था, समस्त पृथ्वी पाली ।

रहत तत्पर समाराधन मैं सुवन - बल - धाम ।
भयौ 'संततिवन्त' जासौं जनक-जस अभिराम ।
तनय - बच्छल - जनक - देवानीक - सरिस सुदेस ।
पाय मान्यौं आपुनैं कौं पितृमान - नरेस ॥११

आपनेहिं हिय-सरिस सुत जो, रह्यौ परम उदार ।
कियौ चिर-लौं, दियौं ताकौं सौंपि सासन-भार ।
सकल गुन - गन - खानि कीन्ह्यौं मख अनेक हमेस ।
गयौ सुरपति-सदन कौं तनु त्यागि अवध - नरेस ॥१२
बसी वा कौ सुत, स्व-परिजन कौ रह्यौ अति प्रीय ।
करति जाकी मृदु-बचन - रचना स्वबस अरि-हीय ।
मधुर बैननि मैं आकर्षन कछुक ऐसौ होत ।
धाय आवत पास-भय खाये सपदि मृग-गोत ॥१३
हो अहीनगु - महिप आपु अहीन - बाहु - बिसाल ।
कीन्ह सासन अखिल महिमंडल समुद चिरकाल ।
हीन - संगति सौं रह्यौ नर-नाथ सदा उदास ।
तथा ब्यसन अनर्थकारी सके आय न पास ॥१४

१४—हीन=छोटा । अहीन=बड़ा । विहीन=सूना ।

गुरोः स चानन्तरमन्तरज्ञः पुंसां पुमानाद्य इवावतीर्णः ।
उपक्रमैरस्खलितैश्चतुर्भिश्चतुर्दिगीशश्चतुरो बभूव ॥१५॥
तस्मिन्प्रयाते परलोकयात्रां जेतर्यरीणां तनयं तदीयम् ।
उच्चैःशिरस्त्वाज्जितपारियात्रं लक्ष्मीःसिषेवे किल पारियात्रम्॥१६॥
तस्याभवत्सूनुरुदारशीलः शिलः शिलापट्टविशालवक्षाः ।
जितारिपक्षोऽपि शिलीमुखैर्यः शालीनतामब्रजदीड्यमानः ॥१७॥
तमात्मसंपन्नमनिन्दितात्मा कृत्वा युवानं युवराजमेव ।
सुखानि सोऽभुङ्क्त सुखोपरोधि वृत्तं हि राज्ञामुपरुद्धवृत्तम् ॥१८॥

१५—और पिता के पीछे मनुष्यों के अन्तर की जानने वाला वह चतुर, आदि पुरुष (विष्णु) की नाईं औतार लिया हुआ, चारों सफल उपायों से चारों दिशा का स्वामी हुआ ।

१६—कहते हैं कि उस बैरियों के जीतने वाले के परलोक जाने पर उसके पारियात्र नाम बेटे को सिरके ऊँचे पन से पारियात्र (नाम पर्वत) का तिरस्कार करने वाले को, लक्ष्मी ने सेवन किया ।

१७—उसका उदारशील बेटा, शिलापट्ट समान विशाल छातीवाला, शिल नाम हुआ, जिस स्तुति योग्य ने शिलीमुखों (वाणों) से बैरी पक्ष का जीतने वाला होकर भी नम्रता ली ।

१८—उस बुद्धि सम्पन्न युवान को युवराज करके ही अनिन्दित स्वभाव वाले ने सुख भोगे, क्योंकि राजाओं का धन्धा बन्धुओं की नाईं सुख उपरोधी (सुख का रोकने वाला) होता है ।

पितु अनन्तर लह्यौ सासन तासु-सुत बिख्यात ।
जानिबे मैं कुसल जो औरन-हिये की बात ।
आदि - पुरुष समान ही अवतार धारि अनूप ।
साम-आदि उपाय-चतुरनि - भो चहूँ - दिसि भूप ॥१५
करत निज बसबति बरबस अरिवल अरिगन-थोक ।
करि अवनि कौ राज गवन्यौं अहीनगु सुरलोक ।
'पारियात्र' 'पारिजात'-सौ वाकौ भयौ भू-भरतार ।
'पारिजात उतंग कुल-गिरै' दियौ जेहिं करि छार ॥१६
भयौ सुवन उदार वा कौं कहैं सबै 'सिल' जाहिं ।
सिला-सरिस - बिसाल - बच्छहिं रहे सकल सराहि ।
हनि-सिलीमुख जेहिं स्वबस अरि-मंडली करि लीन ।
स्रवन करि निज सुजस तौहूँ रह्यौ अतिसालीन ॥१७
तब 'सिलहिं' जुबराज भूपति 'पारिजात्र' बनाय ।
कियौ पुनि उपभोग-बैभव सबहिं भाँति अघाय ।
जदपि सुखरोधक जगत मैं बृत-नृप कौ होत ।
लहत सो नहिं चैन जैसें रहत बन्दी गोत ॥१८

१५—सफल उपाय अर्थात साम दाम दंड भेद ।

१७—शिला पटट्=पत्थर की पटिया ।

तं रागवन्धिष्ववितृप्तमेव भोगेषु सौभाग्यविशेषभोग्यम् ।
विलासिनीनामरतिक्षमापि जरा वृथा मत्सरिणी जहार ॥१९॥

उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयस्तस्यायथार्थोन्नतनाभिरन्ध्रः ।
सुतोऽभवत्पङ्कजनाभकल्पः कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य ॥२०॥

ततः परं वज्रधरप्रभावस्तदात्मजः संयति वज्रघोषः ।
बभूव वज्राकरभूषणायाः पतिः पृथिव्याः किल वज्रणाभः ॥२१॥

तस्मिन्गते द्यां सुकृतोपलब्धां सत्संभवं शङ्खणमर्णवान्ता ।
उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः ॥२२॥

१९—विषय के भोगों में तृप्त हुए बिना ही उस (राजा) को, अधिक सुघड़ाई के कारण विलासिनियों के भोगने योग्य को, वृथा ईर्षा करने वाली जरा से स्त्री व्यवहार में असमर्थ होकर भी हर लिया ।

२०—उसका बेटा उन्नाभ नाम करके प्रसिद्ध, उन्नत से विरुद्ध (अर्थात गम्भीर) नाभिवाला, कमल नाभ की नाईं समस्त राजाओं के मंडल की नाभि हुआ ।

२१—कहते हैं कि उससे पीछे उसका बज्रनाभ बेटा, बज्रधारी (इन्द्र) के समान तेजस्वी, संग्राम में बज्र समान शब्द करने वाला, बज्रखानि रूपी आभूषनों वाली पृथ्वी का स्वामी बना ।

२२—उसके सुकर्मों से पाए हुए स्वर्ग में जाने पर समुद्र की सीमावाली पृथ्वी ने उसके शंखन नाम बेटे को, बैरियों के उखाड़नेवाले को, खानों से निकले हुए रत्नों की भेंटों से सेवन किया ।

पूजि पाई साधनहिं नृप करि अमित उपभोग ।
पै बिलासिनि सुन्दरिन कौ रह्यौ सो बनि संजोग ।
जदपि प्रमदनि-मद-दलनि की रही छमता नाहिं ।
बृथा मच्छर-जरा कीन्हौं बिबस नरपति काहिं ॥१९
सुवन भयौ 'उन्नाभ' नामी, तासु अति रनधीर ।
रही वा नरनाह की बरनाभि अति गम्भीर ।
लसत सो अरबिन्द - नाभ - समान सोभागारु ।
जनु अखिल-नृप - मंडली की नाभि सोहति चारु ॥२०
ज्वलित उग्र-प्रताप जाकौ बज्रधर अनुरूप ।
बज्र - गर्जन करै जो रनु काल कौ धरि रूप ।
तनय वाकौ 'बज्रनाभ' नरेस भो बरिबंड ।
बज्र-आकर - बलित जामैं लसत बहु महिखंड ॥२१
निज सुकृत सौं लह्यौ जानैं, स्वर्ग पै अधिकार ।
भयौ ताकौ तनय संखन, अवनि कौ भरतार ।
दियौ अरिन उपारि, सेयौ, ताहि अति सुख मानि ।
सिंधु - रसना - भूमि दै बहु, रत्न अरु सनमानि ॥२२

१९—जरा=बुढ़ापा ।

२१—बज्रखानि=हीरे की खानि ।

तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्यं प्रपेदे पदमश्विरूपः ।
वेलातटेवूषितसैनिकाश्वं पुराविदो यं व्युषिताश्वमाहुः ॥२३॥
आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे ।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वंभरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥२४॥
अंशे हिरण्याक्षरिपोः स जाते हिरण्यनाभे तनये नयज्ञः ।
द्विषामसह्यः सुतरां तरूणां हिरण्यरेता इव सानिलोऽभूत् ॥२५॥
पिता पितृणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः ।
राजानमाजानुविलम्बिबाहुं कृत्वा कृती वल्कलवान्बभूव ॥२६॥

२३—उसके पीछे पिता की पदवी सूर्य समान तेजस्वी अश्विनी कुमार समान रूपवान ने पाई, जिस समुद्र तट पर बसते हुए योद्धाओं और घोड़ों वाले को बड़ों ने व्युषिताश्व नाम कहा है ।

२४—उस पृथ्वी पति ने विश्वेश्वर का आराधन करके विश्व के प्यारे समस्त विश्वम्भरा की रक्षा के योग्य विश्वसह नाम पुत्र के रूप में आप जन्म लिया ।

२५—हिरणयनाभ नाम बेटा हिरणयाक्ष के बैरी (विष्णु) का अंश उत्पन्न होने पर वह नीति का ज्ञानी बैरियों को अधिक असह्य हुआ, जैसे पवन का साथ पाकर हिरणयरेता (अग्नि) वृक्षों को ।

२६—पितृयों का अऋणी अनन्त सुखों का अभिलाषी कृत कृत्य पिता बुढ़ापे में उस अजान बाहु को राजा करके वृक्षों की छाल ओढ़ने वाला बना (अर्थात बनवासी हुआ) ।

कहत बुध-जन नृप भयौ ब्युषितास्व वा-कुल-चन्द ।
रूप - रेखा माहिं जा-सम लसत अस्विनि-नन्द ।
रहत जाके सिंधु-तट बहु बिकट सैनिक-बाजि ।
जथा तेज-प्रताप मैं जो रह्यौ रवि-सम राजि ।।२३
तबहिं बिस्वेस्वरहिं बिधिवत 'ब्युषित-अस्व' अराधि ।
जन्म दीन्ह्यौ 'बिस्वसह' कौं हरी जेहिं महि-ब्याधि ।
पिता के अनुरूप जो हुतौ मीत-जग, सुखदाय ।
बिस्व - पालक और पोषक, नृप, समर्थ-सहाय ।।२४
कनक - लोचन - सत्रु के ह्वै अंस सौं सम्भूत ।
'हिरन्यनाभ' सौ तनय लहि, नृप नीति मैं जो अभूत ।
भयौ परम असह्य बैरिन, अब यौं तासु प्रताप ।
जथा पादप - पवन - संजुत - प्रबल - पावक - दाप ।।२५
तबहिं ह्वै कैं उरिन पितरन - रिनहुतैं नरनाह ।
जरा-बय मैं अनँत आनन्द की हियैं धरि चाह ।
राज दै तेहि सुतहिं जो आजानु-लम्बित बाहु ।
कियौ बलकल धारि बन मैं बास सहित उछाह ।।२६

२४—पुत्र के रूप में जन्म लिया अर्थात् जना ।

कौशल्य इत्युत्तरकोशलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य ।
तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभून्नेत्रोत्सवः सोम इव द्वितीयः ॥२७॥
यशोभिराब्रह्मसमं प्रकाशः स ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम ।
ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकारे ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनुप्रसूतम् ॥२८॥
तस्मिन्कुलापीडनिभेविपीडं सम्यङ्महीं शासति शासनाङ्काम् ।
प्रजाश्चिरं सुप्रजसि प्रजेशे ननन्दुरानन्दजलाविलाक्ष्यः ॥२९॥
पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृतिः पत्त्ररथेन्द्रकेतोः ।
तं पुत्रिणां पुष्करपत्त्रनेत्रः पुत्त्रः समारोपयदग्रसंख्याम् ॥३०॥

२७—उस उत्तर कोशलों के स्वामी का, सूर्य वंश के भूषण का, यज्ञ करने वाले का, दूसरे चन्द्रमा की नाईं नेत्रों को सुख देने वाला कौशल्य नाम औरस पुत्त्र हुआ ।

२८—यशों से ब्रह्मलोक तक प्रकाशमान वह (राजा) अपने ब्रह्मिष्ठ नाम ब्रह्म ज्ञानी बेटे को निज अधिकार में स्थापित करके ब्रह्म गति को गया (अर्थात् मुक्त हुआ) ।

२९—उस कुलशिरोमणि सुपुत्त्रवान प्रजानाथ से शासन चिन्हा पृथ्वी की रक्षा निर्विघ्न और यथोचित होने में आनन्द के आँसूभरी हुई आँखों वाली प्रजा बहुत काल सुखी रही ।

३० —बड़ों की सेवा में योग्यता पाए हुए पुत्त्र (नाम बेटे) ने, साक्षात गरुड़ध्वज रूप ने, कमल दल नेत्त्र ने, उसको पुत्त्रवानों की गिनती में मुखिया किया ।

करे उत्तर - कौसलाधिप सबिधि जप-तप-जाग ।
भानु-कुल - भूषन-सुवन - 'कौसल्य' भो बड़ भाग ।
भयौ लोचन - सुख प्रजा - कहँ धारि छबि अभिराम ।
लस्यौ अपर मृगांक - मूरति - सम सो सोभा धाम ॥२७
धबल सुजस-प्रकास कौं ब्रह्म-लोक लौं बगराय ।
राजगद्दी पै सुवन ब्रह्मिष्ठ कौं पधराय ।
ब्रह्म-ग्यानिन मैं प्रमुख जिन लख्यौ ब्रह्म-सरूप ।
त्यागि तिन तन गमन सुरपति-सदन कीन्ह्यौं भूप ॥२८
भयौ कुल - अवतंस जब ब्रह्मिष्ठ बसुधापाल ।
प्रजा-मन पै छाप दीन्हीं रच्छि महि तेहि काल ।
नयन-नलिननि सौं अमित आनन्द आँसु बहाय ।
यौं प्रजा आनन्द लहि दियौ दीर्घ काल बिताय ॥२९
भयौ वाकौ तनय जाकौ 'पुत्त्र' हो बर नाम ।
गरुड़-बाहन-बिस्नु की जनु अपर मूर्ति ललाम ।
सेय-गुरु - जन - चरन बिधिवत पात्त्रता कौं पाय ।
दियौ जनकहि पुत्त्रवन्तनि माहि अग्र बनाय ॥३०

२७—औरस पुत्त्र अर्थात् अपने वर्ण की स्त्री में अपने वीर्ज से उत्पन्न होने वाला पुत्त्र ।

२९—शासन चिन्हा=राज के चिन्ह दान खम्ब इत्यादि वाली ।

वंशस्थितिं वंशकरेण तेन संभाव्य भावी स सखा मघोनः ।
उपस्पृशन्स्पर्शनिवृत्तलौल्यस्त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप ॥३१॥
तस्य प्रभानिर्जितपुष्परागं पौष्यां तिथौ पुष्यमसूत पत्नी ।
तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां पुष्टिं जनाः पुष्य इव द्वितीये ॥३२॥
महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा ।
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ॥३३॥
ततः परं तत्प्रभवः प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसंधिरुर्वीम् ।
यस्मिन्नभूज्ज्यायसि सत्यसंधे संधिर्ध्रुवः संनमतामरीणाम् ॥३४॥

३१—उस वंश चलाने वाले से वंश की स्थिति मान कर वह विषयों से हटी हुई तृष्णा वाला, इन्द्र का सखा होने वाला, त्रिपुष्कर (नाम तीर्थों) में स्नान करके देवतापन को पहुँचा।

३२—उसकी पत्नी ने पूस की पूर्णमासी के दिन कान्ति से पद्मनाग मणि को जीतने वाला पुष्य नाम (बेटा) जना, उस दूसरे पुष्य (नक्षत्र) समान के उदय में प्रजा ने सब भाँति बढ़ती पाई।

३३—बेटे को पृथ्वी देकर वह बड़ी इच्छावाला, संसार से डरा हुआ, ब्रह्म ज्ञानी जैमिनी का चेला, उस योगी से योग सीख कर मोक्ष को गया।

३४—उससे पीछे उसके ध्रुव समान ध्रुवसन्धि नाम बेटे ने पृथ्वी पाई, जिससे श्रेष्ठ सत्यवादी में दबे हुए बैरियों की सन्धि स्थिर हुई।

कुल-प्रवर्तक-पुत्र सौं निज बंस की थिति जानि।
तथा निकट भविष्य मैं सक्रहिं-सखा - निज - मानि।
तब त्रिपुष्कर तीर्थ में ब्रह्मिष्ठ नृपति अन्हाय।
अमर - पद अधिकार पायौ देव-पुर मैं जाय ॥३१
पूस - पूरनमासि - 'पुष्यहिं' जन्म दीन्ह्यौं रानि।
पुष्पराग - प्रभामि कौं जो निदरि करत मलान।
दुतिय पुष्य नछत्र के सम उदय जाकौ देखि।
लही बृद्धि-समृद्धि के संग प्रजा - पुष्टि बिसेखि ॥३२
जनम-मरन-ब्यथानि सौं डरि भूप अमित उदार।
सुवन के कर सौंपि कैं सिगरी धरा कौ भार।
सिष्य जैमिनि कौ बन्यौं नृप जोग-सीखन-हेतु।
मुकुति, आवागमन कौं तजि लही रघुकुल-केतु ॥३३
तासु कुल-नन्दन भयौ 'ध्रुवसन्धि' नृप मतिमान।
रह्यौ जो निज कान्ति थिरता माहिं ध्रुवहिं समान।
सत्य-संध महीप कीन्ह्यौं सत्यब्रत अधिकाय।
कीन्हि तासौं प्रनत - अरिगनबृन्द - सन्धि दृढ़ाय ॥३४

३१—इन्द्र का सखा होने वाला=स्वर्ग जाने का इच्छा मान।

३४—सन्धि=मिलाप।

सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने सः ।
मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः ॥३५॥
स्वर्गामिनस्तस्य तमैकमत्यादमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम् ।
अनाथदीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार ॥३६॥
नवेन्दुना तन्नभसोपमेयं शावैकसिंहेन च काननेन ।
रघोः कुलं कुड्मलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढनरेन्द्रमासीत् ॥३७॥
लोकेन भावी पितुरेव तुल्यः संभावितो मौलिपरिग्रहात्सः ।
दृष्टो हि वृण्वन्कलभप्रमाणोऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः ॥३८॥

३५—दूज के चन्द्रमा सरीखे प्रियदर्शन सुदर्शन नाम बेटे के बालकपन ही में उस मृग समान बड़ी आँखों वाले मृगया बिहारी नरसिंघ ने सिंघ से मृत्यु पाई ।

३६—उस स्वर्ग गामी के मंत्री समूह ने प्रजा को अनाथ (और) दीन देख कर कुल के उस इकलौते डोरे को एक मति होकर विधि पूर्वक अजुध्या का नाथ किया ।

३७—नए चन्द्रमा वाले आकाश के साथ और अकेले सिंघ पुत्र वाले वन के साथ और कमल कली वाले जल के साथ वह बालक राजा वाला रघुकुल उपमा के योग्य हुआ ।

३८—किरीट धारण करने से प्रजा ने उसको पिता के तुल्य ही होने वाला माना, क्योंकि हाथी के बच्चे समान भी बादल पूरब की पवन लगने से दिशाओं को घेरता हुआ देखा गया है ।

रह्यौ प्रियदरसन 'सुदरसन' बाल - चन्द्र - ललाम ।
हरिन - सावक सरिस जाके नयन जुग अभिराम ।
निसा - द्यौस - अखेट ही की रही हिय रुचि जाहि ।
सुवन की अति बाल-बय मैं सिंह मार्‌यौ ताहि ॥३५
स्वर्ग-गत नरनाह कौ रहि गयौ बालकुमार ।
ताहि लखि सचिवन्हि कियौ मिलि एक मतहि बिचार ।
अवध-बासिन बहुरि दीन-अनाथ निज जिय जानि ।
कियौ तेहिं अधिराज-कौसल-राज कौ सनमानि ॥३६
जथा सोहत बाल - बिधु सौं सुखद नील अकास ।
लसत ज्यौं बन, करत जामें सिंह-सावक बास ।
कमल-कलिका-सौं बिराजत जथा सुभग तड़ाग ।
तथा सिसु-नरपाल सौं रघुबंस सुन्दर लाग ॥३७
धरैं मुकुटहिं सीस पै इमि लस्यौ बाल नृपाल ।
होयगौ अपनै पिता - सम कछुक बीतैं काल ।
जथा लघु गजपोत - लौं - घन - सौंह - पौनहिं पाय ।
छनक माहिं दिसानि कौं वह सपदि घेरत आय ॥३८

३६—कुल का डोरा अर्थात वंश रखने वाला ।

तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम् ।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात्प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥३९॥
कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय ।
तेजोमहिम्ना पुनरावृतात्मा तद्व्यापं चामीकरपिञ्जरेण ॥४०॥
तस्मादधः किंचिदिवावतीर्णावसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम् ।
सालक्तकौ भूपतयः प्रसिद्धैर्ववन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ ॥४१॥
मणौ महानील इति प्रभावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या ।
शब्दो महाराज इति प्रतीतस्तथैव तस्मिन्युयुजेऽर्भकेऽपि ॥४२॥

३९—उस सुन्दर भेस वाले को, राजमार्ग में हाथी पर जाते हुए को, महावत के थामे हुए को, छठा बरस पूरा किए हुए को भी, पुरवासियों ने प्रभुपन के कारण पिता की गौरवता से देखा ।

४०—निश्चय वह पिता के सिंघासन को भरने योग्य न था तो भी कनक समान उज्ज्वल तेज के प्रभाव से बड़ी हुई देह वाले ने वह भर दिया ।

४१—उस सिंघासन से कुछ लटकते हुए, सोने की पीढ़ी को न छूते हुए महावर लगे हुए, उसके पैर राजाओं ने ऊँचे मुकटों से पूजे ।

४२—जैसे छोटे प्रमाण की मणि में भी "महानील" यह नाम प्रभाव के कारण मिथ्या नहीं है ऐसे ही महाराज यह प्रसिद्ध शब्द उस बालक में भी योग्य था ।

राज - मारग माहिं दुरद अरूढ़ ह्वै जब जात ।
तासु लटके - लियैं दुकूलहिं, महावतहु दिखात ।
जदपि है षट - बरस - बालक, पै तऊ नरनाह ।
जनक-सम मानति प्रजा तेहिं स्वामि की रखि चाह ॥३९
लसत बाल - नृपाल - बामन - लौं अमित छबि-धाम ।
जनक - सिंघासन न पूर्‌यौ जदपि भूप प्रकाम ।
तदपि चामीकर-सरिस निज - देह - दिपति - दिखाय ।
ताहि पूरन कियौ तेज - प्रभाव - सौं नरराय ॥४०
लटकि सिंघासन - तरैं कछु जुगल पद - अरबिन्द ।
हेम - पटुली - पीठ कौं नहिं परसि सक्त सुछन्द ।
ललित जावक के लगैं कछु अरुन प्रभा दिखाय ।
कियौ पद-बंदन-नृपनि तेहिं मौलि-मुकुट नवाय ॥४१
जथा अल्प - प्रमान - मनि मैं महा - नील प्रभाव ।
होत कबहुँ न ब्यर्थ अरु नहिं घटत तासु बनाव ।
'महाराज' उपाधि त्यौं हो बाल ही बय माहिं ।
नृप 'सुदरसन' मैं भई केहुँ भाँति मिथ्या नाहिं ॥४२

पर्यन्तसंचारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात् ।
तस्याननादुच्चरितो विवादश्चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम् ॥४३॥
निर्वृत्तजाम्बूनदपट्टशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः ।
तेनैव शून्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखश्चकार ॥४४॥
शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः खेदं स यायादपि भूषणेन ।
नितान्तगुर्वीमपि सोऽनुभावाद्धुरं धरित्र्या बिभरांबभूव ॥४५॥
न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत् ।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥४६॥

४३—उसके दोनों ओर चमर ढुलते हुए मुख से, कपोलों पर दो चंचल कुल्लियों वाले में, उच्चारण किया हुआ बचन समुद्रों के तटों पर भी वृथा न गया (अर्थात उसकी आज्ञा समुद्रों तक मानी गई) ।

४४—सोने का पटका बँधे हुए ललाट में तिलक धारण करते हुए उस हँस मुख ने बैरियों की स्त्रियों के मुख उससे (अर्थात तिलक से) रहित कर दिए ।

४५—सिरस के फूल से अधिक कोमल अंगवाला वह गहने से भी खेद पाता था, उसीने समर्थता के कारण पृथ्वी का अति भारी बोझ भी उठाया ।

४६—पट्टी पर लिखे हुए अक्षरों के लेख को जब तक पूरा ग्रहण करे तब तक विद्या वृद्धों की संगति के कारण वह दंड नीति के सब फलों से युक्त हो गया ।

ढुरत हे चंचल सुचामर, जासु - दोनौं ओर ।
तथा परसति लोल - लटैं दोऊ कपोलनि - छोर ।
निज बदन सौं बचन बोल्यौ जौन भूप उमाहि ।
दूर-बर्ती सिन्धु - तट लौं भयौ मान्य सदाहि ॥४३
जहँ लस्यौ अभिषेक - पहिलैं, स्वर्न - पट्ट - लिलार ।
अब तहाँ पर तिलक सोह्यौ, भाल - भूप - उदार ।
सहज मृदु - मुसुकानि सौं जो, चन्द-छबि-रह्यौ छीन ।
ताहि नैं रिपु-तियनि कौ मुख, तिलक-बिनु करि दीन ॥४४
सिरसि - सुमन - समान नृप कौ, गात अति सुकुमार ।
कष्ट हू सौं सहि न पावत, मनि - बिभूषन - भार ।
तदपि प्रबल प्रभाव - बस हिय, भयेउ रंच न खीन ।
परम गरुए राज - धुर कौं, भूप - धारन - कीन ॥४५
लिखे आखर - बरन - माला के सुपटिया माहिं ।
बाल - नृप - अभ्यास जिनकौ कियौ अबलौं नाहिं ।
ग्यान - बृद्धनि - संग सौं पै कछुक दिवस - बिताय ।
दंड - नीति - प्रयोग के फल जानि गयौ नरराय ॥४६

४४—स्त्री के मुख को तिलक रहित करना उसको रांड करना हैं । विद्यावृद्ध=पंडित ।

उरस्यपर्याप्तनिवेशभागा प्रौढीभविष्यन्तमुदीक्षमाणा ।
संजातलज्जेव तमातपत्रच्छायाच्छलेनोपजुगूह लक्ष्मीः ।।४७।।
अनश्नुवानेन युगोपमानमबद्धमौर्वीकिणलाञ्छनेन ।
अस्पृष्टखड्गत्सरुणापि चासीद्रक्षावती तस्य भुजेन भूमिः ।।४८।।
न केवलं गच्छति तस्य काले ययुः शरीरावयवा विवृद्धिम् ।
वंश्या गुणाःखल्वपि लोककान्ताः प्रारम्भ[illegible]पाः प्रथिमानमापुः ।।४९।।
स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निव।[illegible]लशकरो गुरूणाम् ।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः ।।५०।।

४७—छाती पर निवास स्थान न पाई हुई लक्ष्मी ने युवान होने वाले की आसावती ने, लज्जावती की नाईं उसको छत्र छाया के मिस से आलिंगन किया ।

४८—उसकी भुजा से, जुए की उपमा को न पहुँची हुई से, प्रतिंचा की रगड़ का चिन्ह धारण न करती हुई से, और खड्ग की मूठि न छुई हुई से भी, पृथ्वी रक्षावती हुई ।

४९—समय जाने पर केवल उसके शरीर के अंश ही वृद्धि को न पहुँचे किन्तु वंश के गुण भी प्रजा के प्यारे, आदि में सूक्ष्म, परिपूरण हुए ।

५०—पूर्व जमान्तर में पार देखी हुई सी सुध करके उस गुरुओं को क्लेश न देने वाले ने तीनों विद्या, त्रिवर्ग की प्राप्ति का मूल, ग्रहण कीं और बाप दादे की प्रजा भी ।

भूप - बच्छ - बिसाल पै नहिं सकी बासहिं पाय ।
तरुन ह्वैबै माहिं वाके रही आस लगाय ।
लाज - बस मनु करि न पावत तऊ हियै उमाहि ।
छत्र - छाया मिसु लियौ भरि अंक कमला ताहि ।।४७
जुवा की जेहिं कबहुँ उपमा लही अब लौं नाहिं ।
चाप की डोरी रगर कौ चिन्ह नहिं जेहिं माहिं ।
खरग की नहिं मूठि - परसी जाहि के भुज - दंड ।
तऊ रच्छित रही भूप - प्रताप - अवनि - अखंड ।।४८
प्रिय 'सुदरसन' भूप कौ यौं गयौ बीतत काल ।
बढ्यौ केवल गात ही नहिं भई बुद्धि बिसाल ।
स्वल्प है आरम्भ मैं जे बंस - गुन - अमिराम ।
लगे अति प्रिय प्रजा-जन कौं सबहिं भाँति ललाम ।।४९
धर्म, अर्थ रु काम पूरब - जनम के संस्कार ।
मनहुँ त्रय - बिद्यानि - पायौ दियौ गुरुन न भार ।
दंड, नीति रु बारता, बल - मीत - मंत्रि -अधार ।
पाइ इमि दोउ-त्रय-सुबिद्यनि कियौ राज-सँभार ।।५०

४७—छत्र की छाया लक्ष्मी का रूप होता है । यह प्रसिद्ध है छोटे दूलह को छाती लगाने से बड़ी दुलहन को लज्जा आती है ।

४९—वंश के गुण=शूरता उदारता इत्यादि ।

५०—तीन विद्या—अर्थात् त्रयी और वार्ता और दंड नीति । त्रयी तीन वेद का जानना । वार्ता खेती बनज इत्यादि की रक्षा करना, दडंनीति न्याय करना । त्रिवर्ग अर्थात् धर्म अर्थ काम ।

व्यूह्य स्थितः किंचिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥५१॥
अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम् ।
अकृतकविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजातं विलसितपदमाद्यं यौवनं स प्रपेदे ॥५२॥
प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः समधिकतररूपाःशुद्धसंतानकामैः ।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः॥५३॥

५१—अगले आधे शरीर को कुछ बढ़ा कर खड़ा होता हुआ, ऊँचे जूड़े वाला, नवी हुई बाईं जाँघ वाला, अस्त्रों में शिक्षा पाता हुआ, वह वाण चढ़े हुए धनुष को कान तक खेंचता हुआ, शोभायमान दीखा ।

५२—फिर उसने स्त्रियों के नेत्रों को प्यारा मधु, कामदेव के वृक्ष का अनुराग रूपी पत्तों वाला फूल, बिना बनाया समस्त अंगों का गहना, विलास का उत्तम साधन, यौवन पाया ।

५३—दूतियों की दिखलाई हुई चित्र रचनाओं से अधिक रूपवती राजकन्याओं ने, शुद्ध वंश चाहने वाले मंत्रियों की लाई हुईयों ने, उस युवान की पहले पाणिग्रहण की हुई लक्ष्मी और पृथ्वी बड़ी सौत बनाई ।

तानि अगिले ऊर्ध गातहिं केस ऊँचे बाँधि।
बहुरि खैंचत कान लौं सर - कर - सरासन साधि ।
कछुक बाईं जानु कौं पुनि अवनि ओर झुकाय ।
लस्यौ अति अभिराम नृप इमि अस्त्र-सिच्छा पाय ॥५१

सार

तदनंतर तिय-नैननि कौ प्रिय, रह्यौ रुचिर मधु जोई ।
अरु अनंग-तरु-कुसुम-रंग-अनुराग सुकिसलय सोई ।
भूषन-ललित-सुभाविक जेहि के, अंग-प्रत्यंगनि-घेरौ ।
ता, बिलास-साधन-थल-जोवन, नृप-तन-कियौ बसेरौ ॥५२

रोला

लखि, जिनके रुचि रुचिर, दूतिकनि-चित्र दिखाये ।
अरु सुचि - संतति - हेतु, जिन्हैं मंत्री लै आये ।
तिन कुमारिकनि - संग - 'सुदरसन' डारीं फेरीं ।
श्री-अवनी दोउ भईं, बड़ी सोतैं तिन केरीं ॥५३

५२—यौवन कैसा है कि स्त्रियों के नेत्रों को प्यारा मधु है, कामदेव रूपी वृक्ष का फूल है, सब अंगो को अकृत्रिम गहना है, विलास का श्रेष्ठ स्थान है ।

५३—बड़ी सौत बनाने से तात्पर्य यह है कि राजकन्या उसको ब्याही गई ।

॥ एकोनविंशः सर्गः ॥

अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्निते जसम् ।
शिश्रिये श्रुतवतामपश्चिमः पश्चिमे वयसि नैमिषं वशी ॥१॥

तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः ।
सौधवासमुटजेन विस्मृतः संचिकाय फलनिःस्पृहस्तपः ॥२॥

लब्धपालनविधौ न तत्सुतः खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी ।
भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता ॥३॥

सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्तयत्समाः ।
संनिवेश्य सचिवेष्वृतः परं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत ॥४॥

उन्नीसवाँ सर्ग

१—अग्निवर्ण अग्नि समान तेजस्वी बेटे को अपनी पदवी पर अभिषेक कराकर शास्त्र ज्ञानियों के मुखिया जितेन्द्री रघुवंशी ने बुढ़ापे में नैम पराणय सेवन किया ।

२—वहाँ तीर्थ के जल से बिहार कुंडों को, धरती पर बिछी हुई दाभ से सेजों को, पत्तों की कुटी से राजभवनों को, भुलाकर फल के निस्पृही ने तप कमाया ।

३—पाए हुए (राज्य) की रक्षा विधि में उसके पुत्र ने खेद न पाया क्योंकि पिता ने भुजा से बैरियों के जीतने वाले ने, पृथ्वी उसके भोगने ही को पाली थी कंटक मिटाने को नहीं ।

४—वह नए यौवन वाला कामी अपने कुलोचित धर्म (प्रजापालन) को कुछ बरस तक आप वर्तता रहा फिर मंत्रियों पर डाल कर स्त्रियों के बस हुआ ।

उन्नीसवाँ सर्ग

सवैया

अग्नि-लौं-तेजसी-अग्निबरन्न-सुतै, निज-राज- सुदर्सन दीन्ह्यौं ।
औ' बिरधापन में तिमि नैमिष-कानन-माहिं निवासहिं लीन्ह्यौं ।
तीरथ-तोयनि वापिका कौ, कुस आसन नैं सेजिया-पद छीन्ह्यौं ।
सौध-बिहाय कुटी में रह्यौ, निहकाम ह्वै यौं तप भूपति कीन्ह्यौ ॥१-२

पाई-पिता सौं-बसुन्धरा कौं, स्रम, पालिबे मैं नृप कौ नहिं आयौ ।
आपनैं ही भुजदंडनि के, बलसौं, जिन बैरिन कौं बिचलायौ ।
पालि कुलोचित-मेदिनी कौं, मदनारत ह्वै कितीं बर्षैं बितायौ ।
सासन-मंत्रिन के कर-सौंपि, बिनोद-बिहारनि मैं मन लायौ ॥३-४

कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु ।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ॥५॥

इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षमः सोढुमेकमपि स क्षणान्तरम् ।
अन्तरेव विहरन्दिवानिशं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः ॥६॥

गौरवाद्यादपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥७॥

तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूषितम् ।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणम् ॥८॥

यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः ।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥९॥

५—उस कामिनी सखा कामी के मृदंग धुनि वाले मन्दिरों में पहले ऋद्धि मन्त्र उत्सव को पिछले अधिक ऋद्धि सन्त उत्सव ने तिरस्कार किया ।

६—वह इन्द्रियों के विषय बिना एक छन का भी अन्तर सहने को असमर्थ रात दिन रनवास ही में बिहार करता हुआ दर्शन चाहती हुई प्रजा को भूला ।

७—जो मंत्रियों के दबाउ से प्रजा का चाहा हुआ दर्शन कभी दिया भी तो झरोखे में लटकते हुए केवल एक पैर से ।

८—नमस्कार करते हुए सेवकों ने उस (पैर) को, अपने कोमल नख की लाली से आभूषित को, सवेरे के सूरज की घाम लगे हुए कमल की तुला पर चढ़े हुए को, सेवन किया ।

९—और स्त्रियों के योवन उन्नत स्तनों के झकोरों से हिलते हुए कमल वाले जल भवनों में, उन्हीं के जलों से ढके हुए केलि मन्दिर वालों में, उस प्रबल कामी ने बिहार किया ।

कामिनीं लागीं रहैं तन-छाँह-लौं, सौंध मृदंगनि की धुनि पूरी ।
नूतन - धूमनि नैं मिलि कीन्ह्यौं, पुरातन-उच्छव-धूमनि-धूरी ।
त्यौं बिषैं बासना सौं महिपाल, नहीं छिन एकौ सक्यौ रहि दूरी ।
लाग्यौ बिहारनि मैं निसि द्यौस, लियौ प्रजा-सौंमनु नातोई तूरी ॥५-६
मंत्रिन-गौरब-राखिबे-काज, प्रजानि कौ दर्सन दीबौ बिचार्‌यौ ।
सौध-गवाछ सौ बाहर कौं, अपनौं अरबिन्द-सौं पाँव निकार्‌यौ ।
सेवक कीयौ प्रनाम करैं अरुना-नख-राग-प्रभा जिन धार्‌यौ ।
राज्यौ सरोज-सौं, जापै प्रभात-दिवाकर नैं अपनौं कर डार्‌यौ ॥७-८
जौबन-आगम - कामिनियाँनिके उन्नत-पीन - उरोज सुहाये ।
त्यौं अरबिन्दनि कौं, जिनके, झकझोरनि सौं तिन मंजु हिलाये ।
ऐसे अनेकन ही जल-भौन, बिहारके हेतु महीप खनाये ।
यौं बनितानि सौं, बाबलियानि बिहारनि मैं किते बर्ष बिताये ॥९

५—एक से एक अधिक सामग्री का उत्सव हुआ ।

८—तुला पर चढ़ा हुआ=बराबरी को पहुँचा हुआ ।

तत्र सेकहृतलोचनाञ्जनैर्धौतरागपरिपाटलाधरैः ।
अङ्गनास्तमधिकं व्यलोभयन्नर्पितप्रकृतकान्तिभिर्मुखैः ॥१०॥
घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः ।
अभ्यपद्यत स वासिताः पुष्पिता कमलिनीरिव द्विपः ॥११॥
सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरङ्गनाः ।
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः ॥१२॥
अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे ।
वल्लकी च हृदयङ्गमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना ॥१३॥

१०—वहाँ नहाने में अंजन मिटे हुए नेत्र वाले मुखों से, लखौटे की लाली धुले हुए होठ वालों से, स्वाभाविक कान्ति पाए हुओं से, उसको स्त्रियों ने अधिक लुभाया ।

११—वह कामिनियों का सखा नाक की प्यारी मद्य गन्धि से (मन) खेंचने वाली पान भूमियों से प्रवृत हुआ, जैसे फूली हुई कमलनियों में हथनियों का सखा हाथी ।

१२—अत्यन्त मादिकता करने वाला उसका दिया हुआ मुख आसव अंगनाओं ने एकान्त में अभिलाषा से लिया, उनका दिया हुआ भी उस वकुल समान आकाँक्षी ने पिया ।

१३—अंक में बैठने योग्य दोनों नें उसका अंक अशून्यता को पहुँचाया (अर्थात् भर दिया), मनोहर धुनि वाली बीना ने और मीठी बाणी वाली कामिनी ने ।

बापिका मैं जल-मंजन सौं, दृग-अंजन कौं जिन धोय बहायौ ।
त्यौं अधराधर रागनि की, अरुनाइहिं बारि सौं सींचि भगायौ ।
यौं प्रमदानि कौ आनन मंजु, सुभाविक ही सुखमा सौं सुहायौ ।
या बिधि सौं नरनायक के, मन कौ तिन बारहिं-बार लुभायौ ।।१०
सूँघिबे मैं अति प्यारी लगै, बर-तीखी-सुगन्धि महा-मन-भावै ।
वा सुरापान-मही-बर-मंडप मैं, जो सुगन्धि-सौं जी-ललचावै ।
कामिनी-बामनि-संग-महीप, गयौ तहाँ यौं हीं महा-छबि-छावै ।
ज्यौं बिकसी-नलिनी-बन मैं, करि-मत्त, लियैं करिनीनिहिं आवै ।।११
जा नृप के मुख-आसव नैं, अति सै घनी मादकतै धरि राख्यौ ।
जाय इकन्त मैं बाम निसंक ह्वै ता कहँ पाइबै कौं अभिलाख्यौ ।
त्यौं रस के बस ह्वै महिपाल, सनेह की सींवहि नेकु न नाख्यौ ।
आसव नारिनहूँ कौं दियौ, अपनैं मुख चौगुनैं-चाव सौं चाख्यौ ।।१२
ज्यौं हिय-पर्सी मृदु-ध्वनी बीना, त्यौंहीं कल-कंठी तिया-मनभाई ।
अंक मैं बैठन-जोग दुहूँनि नैं, भूपति की अभिलाष पुजाई ।।१३

११—पान भूमि=मदिरा पीने का स्थान ।

१२—मुख आसव अर्थात् मुख का रस । वकुल के वृक्ष का स्वभाव है कि जब तक स्त्री उसको न चूमे तब तक फूलता नहीं है इसलिए वकुल को स्त्री के मुख आसव का अभिलाषी कहते हैं ।

१३—अंक=गोद ।

स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववतिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥१४॥
चारु नृत्यनिगमे च तन्मुखं स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात् ।
प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्नत्यजीवदमरालकेश्वरौ ॥१५॥
तस्य सावरणदृष्टसंधयः काम्यवस्तुषु नवेषु सङ्गिनः ।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषयाः समागमाः ॥१६॥
अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभङ्गकुटिलं च वीक्षितम् ।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥१७॥

१४—आप बाजा बजाते हुए उस चतुर ने, माला और कंकन हिलते हुए ने, मन हरते हुए ने गति भूली हुई नर्तिकियों को (उनके) गुरुओं के सामने लज्जित किया ।

१५—और नाच के अन्त में उनके सुन्दर मुख को, परिश्रम के पसीने से तिलक मिटे हुए को, प्यार की फूँक देते हुए ने चूमकर अपना जीतव इन्द्र और कुवेर के जीतव से श्रेष्ठ माना ।

१६—अन्त जाकर नई नई वस्तुओं में आसक्त होने वाले उस (राजा) के समागमों को, प्रगट और अप्रगट उपायों से हाथ आए हुओं को विलासिनियों ने अधभोगा रक्खा ।

१७—अँगुलियों के पोरों की तर्जना और टेढ़ी भवों को तिरछी चितवन और नीवी से बार-बार बँधना उस प्यारियों को छलते हुए ने पाया ।

चंचल - कंकन - हार हरौ ही, मृदंग बजायौ जबै गति-लाई ।
नाचतीं बार-बधूनि गुरून के, सामुहैं दीन्ह्यौं महीप लजाई ॥१४

नाच के अन्त मैं बार-बधूनि कौ, आनन-कंज कछू कुँभिलान्यौं ।
औ' श्रम सीकरहू तिलकैं, ससि-भाल-थली सौं हटाइबौ ठान्यौं ।
आपनैं ही मुख-स्वाँस सौं फूँकि, कपोलनि-चूमि महामुद मान्यौं ।
औ' निज जीवन कौ अमरेस-जलेसहूँ सौं बढ़ि कैं नृप जान्यौं ॥१५

जाय इकन्त मैं अन्त कहूँ, नरनाथ मनोभव के रस भीन्यौं ।
आन तियानिसौं आपु बिनोद-बिहार की साधै जबै मन कीन्ह्यौं ।
पै तेहिं कौं जबै गुप्त उपायसौं, रानिन-जानि केहूँ-बिधि लीन्ह्यौं ।
तौ नृप के अभिलाषनिकौं, तिन कैसेहूँ पूरन होन न दीन्ह्यौं ॥१६

नूतन-पल्लव सी अँगुरीनिके, पोरनि सौं नृपकौं डरपाई ।
त्यौं ही तिरीछी चितौनि चितै, तिनकी दिसि भाव सौं भौंह भ्रमाई ।
बाँध्यौ महीप कौं बार अनेकन, कंधनियानि-प्रियानि-रिसाई ।
प्रेयसी-प्यारिन बंचन-काज, जबै हीं प्रयास कियौ नरराई ॥१७

१४—गुरु=अर्थात् नाचना गाना सिखाने वाला ।

१६—भावार्थ यह है कि जो मन माना भोग करके जायेगा तो फिर आने की चाह इसे न रहेगी ।

तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु ।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः ॥१८॥
लौल्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः ।
वर्तते स्म स कथंचिदालिखन्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः ॥१९॥
प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादायताच्च मदनान्महीक्षितम् ।
निन्युरुत्सवविधिच्छलेन तं देव्य उज्झितरुषः कृतार्थताम् ॥२०॥
प्रातरेत्यपरिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽधुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ॥२१॥

१८—सुरतकाल की रात्रियों में दूतियों के जान मान पीठ पीछे बैठ कर उसने विरह की शंका करती हुई प्यारियों के दीन वचन सुने ।

१९—अपनी स्त्रियों के समागम में दुर्लभ वेस्याओं पर आसक्त होकर वह अँगुली पसीजने से खिसलती हुई लेखनी वाला जैसे तैसे उनका चित्र बनाता रहा ।

२०—प्रेमगर्विता सौतों में ईर्षा के कारण और बढ़े हुए कामदेव के कारण राजियों ने रिस छोड़कर उस राजा को महोत्सव के मिस से मनोरथ पूरा करने वाला बनाया ।

२१—सवेरे जाकर सुरत के चिन्ह वाले दर्शन से खंडितापन की विथा उपजी हुई प्यारियों को हाथ जोड़कर प्रसन्न करते हुए उसने प्रेम से अलसा कर फिर दुखी किया ।

केतिक रातिन रानिन कौं, छलिबे की हियें नृप साधहिं ठानैं ।
दूतिका जानतीं भेद सबै, पै लगै तिनके संग आपु सयानैं ।
"पीतमैं क्यौं न मिलावतीं ल्याय", कहै तिय बैन महा-दुख-सानैं ।
आपनैं स्रौननि सौं सुनि कैं, महिपाल महा-मन मैं मुद मानैं ॥१८
घेरैं घरी-घरी रानी रहैं सबै, या लगि नेकौ समैं नहिं पावत ।
बार-बधूनि की तौहूँ तिन्हैं, दिन में सुधि केतिक बार सतावत ।
भूप की कोमल आँगुरियानि सौं, स्वेद के बिन्दु तबै कढ़ि आवत ।
तूलिका मंजुल काँपती आपु, रहै तिनके तऊँ चित्र बनावत ॥१९
प्रेम अछेह सौं मान कियैं, कितीं रानियाँ भूपति कौं बिसरावतीं ।
सौतिया-दाह सौं केती तियाँहूँ, नहिं तिनसौं मिलिबौ ठहरावतीं ।
त्यौं ही अनंग के रंग रँगी, कितीं उच्छव-ब्याज सौं राजै बुलावतीं ।
औरस-केलि-सकेलि सबै, अपनैं हिय की अभिलाषैं पुजावतीं ॥२०
सारी निसा कौ जगौ, रति-चिन्ह,लियैं निज मन्दिर कौं नृप आवत ।
खंडिता-बामनि की यहि भाँति, बियोग-बिथानि कौं आपु बढ़ावत ।
मान-बिमोचन-काज तिन्हैं, बिनती करिकैं कर-जोरि मनावत ।
देत संतोष औ' दुख तिन्हैं, बहुरैं जब प्रेम-पगौ अरसावत ॥२१

१८—हे दूती प्यारे से मिला कर मेरे प्रान रख इस प्रकार के दीन बचन सुने ।

२१—मन दूसरी में लगा था इससे अलसाया हुआ देखकर सौत रिसानी।

स्वप्नकीर्तितविपक्षमङ्गनाः प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम् ।
प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलयैर्विवर्तनैः ॥२२॥
क्लृप्तपुष्पशयनाँल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।
अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम् ॥२३॥
नाम वल्लभजनस्य ते मया प्राप्य भाग्यमपि तस्य काङ्क्ष्यते ।
लोलुपं ननु मनो ममेति तं गोत्रबिस्खलितमूचुरङ्गनाः ॥२४॥
चूर्णबभ्रुलुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम् ।
उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत् ॥२५॥

२२—स्वप्न में सौत की बड़ाई करने वाले उस (राजा) को स्त्रियों ने बिना बोले ही उलटी करोटों से, बिछौने में आँसू गिराती हुईयों से, क्रोध में कंगने टूटती हुइयों से, अनादर किया ।

२३—फूलों से सजी हुई सेजों वाली लता कुंजों में जाकर दूतियों के मार्ग दिखलाए हुए ने राजियों के डर से दासियों के साथ कम्प सहित बिहार किया ।

२४—"तेरी मनभावती का नाम जानकर उसके भाग्य की भी मैं आकांक्षा करती हूँ क्योंकि मेरा मन लालची है इस प्रकार स्त्रियों ने उस नाम लेते में बहकते हुए को कहा ।

२५—कुमकुम के सुनहरी रंग वाली सेज ने, मिड़ी हुई माला से भरी हुई ने, टूटी तागड़ी वाली ने, महावर के चिन्हवाली ने, उसके अनोखे विलास प्रगट किए ।

सपनैं मैं अपनैं पिय तें, सुनैं आन-तिया कौ प्रसंसत, नारीं ।
बोलैं-बुलायें न, औ' तेहिं ओर, करौट न लेवैं महा सुकुमारीं ।
गीलौ करैं सेजिया - पटकौं, बरसाइकैं मंजु - बिलोचन - बारीं ।
बालम पै इमि रोष करैं, करकंज-सौं कंकनि-तोरि निबारीं ॥२२
मंजु लतानि के कुंजनि मैं, जहाँ फूलनि सौं सजी सेज बिछाई ।
आपु तहाँ चलि कामी-महीपति, दूतियाँ हीं जाहि गैलै-दिखाई ।
भोग्यौ महा रति-केलनि कौ सुख, दासिन कौं निज-अंक-लगाई ।
कम्पित गात भयौ सिगरौ, हिय मैं पटरानिन कौ भय खाई ॥२३
"नाँउँ सुन्यौ तव-भावती कौ, हमहूँ अतिसै तेहि पै अनुरागीं ।
वासौं सुहागहिं पाइबै काज, खरी अभिलाखैं हिये महँ जागीं ।
चंचल चित्त हमारौ भयौ, हम चाहतीं होन सबै बड़ भागीं ।"
बारतियाँ, इमि भूपति कौं, बतियानि ही में बहकाबनि लागीं ॥२४
सोहैं सरोटैं परी बहुतैं, जेहिं पै, जो है कुंकुम-रंग-रँगाई ।
त्यौंहीं दली-मली-मैली परी, कहूँ तागरी मौंतिन कीऊ सुहाई ।
जावक कें सद-छापनि के लगैं पाँयतैं-छाय रही अरुनाई ।
भूप बिलासी की यौं सेजिया, निसि के रति-रंगनि-देति बताई ॥२५

स स्वयं चरणरागमादधे योषितां न च तथा समाहितः ।
लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकैर्मेखलागुणपदैर्नितम्बिभिः ॥२६॥
चुम्बने विपरिवर्तिताधरं हस्तरोधि रशनाविघट्टने ।
विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद्वधूरतम् ॥२७॥
दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीर्नर्मपूर्वमनुपृष्ठसंस्थितः ।
छायया स्मितमनोज्ञया वधूर्ह्रीनिमीलितमुखीश्चकार सः ॥२८॥
कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनं न्यस्तपादतलमग्रपादयोः ।
प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियास्तं निशात्ययविसर्गचुम्बनम् ॥२९॥

२६—योषिताओं के चरनों में उसने आप महावर लगाया परन्तु ढीले वस्त्र पड़ी हुई नितम्ब सहित जाँघों के लुभाए हुए नेत्रों वाले ने यथोचित मन देकर नहीं (लगाया)।

२७—चुम्बन समय हटाए हुए होठों वाला, नीवी खोलते से रोके हुए हाथों वाला, सब ठौर इच्छा भंग किया हुआ, विलास भी उसको कामोद्दीपन हुआ।

२८—दर्पन में सुरत के चिन्ह निहारती हुई अंगनाओं को उसने हँसी के लिए उनके पीछे बैठ कर मुसकान मनोहर छाया से लज्जित किया।

२९—कंठ में कोमल बाँह की माला डाले हुए से, पैरों पर पैर के तलवे रक्खे हुए से, उस सेज से उठते हुए से, प्यारियों ने प्रभात समय के बिछुड़ने का चुम्बन माँगा।

जावक-आपनैं हाथ - जबै प्रमदा - पद-कंजनि - भूप - लगाबत ।
ताखन सातुकी-भाव-जगैं, कटि कौ पट ढीलौ कछू खसि आवत ।
दीसै-लगैं-तैं उरू औ' नितंब, तबै नृप-चंचल नैन लुभावत ।
या लगि पायन मैं मन दै कैं, महाबर नीकै लगाय न पावत ॥२६
चुम्बन कै गदकारे कपोल, जबै अधरा - रस - चाखन - चाहत ।
नीबी कौ बंधन खोलिबै कौं, अपनैं कर-कंज-सौं भूप उमाहत ।
आनन-लेतीं हटाय तियाँ, कर-रोंकि, न प्रीति की रीति-निबाहति ।
कामिनियाँ इमि मंजु बिलास-सौं, वा मैं मनोज-कृसानु-प्रदाहति ॥२७
दन्त-नखच्छद - गात लगे, लखैं सुन्दरियाँ जबै दर्पन-माहीं ।
त्यौं रस के बस भूप हरैं-हरैं, ठाढ़ैं ह्वै जात हे, जाय पिछाहीं ।
भावते कौं प्रतिबिम्ब मैं देखतैं, नीचे कियैं मुख बाला लजाहीं ।
यौं तिन कौ, परिहास महीप, कियौ करैं और हरैं-मुसुकाहीं ॥२८
मेलि गरैं मृदु बेलि-सी बाहनि, कामिनियानि के प्रेम में पाग्यौ ।
पायनि पै धरैं पायनि के–तरबा, रस-केलिन मैं अनुराग्यौ ।
प्रात-समैं कौ प्रकास-निहारि जबै निदिया-तजि-भूपति जाग्यौ ।
सेज सौं जात समें प्रमदानि नैं, गोल-कपोल कौ चुम्नब-माग्यौ ॥२९

२६—महावर तो लगाया परन्तु दृष्टि जाँघों पर गई इससे सावधान न रहा।

प्रेक्ष्य दर्पणतलस्थमात्मनो राजवेशमतिशक्रशोभिनम् ।
पिप्रिये न स तथा यथा युवा व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनम् ॥३०॥
मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रियाः ।
विद्म हे शठ पलायनच्छलान्यञ्जसेति रुरुधुः कचग्रहैः ॥३१॥
तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः ।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥३२॥
संगमाय निशि गूढचारिणं चारदूतिकथितं पुरोगताः ।
वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोवृतः कामुकेति चकृषुस्तमङ्गनाः ॥३३॥

३०—दर्पन में पड़े हुए अपने राजभेस को, इन्द्र से अधिक शोभायमान को, देखकर वह युवान ऐसा प्रसन्न न हुआ जैसे प्रगट चिन्हवाली परिभोग की शोभा को (देखकर) ।

३१—मित्र के कार्य का मिस करके पास से उस अकुलाकर जाते हुए को प्रियाओं ने "हे शठ भोगने के छल हम भली भाँति जानती हैं" ऐसा कह केश पकड़ कर रोका ।

३२—निर्दयपन की रति के श्रम से अलसाई हुई युवतियाँ उसकी चौड़ी छाती पर, बड़े स्तनों से चन्दन मिटी हुई पर, कंठ सूत्र नाम आलिंगन के मिस से सो गई ।

३३—सम्भोग के लिये रात में छुपकर जाते हुए को, अप्रगट फिरने वाली दूतियों के दिखाए हुए को, आगे गई हुई, अंगना "हे कामी लुक कर किधर धोखा देता है" यह कहकर खेंच लाई ।

आपनौं राजसी-भेष महीप, बिलोकि-बिलोकि कैं दर्पन माहीं ।
नोखी लखैं सुखमा जेहि की, मन माहिं सकाय सुरेस लजाहीं ।
पै नरनायक ताहि निहारि, हियैं उतनौं सुख पावत नाहीं ।
जेतौ तियानिके दन्त-नखच्छद, गात लगे, निरखेतैं सिहाहीं ॥३०

तुम काज करौ नित मीतन के, यहि कौ हियैं खेद न आनती हैं ।
हम सौं छल-कै भजे जात जहाँ, सोऊ बात भली बिधि-जानती हैं ।
"सठताई करौ इतनी न नरेस", तियाँ एहि भाँति बखानती हैं ।
अकुलाय कैं भाजत-भूपति के, गहि केसनि रोकिबौ ठानती हैं ॥३१

निरदैं-रति-खेदनि-सौं थकि कामिनीं, आरस-मानि-समोवती हीं ।
महिपाल की बच्छ-थली-तैं लगीं, सबै या बिधि सौं स्रम-खोवती हीं ।
जेहि पै लगे चन्दन कौं अपनैं, कुच-कुम्भनि-सौं घसि गोवती हैं ।
अपनैं गर-सूत्रैं उतारि धरैं, पिय की छतियाँ-लगि सोवती हैं ॥३२

आन-तिया सौं मिलाप के हेतु, चल्यौ निसि मैं दुरि कैं नरराई ।
या बिधि जात पिया कौं, प्रियानि, दियौ जिन्हैं गुप्त-चरीनि बताई ।
पूरव पाये-सँकेत पै मानिनीं भूपति सौं पहिलैं जो सिधाईं ।
"जात कहाँ हम कौ ठगि कैं", कहि कैं इमि राजहिं सो गहि लाईं ॥३३

योषितामुडुपतेरिवार्चिषां स्पर्शनिर्वृतिमसाववाप्नुवन् ।
आरुरोह कुमुदाकरोपमां रात्रिजागरपरो दिवाशयः ॥३४॥

वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः ।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन् ॥३५॥

अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन् ।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसन्निधौ ॥३६॥

३४—जैसे चन्द्रमा किरणों के स्पर्श का ऐसे वह योषिताओं का सुख लेता हुआ, रात में जगने दिन में सोने वाला कुमुदवन की उपमा को पहुँचा ।

३५—दाँतों से कटे होठ वालियों ने, नखच्छद से चिन्हित जाँघ वालियों ने वेणु और बीना दोनों से पीड़ित गायनों ने टेढ़ी चितवन करके उसको रिझाया ।

३६—अंग से मन से और वाणी से बनाया हुआ नाच एकान्त में स्त्रियों को सिखाकर मित्रों के सामने दिखलाते हुए उस (राजा) ने चतुर नाट्याचारों के जीतने की इच्छा की ।

चन्द की चारु सुधा सौं भरीं, किरनैं ज्यौं कुमोदन कौं बिकसावत ।
त्यौं ही नरेस तियानि के कोमल, गातनि कौं परसैं सुख पावत ।
जागत ही रहैं सारी निसा, सिगरे दिन कौं सुख-सोय बितावत ।
या बिधि सौं निसि-द्यौस रहै, नर-पाल-कुमोदन-सौ सरसावत ॥३४

सद-दन्तन के छद लागे दुऔ, अधरा-धरि बेनु बजावतीं हीं ।
अरु पीन-उरून पै बीन धरैं, नख-अंकन की छबि छावतीं हीं ।
इमि प्यारीं-संगीत-कला बँतियाँ, दुख, बाजे-बजावतीं पावतीं हीं ।
तऊ बंक बिलोकनि सौं लखि कैं, नरनाह कौ चित्त चुरावतीं हीं ॥३५

बाचिक, आँगिक, सात्विक भावनि, नृत्य महीपति नैं निरमाई ।
ताहि इकन्त मैं चापनि सौं, बनितानि अनन्दसौं दीन्ह्यौं सिखाई ।
मीतनि के पुनि सामुहैं ताहि, दिखाइबै मैं रुचि कै अधिकाई ।
नाट्य-कला में बिजच्छन जे, तिनहूँ सन होड़ करै नरराई ॥३६

३४—कुमुदवन=कुमोदिनियों का कुंड । कुमोदिनी दिन में सोती रात में खिलती है ।

३५—ताप्पर्य यह है कि कटे होठ से वेणु बजाने में कष्ट होता है और जाँघ में घाव होने से वीणा बजाने में कष्ट होता है इसलिए इन बाजों को बजाते हुए उन गाने वालियों ने टेढ़ी आँख करके उसे रिझाया ।

३६—नाट्याचार=नृत्य सिखाने वाले ।

अंसलम्बिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरजसाङ्गरागिणः ।
प्रावृषि प्रमदबर्हिणेष्वभूत्कृत्रिमाद्रिष विहारविभ्रमः ॥३७॥
विग्रहाच्च शयने पराङ्मुखीर्नानुनेतुमबलाः स तत्वरे ।
आचकाङ्क्ष घनशब्दविक्लवास्ता विवृत्य विशतीर्भुजान्तरम् ॥३८॥
कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः ।
अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम् ॥३९॥
सैकतं च सरयूं विवृण्वतीं श्रोणिबिम्बमिव, हंसमेखलम् ।
स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं सौधजालविवरैर्व्यलोकयत् ॥४०॥

३७—उस कंधे पर कुटज और अर्जुन की माला पड़े हुए का, कदम की रज से अंगराग किए हुए का, बिहार बरसा ऋतु में उन्मत मोरों वाले कृत्रिम पहाड़ों में हुआ ।

३८—और मान से पीठ फेरी हुई अबलाओं के मनाने में उसने उतावली न की उनको बादल की गरज से अकुलाकर सीधी करोट ले छाती से लगाती हुई देखना चाहा ।

३९—कातिक की रातों में उस चन्दोवा तने हुए मन्दिरों के वासी ने, सुन्दर अंगनाओं के सखा ने, सुरत का श्रम हरने वाली बादल की छोड़ी हुई उज्ज्वल चाँदनी भोगी ।

४०—और हंस रूपी तागड़ी वाला तट नितम्ब की नाईं दिखाती हुई सरजू को, अपनी प्यारी के विलास की होड़ करती हुई की, मन्दिर के झरोखों से देखा ।

सुन्दर - कंधन-मध्य - गरैं, कुटजार्जुन - फूलनि - हार सजाये ।
त्यौंहीं कदम्ब - प्रसून - मरंद कौ, अंगनि मैं अँगराग लगाये ।
पावस के घन-बृन्द लखैं, जहाँ नाचत मत्त - मयूर सुहाये ।
छद्मी-पहारनि पै तहँ भूप नैं, नाना-बिहार किये मन-भाये ॥३७
सोई जो सेज पै पीठि दियैं, नृप की दिसि, मान सौं कीन्हैं रुखाई ।
भूप नैं नैंकहुँ नाहिं करी, तिनकाहिं मनैबे मैं आतुरताई ।
चाह्यौ ये मेघनि-गर्जनि कौं सुनि, दौरि डरीं हिय में घबराई ।
आपु ही मो-तन लैकैं करौट, लसैं भुज-बंधनि-भावतीं आई ॥३८
कातिकी-रातिन राज्यौ नरेस, अटानि पै मंजु बितान सजाये ।
काम की बाम-सी केतीं तियाँ, जिनकौं अपनैं संग में निवसाये ।
मेघन-मुक्त जहाँ चहुँघाँ हुती, चाँदनी नोखी-छटा-छिटकाये ।
दूरि करै रति के स्रम कौं, तिनमैं कै समोद-बिहार सुहाये ॥३९
कूल-दुऔ सरजू-सरि के, सिकता-मय मानौं नितंब सुहाये ।
त्यौं हीं मरालनि की अबली लसै, कंधनी की सुखमा-बगराये ।
सुन्दरी-राज-बधूनि-बिलासनि सौं, लगै जो मनौं होड़ लगाये ।
या-बिधि-वा सरिता कौं लखै नृप, भौंन-झरोखनि-सौं सुख-पाये ॥४०

३७—कृत्रिम अर्थात बनाया हुआ पहाड़ ।

मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैस्तमेकतः ।
जह्रु राग्रथनमोक्षलोलुपं हैमनैर्निवसनैः सुमध्यमाः ॥४१॥

अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु ।
तस्य सर्वसुरतान्तरक्षमाः साक्षितां शिशिररात्रयो ययुः ॥४२॥

दक्षिणेन पवनेन संभृतं प्रेक्ष्य चूतकुसुमं सपल्लवम् ।
अन्वनैषुरवधूतविग्रहास्तं दुरुत्सहवियोगमङ्गनाः ॥४३॥

४१—मर्मर शब्द करते हुए जाड़े के वस्त्रो से, अगर धूप की गन्ध से बसे हुओं से, सोने की मेखला दिखाते हुओं से, अच्छी कटि वालियों ने उस (राजा) को खोलने बाँधने में एक ठौर मन लगाए हुए को लुभाया ।

४२—निश्चिललीय के दीपकों रूपी दृष्टि लगाई हुई जाड़े की रात्रियों ने, सब भाँति बिहार के योग्यों ने, पवन रहित कोठों वाले अन्तर भवनों में उसका साक्षीपन पाया ।

४३—दक्षिन पवन की उत्पन्न की हुई आम की सपल्लव मंजरियों को देखकर मान त्यागी हुई अबलाओं ने उस दुस्सह विरह को मनाया ।

नाना-हेमन्ती-नये - परिधान, जिन्हैं ऽगरु-धूप - सुगन्धि - बसायौ ।
मर्मर-सब्द कढ़ै जिन - सौं रुचौ, स्वर्निमि-कंघनियानि - रिझायौ ।।
नीबिन - बंधन - मोचन मैं, जेहि नें अति ही अनुराग दृढ़ायौ ।
छाम-छला-सी-सुलंकवती–जुवतीन - वा - भूपै - बनाइ लुभायौ ।।४१

अन्तर - भौन के कोठनि मैं, जहाँ पौनहूँ की गति जाति है माखी ।
भाँतिन-भाँतिन के त्यौं बिनोद,–बिहारनि-जोग कहैं जिन्हैं भाखी ।
दीपक - ज्योति - सरूप - अचंचल, डारत दीठि जहाँ बनि आँखी ।
भूप-प्रियानि-मिलापनि की, सिसिरी-रतियाँ यौं भईं तहँ साखी ।।४२

दच्छिन-पौन-रसाल की डारनि, पल्लव - मंजरियानि खिलाई ।
देखि तिन्हैं किती मानवती, बनितानि दियौ निज मानैं बिहाई ।
लागीं मनाबै महीपति कौं, बहु भाँतिन सौं बिनै - बैन सुनाई ।
मैन-मरोर सौं जाके हियैं, बिरहा की बिथा अति सै अधिकाई ।।४३

४१—एक ठौर अर्थात नितम्बों में ।

४२—दीपक रूपी आँख वाली रातों ने जो विलास के लिए सब भाँति अच्छी थी उसके विलास देखे और किसी ने न देखे ।

ताः स्वमङ्कधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन्परिजनापविद्धया ।
मुक्तरज्जु निविडं भयच्छलात्कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः ॥४४॥
त पयोधरनिषिक्तचन्दनैर्मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः ।
ग्रीष्मवेषविधिभिः सिषेविरे श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः प्रियाः ॥४५॥
यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥४६॥
एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः ।
आत्मलक्षणनिवेदितानृतूनत्यवापयदनङ्गवाहितः ॥४७॥

४४—उसको अंक में लेकर दासियों के चलाए हुए झूले में झूलते हुए ने रस्सी छूटने की भय के मिस वाला बाहों का कड़ा आलिंगन पाया ।

४५—प्रियाओं ने उसको ग्रीष्म के शृंगारों से, पयोधरों में चन्दन लगे हुओं से, मोती गुथे हुए सुन्दर आभूषन वालों से, कटि पर लटकती हुई मणि जटित मेखला वालों से सेवन किया ।

४६—आम की मंजरी लगा हुआ, लाल पाटल रक्खा हुआ, आसव जो उसने पिया इससे उसका कामदेव बसन्त बीतने से छीनता को गया हुआ भी फिर नया हुआ ।

४७—इस प्रकार इन्द्रियों का सुख भोगते हुए, दूसरे काम बिसराए हुए, कामदेव के पेरे हुए, उस राजा ने अपने अपने चिन्ह दिखाने वाली प्रत्येक ऋतु भोगी ।

ऐसी प्रियानि कौं अंक मैं लै, जो हिंडोरे पै हैं सुख सौं चढ़ीं छोंहीं ।
दै बड़े झूकनि दासिन हूँ नैं, झुलायौ जबै खुलि कैं तिनकों हीं ।
ज्यौं मचकीनि सौं पैंग बढ़े, मिस-भीति त्यौंहीं प्रमदाँ ह्वै ससोंहीं ।
छाँड़ि हिंडोरे की डोरिन-गोरिन, दै भुज-बंध - गारैं - लगि सोंही ॥४४
रितु-ग्रीषम के बहु भाँति सौ साज–सिंगारनि कैं रति-रूपहि छीन्यौ ।
निज उन्नत-पीन उरोजनि पै, करि चंदन लेप-सुगन्धनि भीन्यौं ।
मुकतानि के मंजु बिभूखन सौं अपनौं अँग-अंग सजाइ सुपीन्यौं ।
मनि-मेखला-लंकनि-धारि प्रियानि-रिझायौ यौं काम-कलानि प्रबीन्यौ॥४५
आम की मंजरियान-सुबासित, लाल गुलाबनि-रंगनि-राग्यौ ।
काम-कृसानु - बढ़ावती जे, मदिरानि के सेवन में अनुराग्यौ ।
अन्त बसन्त कौ हौन लग्यौ, यहि तैं कछू-छीन भयौ भव-दाग्यौ ।
मादक-आसव-पान सौं फेरि, महीप के हीय मनोज सो जाग्यौ ॥४६
या बिधि इन्द्रिन के सुख में, किती आयु के बर्षनि-भूप-बितायौ ।
त्यौं सबै राज के काजनि कौं, परि काम-बिहारनि मैं बिसरायौ ।
लूट्यौ रितूनऽनुसार महा सुख, भूप नैं काम-कलानि-सुहायौ ।
ह्वै गयौ हाय ! कहा तैं कहा!यह बात अजान सो जानि न पायौ ॥४७

४६—आसव अर्थात् मदिरा।

तं प्रमत्तमपि न प्रभावतः शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः ।
आमयस्तु रतिरागसंभवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥४८॥

दृष्टदोषमपि तन्न साऽत्यजत्सङ्गवस्तु भिषजामनाश्रवः ।
स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणा निवार्यते ॥४९॥

तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना ।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥५०॥

४८—प्रभाव के कारण उस प्रमत्त को भी दूसरे राजा लोग जीतने को समर्थ न हुए, परन्तु रति राग से उपजे हुए रोग ने छीन कर दिया जैसे दक्ष के शाप ने चन्द्रमा को ।

४९—वैद्यों का कहना न मानने वाले उस (राजा) ने काम उद्दीपन वस्तुओं को दोष देख कर भी न त्यागा । स्वादमान विषयों के हरे हुए इन्द्रीगण का उन (विषयों) से हटना कठिन है ।

५०—पीले मुख वाली, थोड़े आभूषनों वाली, पराए सहारे से चलने वाली, हीनस्वर वाली, उसके छई रोग की छीनता कामियों की दशा के समान हुई ।

आजुलौं भूतल पै रघुबंस, प्रचंड प्रताप जग्यौ हुतौ जोई ।
याही अतंक सौं भूपति कौं कबौं, जीतन कौं समुहान्यौं न कोई ।
पै जनैं-काम कलोलिन सौं, इमि रोगनि भूपै घुरायौ घनोई ।
दच्छ के साप सौं छीन भयौ हुतौ जैसें मलीन निसाकर होई ॥४८॥

मानी न बैदन की कही बात, तथा उपचारनि मैं नहीं लाग्यौ ।
जानत हू सबै औगुन भूप, न काम-उदीपनी-बस्तु कौं त्यागौ ।
देह की इन्द्रिन कौ जग मैं, जब हीं रस लेइबे जो अनुराग्यौ ।
साँची कहौ भला ऐसौ समर्थ, भयौ कबको तजि जो तेहिं भाग्यौ ! ४९॥

कौल से वा मुख-मंडल पै, अब तौ हुती छाय रही पियराई ।
स्वल्प से भूखन धारैं लगो हुतौ, अंगनि आनि बसी दुबराई ।
सेवक कौ गहि पानि चले, स्वरमंद भयौ मुख-बोल्यौ न जाई ।
कामिन की दसा-लौं नृप के, छय-रोग भयौ तन-छीनता छाई ॥५०॥

४८—दक्ष की २० लड़की चन्द्रमा को ब्याही थीं उनमें एक रोहणी पर चन्द्रमा ने प्यार रक्खा औरों पर नहीं तब तक दक्ष ने उसे शाप दिया कि जा तुझे छई रोग होगा ।

व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव घर्मपल्वलम् ।
राज्ञि तत्कुलमभूत्क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम् ।।५१।।
बाढमेष दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने ।
इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिणः शश्वदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः ।।५२।।
स त्वनेकवनितासखोऽपि सन्पावनीमनवलोक्य संततिम् ।
वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव वायुमत्ययात् ।।५३।।
तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा ।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः संभृते शिखिनि गूढमादधुः ।।५४।।

५१—उस राजा के छई ग्रसित होने पर उसका कुल पिछली कला में गए हुए चन्द्रमा वाले आकाश समान, कीच बचे हुए ग्रीष्म के कुंड समान, छोटी लोय के दीपक समान हुआ ।

५२—"सत्य है इन दिनों राजा पुत्र जन्म के उपायों में लगा रहता है" यह उसके रोग छुपाते हुए मंत्रियों ने उपद्रव की शंकावती प्रजा से नित्य कहा ।

५३—अनेक स्त्रियों का पति होकर भी पवित्र सन्तान (का सुख) देखे बिना ही वह वैद्यों के उपायों के तिरस्कार करने वाले रोग को जीत न सका, जैसे पवन को दीपक ।

५४—मंत्रियों ने मृतक कर्म जानने वाले पुरोहित समेत इकट्ठे होकर उसको रोग शान्ति के मिस से राजभवन के उपवन ही में चुप चाप जलती हुई अग्नि में रक्खा ।

घेर्‌यौ जबै छयरोग-नरेसै, भई रघु के कुल की दसा-कैसी ?
पच्छ-अँध्यारी चतुर्दसी के, ससि की होइ छीन-कला-छबि जैसी !
पंक ही जामैं रह्यौ अवसेष, निदाघ-तलैयनि की गति वैसी ।
कैं बुझे जात प्रदीप सिखा की, सनेह-बिहीन-प्रभा लगै तैसी ।।५१।।
"इन द्यौसनि साँचेऊँ भूप नितै, सुत-कामना-कर्म मैं लागे रहैं ।"
बतियाँ इमि रोग-छिपाइबे कौं, भय-संकी-प्रजा-सन मंत्री कहैं ।
"पति ह्वै कै किती-बनितानि कौ भूप, निपूतौ रह्यौ" इमि बैन सहैं ।
नहिं बैद-निदेसनि-मान्यौं, गयौ बुझि, जा-बिधि दीपक बायु बहैं ।।५२-५३।।
आयौ पुरोहित बर्ग तबै, क्रिया-कर्म-बिधान कौ जानन्हारौ ।
त्यौं सब मंत्रिन हूँ मिलिकै, नृप-भौन के भीतर ही पगुधारौ ।
रोग-निबारन कौ मिसु कै, सब ही मिलि ऐसौ बिचार-बिचारौ ।
भौन की बाटिका में नृपै लाइकैं, गुप्त-दसा मैं सिता-धरिजारौ ।।५४।।

५१ – पिछली कला में बैठा हुआ चन्द्रमा अर्थात् बदी का चौदस चन्द्रमा ।

५३—रोग को न जीत सका अर्थात् मर गया ।

INFORMATION SERVICE OF INDIA SINGAPORE

तैः कृतप्रकृतिमुख्यसंग्रहैराशु तस्य सहधर्मचारिणी ।
साधु दृष्टशुभगर्भलक्षणा प्रत्यपद्यत नराधिपश्रियम् ।।५५।।
तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोका ।
दुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः ।
निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्झितेन ।
वंशाभिषेकविधिना शिशिरेण गर्भः ।।५६।।
तं भावार्थप्रसवसमयाकाङ्क्षिणीनां प्रजाना ।
मन्तर्गूढंक्षितिरिव नभोबीजमुष्टिं दधाना ।
मौलैः सार्धं स्थविरसचिवैर्हेमसिंहासनस्था ।
राज्ञी राज्यंविधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ।।५७।।

५५—तब तुरन्त प्रजा के मुखियों को इकट्ठा करने वाले उन (मंत्रियों) की भली भाँति गर्भ के शुभ लक्षण देखी हुई उसकी धर्म पत्नी राजलक्ष्मी को प्राप्त हुई ।

५६—राजा के इस शोक के कारण पहले तत्ते आँसुओं से तपा हुआ उसका गर्भ कनक कलसों के मुख से छूटते हुए ठंडे जल से, वंश के अभिषेक की विधि वाले ने सींचा ।

५७—जनने के समय की आकांक्षावती प्रजा के वैभव निमित जैसे सामन के बीजांकुर को पृथ्वी ऐसे उस गर्भ को कुक्षा में धारन करती हुई सोने के सिंघासन पर बैठी हुई बिना गुरू की आज्ञा वाली, रानी पुराने मंत्रियों और बूढ़े अधिकारियों सहित पति का राज विधि पूर्वक पालती रही ।

उपजाति कुंडलियाँ

मंत्रिन - तुरत - बुलाय कैं, नगर - प्रमुख - मत - लीन्ह ।
नृप - सुभ - गर्भिनि - रानिकौं, सपदि-राज-पद - दीन्ह ।।
सपदि - राज - पद - दीन्ह, भूप - बिपदा - दृगवारी ।
रह्यौ तप्त जो अधिक, रानि कौ गर्भ अगारी ।।५५।।
कनक-कलस-मुख-सलिल, ढारि सीतल तेहि कीन्ह्यौं ।
सकल-बंस-अभिषेक, सबिधि भयो भावन-भीन्ह्यौं ।।५६।।

घनाक्षरी

चाहती - प्रजा के बिभौ - हेतु - सुत - जन्म-समै,
जैसें बीज - सावन धरेई धरती भई ।
उदर-दरी मैं त्यौं ही धारैं सो नरेस-गर्भ,
कनक - सिंहासन पै सोही महिमा - मई ।
येहि बिधि रानी के कुसल - अनुसासन की,
काहू पै न कीन्हीं कबौं अबहेलना गई ।
मंत्रिन औ' बूड़े-अधिकारिन के साथ-साथ,
पाल्यौ पति-राज गहि नीतिहिं नई-नई ।।५७।।

सार

गौरि - सून - रद[1] संबत - सर द्वै, सून्य[6] - सून्य[0] - पख[2] माहीं । ※
सुभ होरिका - पर्ब, ससि - वासर, पूरन कीन्ह्यौं याहीं ।
हिन्दी - रसिक - सुजान पढ़िहैं जो, अथवा याहि पढ़ैं हैं ।
कालिदास - भारति कौ वे सब, सफल सुधा - पैंहैं ।।१।।

दोहा

मंडल - सीतापूर मैं, है महमूदाबाद ।
तहँ निबसत 'हरिनाथ' कवि, जिन कीन्ह्यौ अनुवाद ।
'श्रीनारायन' कौ समुद, तिन अनुसासन पाय ।
पूरन कीन्ह्यौं ग्रंथ कौं, लहि हर - गौरि - सहाय ।।२।।

INFORMATION SERVICE OF INDIA
SINGAPORE

THE NORTH INDIAN HINDU ASSOCIATION BHARATIYA BHAWAN
उत्तर भारतीय हिन्दू सभा
भारतीय-भवन
हिन्दी-पुस्तकालय
TEL No. 2935883
47, COFF ROAD, SINGAPORE 0820

※ 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार 'फाल्गुन पूर्णिमा, सोमवार सं० २००१ वि० होलिकोत्सव' पर यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ ।